विदिशा

लेखक
महेश्वरी दयाल खरे
निदेशक-स्मारक
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण
नई दिल्ली

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

VIDISHA by MAHESHWARI DAYAL KHARE
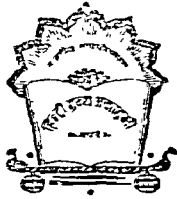
विदिशा

महेश्वरी दयाल खरे
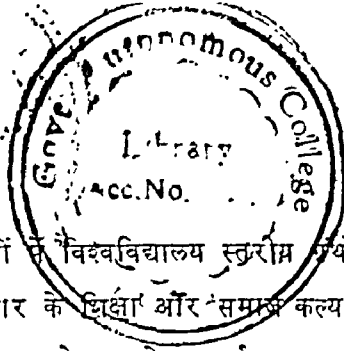
प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथों और साहित्य के निर्माण के लिए भारत-सरकार के शिक्षा और समाज कल्याण (संस्कृति विभाग) मंत्रालय की केन्द्र प्रवर्तित योजना के अंतर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1985

मूल्य : 70.00

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

मुद्रक
श्री माहेश्वरी प्रेस
भाट की गली, गोलघर,
वाराणसी–221001

वि० / प्र० / 1100 / स्ना० स्नातको० प्रा० भा० इति० / हिग्रअ 85

विषय सूची

प्रस्तावना

सामान्य परिचय

1. प्रागैतिहास 1

2. ऐतिहासिक काल 13

3. उत्खनन 67

4. उत्खनन से प्राप्त पुरावशेष 103

5. अभिलेख 125

6. धर्मोत्साह 144

7. स्मारक 162

8. कला-निधि 183

उपसंहार 225

सहायक ग्रन्थ सूची 229
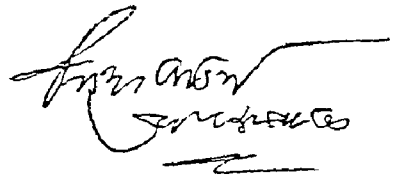
प्राक्कथन

म० प्र० हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी पिछले डेढ़ दशक से आपके बीच काम कर रही है। शिक्षा के उच्च स्तरों पर मातृभाषा हिन्दी में पढ़ने वाले छात्र और पढ़ाने वाले प्राध्यापक-गण अकादमी के काम से अपरिचित न होंगे। विज्ञान और मानविकी के लगभग 25 विषयों की तीन सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करके अकादमी ने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी भाषा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को समझने और व्यक्त करने में पूरी तरह सक्षम है। अंग्रेजी न जानने वाले बहुसंख्यक छात्रों ने इन पुस्तकों को अपना आधार बनाया है और इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ा है।

1969 ई० में अकादमी की स्थापना करते हुए केन्द्र सरकार ने संस्था से यह अपेक्षा की थी कि उच्च शिक्षा के हर स्तर पर हिन्दी-माध्यम की पुस्तकें सुलभ रहें, हिन्दी में पाठ्य-पुस्तक-लेखन की परम्परा बने तथा शिक्षा-केन्द्रों में एक ऐसी प्रक्रिया चले जो माध्यम-परिवर्तन के विचार को उसकी अन्तिम परिणतियों तक पहुँचाये। अकादमी ने अपने दायित्व को निबाहते हुए शिक्षा-केन्द्रों से जुड़े विद्वज्जनों के सहकार का दायरा बढ़ाने की लगातार कोशिश की और उसके अच्छे परिणाम निकले। अनेक प्राध्यापकों ने मूल हिन्दी में लेखन किया और कर रहे हैं तथा छात्रों ने शोध-स्तर तक हिन्दी को वैकल्पिक अपना माध्यम बनाया। ऐसे छात्रों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। इससे अकादमी का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। इस बढ़े हुए उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए संस्था प्राध्यापकों तथा शिक्षा-केन्द्रों के पुस्तकालयों से और अधिक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा रखती है। अकादमी की पुस्तकों को छात्रों तक पहुँचाने में प्राध्यापकों और पुस्तकालयों की बहुत बड़ी भूमिका है और मैं आश्वस्त हूँ कि सम्बन्धितों को अपनी भूमिका की पूरी-पूरी चेतना है। पुस्तकों का स्तर सुधारने की आवश्यकता भी मैं अनुभव करता हूँ और समझता हूँ कि छात्रों और अध्यापकों को समय-समय पर अकादमी से सीधा सम्पर्क करके पुस्तकों के गुण-दोष की समीक्षा करनी चाहिये।

आपके हाथों में यह पुस्तक सौंपते हुए मैं आशा करता हूँ कि इससे आपकी एक आवश्यकता पूरी होगी।

मंत्री, उच्च शिक्षा, म० प्र० एवं अध्यक्ष
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

प्रस्तावना

महापुरुष जन्म लेते हैं, उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करते हैं और दिवंगत हो जाते हैं। विशाल साम्राज्यों की नींव पड़ती है, विस्तृत होते हैं और विनष्ट हो जाते हैं। महानगरों का निर्माण होता है, समृद्धशाली होते हैं और भूत के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। केवल प्रकृति ही निरन्तर क्रियाशील रहती है, जिसका अनुपम उपहार मनुष्य है, जो सामाजिक प्राणी तो है ही, स्वयं में पूर्वकालीन संस्कारों तथा मनुष्य जाति की सम्पूर्ण गतिविधियों के संचित अनुभव के साथ उत्पन्न होता है। इन्हीं गतिविधियों का परिष्कृत तथा समन्वित रूप संस्कृति है, जो मनुष्य तथा परिस्थितियों से विसर्जित होते हुए भी उन्हें अभिसंस्कृत व परिवर्तित करने में समर्थ होती है। सम्भवतः यही कारण है कि डेविड हेम्बुर्ग, जो स्टेन फॉर्ड विश्वविद्यालय, कैलीफोर्निया के चिकित्सा केन्द्र में मनोविकृति विज्ञान के प्रोफेसर हैं, व्यक्त करते हैं कि आदि मानव का सर्वश्रेष्ठ पुरावशेष आधुनिक मनुष्य है।

विदिशा के राजनैतिक इतिहास के उत्थान, विस्तार तथा अवनति की कुछ ऐसी ही कहानी है, जो लगभग एक सहस्र वर्षों से भी अधिक सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्राचीन ऐतिहासिक रंगमंच पर हुए अभियानों में अपना विशिष्ट महत्व रखती है। किन्तु सांस्कृतिक माला में इसने जो अगणित चिरसुरभित पुष्प पिरोये हैं, वे राजनैतिक महत्व के प्रारम्भ से भी पूर्व पल्लवित होकर वर्तमान समय तक वातावरण को सुगन्धित ही नहीं कर रहे हैं, अपरंच मानव समाज को अभिसंस्कृत करने में समर्थ हो रहे हैं। यहाँ की धार्मिक परम्पराएँ, कला व अनेक पुरावशेष भावी सन्तति के लिए स्मृति-चिह्न तो हैं ही, मानव की उस उदात्त पारमार्थिक व अलौकिक प्रेरणा के अविरल स्रोत भी हैं, जिसके माध्यम से मृत्युलोक स्वर्ग हो जाता है, संघर्षपूर्ण जीवन शान्त हो जाता है और प्रगति पथ निर्भ्रांत और सुलभ हो जाता है। भौतिक समृद्धि तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष का जितना युक्तिसंगत समन्वय यहाँ विद्यमान है, अन्यत्र दुर्लभ है।

श्रेष्ठतम निदर्शन भी मौलिक के निदान अनुकल्प कहे जाते हैं। अतः पाठकों को विदिशा के सांस्कृतिक अवशेष स्वयं देखने को प्रेरित करने का यहाँ प्रयास किया गया है। इसी में इसकी सार्थकता है क्योंकि इतिहासकार, पुरातत्वज्ञ, धर्ममर्मज्ञ तथा लेखक की सीमित क्षमताएँ होती हैं, जिसकी परिधि को वह लाँघने में स्वयं को असमर्थ पाता है। मेरे गुरु डा० गिरीशचन्द्र पाण्डे ने 'सांस्कृतिक भूमिका के स्वरूप और प्रक्रिया' में लिखा है, कि कोई भी ईमानदार इतिहासकार यह नहीं सोच सकता कि उसके निरूपण में तर्क पद्धति की अनिवार्यता या कि कला-सुलभ एक निराली और सूक्ष्मतर अतर्क्य प्रणाली है। मानव अतीत के उलझे और खण्डित ब्यौरे में बुद्धि को पराजित करनेवाली अहैतुकता की एक प्रतीति दुर्निवार है।

स्वतन्त्रता पूर्व का रचित इतिहास. राजवंशावलियों, उनकी तिथियों तथा सम्राटों की गतिविधियों के निर्णय का ही अधिकांशतया अनिर्णय हुआ करता था। यह सत्य है कि इनका भी अपना एक महत्व है, जो भारतीय इतिहास का आवश्यक पृष्ठ है, किन्तु इसमें सामान्य जनजीवन सम्बन्धी पक्षों पर यथोचित प्रकाश का सर्वथा अभाव रहा है। इसमें भी सन्देह नही कि प्राचीन साहित्य समकालीन जीवन का प्रतिविम्ब है, किन्तु वह प्रतिविम्व ही है, उसका यथार्थ रूप नहीं। उसमें समसामयिक जीवन के मौलिक रूप का अन्वेषण अस्वाभाविक है, क्योंकि साहित्य व्यक्ति विशेष की कृति नहीं, अनुकृति होती है। साहित्यकार की दृष्टि, उसकी भावनाएँ, उसकी कल्पनाएँ, उसके अनुभव, उसका व्यक्तित्व तथा इन सबकी अभिव्यक्ति, उसकी स्वयं की क्षमता का प्रतिफल है।

पुरातात्विक उत्खनन की उपलब्धियाँ ही सामूहिक यथार्थता से घनिष्ठतम परिचय स्थापित करने मे समर्थ होती है। भव्य प्रासादों की नींव सम्राट ने नही, जनसमुदाय के नगण्यकर्ताओं ने डाली है, जिसमें कार्यरत लोगों के खाने-पीने के भाण्ड, उनके द्वारा प्रयुक्त चाकू, उनके जेब से गिरे सिक्के आज भी उनकी दैनिक स्थिति से अवगत कराते हैं। राजप्रासाद कितना ही विशाल हो, प्रत्येक राजधानी में एक ही होता था, शेष नगर में विभिन्न श्रेणियों के लोग निवास करते थे। इनके भग्नावशेष स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते है, किन्तु इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण इनके निवास संचय में विलुप्त नित्यप्रति के प्रयोग की सामग्री है जिसमें मृद्‌भाण्ड, पशु-पक्षियों की हड्डियाँ, मृण्मूर्तियाँ, मनके, चूड़ियाँ, सिलवट्टे, तौलने के बाँट, चौपड़ के पाँसे, शतरंज के मुहरे, लोहे, चांदी, ताँबे आदि की अनेक वस्तुएँ, वस्त्रालंकृत करने के अवयव इत्यादि जो सहस्रों वर्षों के उपरान्त भी आज यथावत् हैं।

इन वस्तुओं के निर्माता उद्योग की दृष्टि से इनका निर्माण करते थे, किन्तु इनमें भी निर्माताओं का व्यक्तित्व जीवित है। इन कृतियों में सहजता है, उपयोगिता है, विविधता है, प्रचुरता है तथा स्वच्छन्दता है, जो कवि के सन्तुलित शब्द विन्यास और छन्दों के सदृश सीमित नही है, चित्रकार के रंग, रेखा और रूप की बन्दी नही है, मूर्तिकार के शास्त्रीय नियमों और लक्षणों से शासित नहीं है, नृत्यकार और संगीतज्ञ की मुद्रा और लय तथा ध्वनि मे निर्देशित नही है। परिष्कृत कलाओं की अभिव्यक्तियों में परिवर्तन की तीव्र गतिता है, जबकि दैनिक जीवन की प्रयुक्त सामग्री सदियों तक अपरिवर्तित रहती है। घट का वही रूप, चाकू का वही प्रयोग, खिलौनों और मनकों का वही उपयोग निर्माताओं और प्रयोगकर्ताओं के लिए समान है, इसीलिए वह विशिष्ट तथा सामान्य जन के निरन्तर सामीप्य में है और आज भी उसका उत्खनन और अध्ययन उपयोगी है।

जैसा पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक सीमित परिधि होती है, पुरातत्वज्ञ उसके परे नही है। उसके विवरण में इतिहास पक्ष दमित सा प्रतीत होता है और कला पक्ष के प्रति कुछ उदासीनता का भास भी हो सकता है। किन्तु

पुरातात्विक पक्ष में उसका ममत्व स्पष्ट दर्शित होता है। इसका कारण है—वह परिचित से अपरिचित की खोज में इतना तल्लीन रहता है कि शनैः शनैः उत्खनन करते हुए जब उसे एक ठीकरा ही हस्तगत होता है, तो वह उसके रूप को, रंग को, अलंकार को, प्रयोग को, यहाँ तक कि उसमें प्रयुक्त मिट्टी, उसके संघटक तथा उसे भट्ठी में पकाई जाने की शैली को भी, निहारता हुआ, समझता हुआ उससे तादात्म्य कर लेता है और उस पर यदाकदा, अनायास ही अंकित भाण्डागार के अँगूठे और उँगलियों के चिह्नों को देखकर भाण्डाकार से साक्षात्कार करते-करते स्वयं ही खो जाता है। भूत के गर्भ में समाये ऐसे अवयवों की, यदि किसी सहायक की असावधानी से किंचितमात्र क्षति होती दर्शित होती है तो पुरातत्वज्ञ इस ममता के आवेश में उस सहायक के हाथ को क्षत करने को तत्पर हो उठता है, क्योंकि वह स्वयं भी एक दक्ष शल्य चिकित्सक के सदृश, उसी के (चिकित्सक के) परित्यक्त शल्य शस्त्रों तथा नरम कूचियों द्वारा अतीव सावधानी से अवशेष विशेष को अनावृत करता है। उसके अनेक मासों के निरंतर अध्यवसाय से अपरिचित, परिचित, स्वप्न, सत्य और मृत सजीव हो जाता है। इस प्रकार पुरातत्वज्ञ भूत के भय से निर्भूत होकर अतीत को वर्तमान की सेवार्थ प्रस्तुत करने में समर्थ होता है।

इन पुरावशेषों में उनके निर्माताओं की भाषा, भाव, व्यक्तित्व, सफलतायें, असफलतायें आदि सभी पुंजीभूत हैं। इनसे विदित होता है कि ऐसे निर्माता के मस्तिष्क में स्वरचित एक सीमित सृष्टि है, जो कष्टदायी होने पर भी, सुख की भावी कल्पना से आवृत है, अंधकारमय होते हुये भी प्रकाश की संभावित किरणों की निरन्तर प्रतीक्षा में है, अश्रुओं के महासागर में विलुप्त होते हुये भी उल्लास की तरंगों में तरंगित हो सकने की पूर्वकल्पना में है, निराशाओं के शव्द को आशा की एक क्षीण तीली से ध्वंस कर सकने की अनहोनी आकांक्षा में है।

अभी तक पुरातात्विक उत्खननों का विवरण प्रायः अंग्रेजी में किया गया है, जिनमें अवशेषों की नवीनता तथा प्रचुरता के कारण सामान्य पाठक उनके सूक्ष्मतम तथा ज्यामितिक ब्योरे से शुष्कता अनुभव कर सकता है। ऐसे विवरण की एक अन्य विशेषता तथ्यों की पुनरावृत्ति भी है। केन्द्रीय पुरातत्व सर्वेक्षण, केन्द्रीय संभाग की ओर से मैंने 1963-65 में विदिशा में उत्खनन किया था। इन पृष्ठों में, जो अनेक स्थानों पर तथ्यों की पुनरावृत्ति पर आश्रित हैं, मैंने उत्खनन से उपलब्ध सामग्री को यथावत प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिसे समझने के लिये ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा कला के विभिन्न अवयवों की रूपरेखा भी दी है। यदि इससे पाठकों को कुछ लाभ होता है तो मैं यही समझूंगा कि :

नशे से है काम साकी, मय से कुछ परवा नहीं।
तू पिला दे चाहे अपने हाथ से पानी मुझे॥

भोपाल
11-11-1973

महेश्वरी दयाल खरे

आभार

सर्व प्रथम प्राचीन विदिशा के सभी ज्ञात और अज्ञात कलाकारों, स्थापतियों, धनाढ्यों तथा निवासियों के प्रति मैं सहृदय आभार प्रकट करता हूँ, जिनके प्रयास व अध्यवसाय ने मुझे अपने सांस्कृतिक अवशेषों को अनावृत करने के लिये प्रेरित किया। तत्पश्चात् उन सभी विद्वानों का ऋणी हूँ, जिन्हें मैंने यहाँ उद्धृत किया है।

हिन्दी ग्रंथ अकादमी के संचालक ने मुझे यह मोनोग्राफ लिखने का अवसर दिया, यह मेरा सौभाग्य है और मैं विनम्रतापूर्वक उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। महानिदेशक भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने यह लिखने की अनुमति प्रदान करके मुझे कृतार्थ किया है।

विदिशा उत्खनन में केन्द्रीय संविभाग की ओर से जिन्होंने मुझे विभिन्न प्रकार की सहायता देकर अनुगृहीत किया है, वे हैं : सर्वश्री चन्द्रभूषण त्रिवेदी, (अब उप-अधीक्षक पुरातत्वज्ञ) बल्लभनारायण, सी० कृष्णा, अनन्त पाटंकर, अयोध्याप्रसाद, भास्कर व्यास, नाइकेल, शरीफ बेग तथा टोकनदास। तत्कालीन अधीक्षक पुरातत्वज्ञ (स्वर्गीय) एन० वेंकट रमैया के मार्ग दर्शन के बिना उत्खनन कार्य असम्भव था।

तत्कालीन जिलाध्यक्ष श्री बनर्जी तथा पुलिस अध्यक्ष श्री बीरमती भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने मुझे उत्खनन के समय यथोचित साधन प्रदान किये।

मंदिर सर्वेक्षण योजना (उत्तर) के सर्वश्री बिहारीलाल भार्गव, रघुराजकिशोर, अमोलीलाल वर्मा, एल० पी० धाकर, मूलचन्द अटक तथा हरीकृष्ण मालिक ने इस पुस्तक के लिये अनेक रेखांकन व छायाचित्र बनाकर मुझे आभारी कर दिया है।

इस कार्य सम्बन्धी सन्दर्भ एकत्रित करने तथा उन्हें विधिवत व तर्क संगत रूप देने का मुख्य श्रेय कुमारी बल्जीत कौर गिल को है। उनके इस योगदान के लिये मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा।

सामान्य परिचय

□

अक्षांश 23°·32 उत्तर, देशान्तर 77°·88 पूर्व में स्थित प्राचीन विदिशा नगर के भग्नावशेष विदिशा-अशोक नगर मार्ग पर आधुनिक विदिशा (भेलसा) से तीन किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में है। वेत्रवती[1] तथा वेस[2] नदियों के संगम पर बसे हुये इस नगर की बड़ी ही रमणीक व आदर्श स्थिति है, जिसके पूर्व तथा दक्षिण में बेतवा और उत्तर दिशा में बेस नदी प्राकृतिक सीमा बनाकर उसकी रक्षा करती है। पश्चिम की ओर जहाँ कोई नदी नहीं है, प्राचीन समय में किलाबन्दी हेतु एक सुरक्षा दीवाल बना दी गई थी, जिसका दिग्-विन्यास उत्तर-दक्षिण में है। इस दुर्ग-प्राचीर (प्राकार) को अगम्य बनाने के लिये, उसके बाहरी ओर एक गहरी खाई (परिखा) का आयोजन था (चित्र 1)।

विदिशा मध्यप्रदेश के सम्पन्न जिलों में गिना जाता है। इसके उत्तर में गुना, पूर्व में सागर, दक्षिण में रायसेन तथा पश्चिम मे राजगढ़ जिले हैं। यह देहली-बम्बई लाइन पर सेन्ट्रल रेलवे का एक स्टेशन है, जहाँ पर सभी गाड़ियाँ रुकती हैं। यहाँ से भोपाल, इन्दौर, अशोकनगर, गुना, सागर, खजुराहो आदि शहरो को बसें जाती हैं। जिले का हेडक्वार्टर होने के कारण यहाँ पर एक विश्राम भवन और एक विश्राम गृह भी हैं। दस किलोमीटर की दूरी पर उत्तर-पश्चिम मे साँची है (रेखाचित्र 1) जहाँ विश्राम भवन, विश्राम गृह तथा पर्यटक भवन के अतिरिक्त एक बौद्ध धर्मशाला है, जिसका प्रबन्ध श्रीलंका के बौद्ध भिक्षु करते हैं। उदयगिरि की गुफायें, हेलियोदोरस स्तम्भ, विजय मंदिर (मस्जिद), लोहांगी पहाड़ी आदि प्राचीन स्मारकों को देखने के लिए देश-विदेश से पर्यटक आते रहते हैं। लगभग पचास वर्ष पूर्व किये गये पुरातात्विक उत्खनन से उपलब्ध सामग्री को एक संग्रहालय में रखा गया है, जो मध्य प्रदेश सरकार द्वारा संचालित है। किसी अन्य प्रकार की सुविधा न होने के कारण पर्यटक ताँगों का प्रयोग करते हैं, जो एक बार में ही सभी दर्शनीय स्थलों का यथोचित दाम लेकर भ्रमण करा देते हैं।

---

1. मार्कण्डेय पुराण, अ० 57, वायुपुराण, अ० 45; ब्रह्माण्डपुराण, अ० 49, 28-42.
2. मार्कण्डेय, वायु, ब्रह्माण्ड, कूर्म, वामन और स्कन्द पुराणों में वर्णित वेदशा नदी की पहिचान डॉ० सरकार तथा अवध बिहारीलाल अवस्थी ने वेस नदी से की है।

वर्तमान विदिशा मे उदयगिरि की गुफाओं को जाते समय प्राचीन नगर के उत्तर-पश्चिम में कुछ झोपड़ियाँ बनी हैं, जिन्हें बेस ग्राम कहा जाता है। इसके दूसरी ओर गणेश-पुरा है। कुछ ही वर्ष पूर्व, इसी मार्ग पर पुरातत्वीय निषिद्ध क्षेत्र में गत्ता बनाने वाला एक कारखाना बन गया है।

विदिशा का ऐतिहासिक महत्व ईसा पूर्व की अनेक शताब्दियों पूर्व स्थापित हो चुका था।[1] प्रारम्भ काल से ही यह एक विशाल व्यापारिक केन्द्र रहा है, जहाँ से भारत-वर्ष में विविध दिशाओं को मार्ग जाते थे। सम्भवत: इसी कारण इसे वि + दिशा (विदिशा) कहा जाने लगा।[2] पाटलिपुत्र से उज्जैन तथा श्रावस्ती से प्रतिष्ठान को जाने वाले मार्ग यहाँ से निकलते थे।[3] पाटलिपुत्र, जो विदिशा से 50 योजन की दूरी पर था,[4] कौशाम्बी, हस्तिनापुर, उज्जैन आदि जैसे उस युग के प्रसिद्ध व समृद्धिशाली नगरों में इसकी गणना थी तथा यहाँ भी समकालीन प्रथानुसार दुर्ग प्राचीर की व्यवस्था थी।

अति प्राचीन काल मे यहाँ वैष्णव धर्म प्रचलित रहा है। यह स्मरणीय है कि विष्णु के सहस्र नामों में विदिशा भी एक है।[5] वैदिक साहित्य में विदिशा का नाम नही मिलता, यद्यपि संहिता तथा ब्राह्मण में एक-एक बार "वि–दिश" पाया गया है, जो "मध्यस्थ प्रदेश" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वरुण के प्रासाद की अनेक सरिताओं में वर्णित विदिशा नदी भी है, जो बेस अथवा वेत्रवती हो सकती है। अत: विदिशा का नाम-करण उपर्युक्त अनेक कारणों के आधार पर किया गया प्रतीत होता है, जिनमें विष्णु की व्यापकता है, वि दिश की मध्यस्थता है, वेत्रवती की नमनीयता तथा बेस नदी की प्रवाहिता है।

इस नगर का वर्णन पालि ग्रंथो, रामायण, महाभारत, पुराणों तथा लोकवार्ताओं में वेस्सनगर, बेसनगर, वैश्यनगर, विश्वनगर, विदिशा, वैदिसा, बेदसा आदि विभिन्न नामों

---

1. सर जान मार्शल; साँची, ग्रंथ 1, पृ० 2.
2. डॉ० प्रभूदयाल अग्निहोत्री ने मुझे यह अर्थ बतलाया था, जिनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ।
3. सुत्तनिपात (पाली टेक्स्ट सोसायटी, 1913) पृ० 194 के अनुसार :
   (अ) अश्मक देश में गोदावरी तट से मगध मे वैशाली को पतित्थान (प्रतिष्ठान), महिस्सति (महिष्मति), उज्जैनी, गोनाद्द, वेदिसा तथा तुम्बवन (तुमैन) को मार्ग जाता था।
   (ब) समत पासादिका, अध्याय 1, प्रकरण 70, "उज्जैनिय गच्छन्तो वेदिस नगरंपत्वी"।
4. महाबोधिवंश 98; देखिये, रेप्सन, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, ग्रन्थ 1, पृ० 466.
5. अनन्तरूपोऽनन्त श्रीजित मन्युर्भयापहः।
   चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः॥
   —विष्णु सहस्रनाम, 100.

से मिलता है।[1] कहीं-कहीं इसे दशार्ण नदी (धसान) के क्षेत्र में होने के कारण "दशार्ण" भी कहा गया है।[2] पालि साहित्य में वेस्सनगर तथा चैत्यगिरि (साँची पहाड़ी) को एक ही माना है। ब्राह्मणवादी धार्मिक प्रथाओं में इसका "वद्रवथ्थी" नाम प्रचलित रहा, जिसका साम्य युवनाश्व के नाम से किया गया है। युवनाश्व ने युधिष्ठिर को यज्ञार्थ एक अश्व उपलब्ध किया था। जैन ग्रंथों में इसे दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ का जन्म-स्थान मानते हैं। स्थानीय लोगों की यह धारणा है कि श्री रामचंद्र ने यहाँ अपने वनवास का कुछ समय व्यतीत किया था। वेत्रवती के तट पर स्थित एक मंदिर के निकट उनके चरण बने हुए बतलाये जाते हैं, जिसके कारण यह स्थल 'चरण-तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। एक परम्परा के अनुसार वेसनगर का सम्बन्ध राजा रुकमनगढ़ से जोड़ा गया है, जिसने 'विश्व' नामक अप्सरा के कारण अपनी पत्नी का तिरस्कार किया था; और तभी से उस अप्सरा के नाम पर यह विश्वनगर कहलाने लगा। जनपद काल में यह अवन्ति का एक समृद्धि-शाली नगर हो चुका था, जिससे सिद्ध होता है कि इसकी स्थापना जनपद काल के बहुत पूर्व हो चुकी थी।

प्राचीन विदिशा नगर दो किलोमीटर की लम्बाई तथा लगभग 1250 मीटर की चौड़ाई में बसा हुआ था। परकोटे के भीतर की परिधि लगभग सात किलोमीटर थी। इसके दुर्ग प्राचीर की वर्तमान ऊँचाई दस मीटर है और उत्तर-पश्चिम दिशा में पन्द्रह मीटर ऊँची एक बुर्ज अभी तक सुरक्षित है। परकोटे के भीतर उपर्युक्त ग्रामों तथा कार-

---

1. निम्नलिखित ग्रंथों में विदिशा का वर्णन है :
   रामायण, उत्तरकाण्ड, छंद 121.
   महाभारत, आदि पर्व, वानपर्व, द्रोणपर्व, कर्णपर्व, उद्योगपर्व, भीष्मपर्व।
   गरुड़पुराण, मार्कण्डेय पुराण, स्कन्द पुराण।
   महाबोधिवंश, दीपवंश, सामन्त पसादिका, मालविकाग्निमित्र, मेघदूत तथा बाणभट्ट रचित कादम्बरी।
2. रामायण, किष्किन्धाकाण्ड।
   महाभारत, कर्णपर्व, द्रोणपर्व।
   विष्णुपुराण—2, 160; ब्रह्माण्ड पु० अध्याय 49, वायु पु० अध्याय 45, मत्स्य पु०, अ० 14, मार्कण्डेय पु०, अ० 57 तथा वामन पु०, अध्याय 13.
   महावस्तु तथा ललित विस्तर।
   देखिये, कनिंघम, ए०; भिलसा टोप्स, पृ० 95.
   कालिदास; मेघदूत (पूर्वमेघ)–26.
   "तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
   गत्वा सद्यः फलम विकलम् कामुकत्वस्य लब्धा।
   तीरोपान्तस्तनित सुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
   सभ्रूभंग मुखमिव पयोवेत्रवत्याश्चलोर्मि॥

स्थाने के अतिरिक्त चारों ओर जंगल है, जिसके बीच में अनेक ऊँचे टीले हैं। यह सम्पूर्ण क्षेत्र 416 से 420 मीटर ऊँचाई पर है, किन्तु प्राचीन समय में यह समतल रहा होगा क्योंकि बारंबार बाढ़ से तथा सड़कों के निर्माण के कारण चारों ओर टीले दिखाई देने लगे हैं।

भौगोलिक स्थिति

किसी भी देश का इतिहास उसकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है। मनुष्य जिस वातावरण में पलता है तथा जिस जलवायु का सेवन करता है उसी के अनुसार उसका तन, स्वभाव तथा क्रियायें होती हैं। डॉ० एलेक्सिस कैरेल का कथन है कि मनुष्य शब्दशः पृथ्वी की धूल से निर्मित है। उसके नाड़ी संस्थान ननत रूप से ब्रह्माण्डीय विश्व के संपर्क में रहते हैं।[1] जैसा कि मैंने अन्यत्र लिखा है, आत्मा शरीर से, शरीर क्रियाओं से, कोष विन्दु अपने माध्यम से, एकता अनेकता से अथवा विचारों को विचार करने की क्रियाओं से कभी पृथक नहीं किया जा सकता।[2] अतः स्वाभाविक है कि मनुष्य को अपने जन्मस्थान से ममत्व हो जाता है तथा वही उसकी मातृभूमि कहलाने लगता है। कोई आश्चर्य नहीं कि आर्यों ने वैदिक काल मे ही मातृभूमि के प्रति सद्भावनाओं के उद्‌गार प्रकट किये हैं।[3]

भारतवर्ष के तीन भौगोलिक भाग हैं—उत्तर का पहाड़ी प्रदेश, उत्तर का मैदान तथा विन्ध्य पर्वत माला से नीचे का समस्त भाग। उत्तरी मैदान के चार विभाजन किये जा सकते हैं, जिनमें एक भाग विन्ध्य पर्वत से निकलकर उत्तर की ओर गंगा और यमुना में मिलने वाली नदियों – चम्बल (चर्मवति) सिंध, वेत्रवती, धसान (दशार्ण), केन (शुक्तिमति) और सोन का मैदान है। मध्य प्रदेश के इस उर्वर क्षेत्र में विदिशा मण्डल है, जो मालवा प्रक्षेत्र का एक वशिष्ठ अंग रहा है। यहाँ पर प्रतिवर्ष लगभग सौ सेंटीमीटर वर्षा होती है। किन्तु ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक गर्मी तथा शीत ऋतु में अधिक सरदी पड़ती है। किन्तु ग्रीष्म ऋतु में मालवा की रातें (शबे-मालवा) अत्यन्त सुखदायी होती हैं।

भूगोल, जलवायु तथा मानवीय भावों से पूर्ण परिचित कालिदास ने भी लिखा है :

पाण्डुच्छायोपवनवृतय. केतकैः सूचिभिन्नै
नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्या सन्न परिणतफल श्यामजम्बूवनान्ताः
सपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायि हंसादशार्णाः॥

—मेघदूत (पूर्व मेघ) 25.

---

1. डॉ० एलेक्सिस कैरेल; मैन द अननोन, पृ० 72.
2. खरे, महेश्वरी दयाल: शाप की गुफायें।
3. अग्रवाल, वासुदेव शरण; नागरी प्रचारिणी पत्रिका. संवत 2000, पृ० 49 पर पृथ्वीसूक्त का अत्यन्त मार्मिक विवेचन।

(हे मेघ ! जब तुम दशार्ण देश (पश्चिमी मालवा) के पास पहुँचोगे तब फूले हुए केवड़ों के कारण वहाँ के फूले हुये उपवनों की बाड़ उजली दिखाई देगी, गाँव के मन्दिर, पक्षियों के घोसलों से भरे होंगे, वहाँ के जंगल, पकी हुई काली जामुनों से लदे मिलेंगे और हंस भी वहाँ पर कुछ दिनों के लिए आ बसे होंगे।)

मध्य प्रदेश की स्थलाकृतिक विशेषतायें (topographical features) जो अभिनूतन युग (Pleistocene Epoch) में थीं, लगभग आज भी वैसी ही हैं। भारतीय उप-प्रायद्वीप में कहीं भी पाये जाने वाले उस युग के पशु यहाँ भी रहते थे, किन्तु जलवायु के कारण सिवालीक पहाड़ियों की तरह इस क्षेत्र में उनके अस्थिपंजर अधिक सुरक्षित नही रह सके। भाग्यवश नर्मदा के मैदान में अनेक स्थानों पर पशुओं के जीवाश्म प्राप्त हो चुके हैं (यहाँ एक स्मरणीय रहे कि बेतवा तथा नर्मदा घाटियों में केवल सौ किलोमीटर की ही दूरी है)। इस संस्तर को नर्मदा का प्राचीन कछार कहते है, जिसमें पाये गये प्राणिसमूह मध्य अभिनूतन युग से सम्बद्ध किये जा सकते हैं, जो योरप की द्वितीय अंतर्हिमानी अवस्था (II Interglacial stage) तथा प्रारम्भिक पुरापाषाण सभ्यता (अबूलियन चीलियन) के समकालीन मानी गई है। इस संस्तर की विकिरणमापीय अवधि (Radió-metric date) आज से 670,000 वर्ष पूर्व की अनुमानी गई है।

इस प्रदेश में जो अपृष्ठवंशी[1] पशु पाये जाते हैं, उनका जीवित रूपों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। रीढ़ीदार पशुओं में से केवल एकश्रृंगीय गेण्डा (Rhinoceros unicornis) ही जीवित हैं, किन्तु वह मध्यप्रदेश में नहीं पाया जाता। दरियाई घोड़ा आजकल अफ्रीका में मिलता है। यद्यपि मध्यप्रदेश में पुरापाषाण शस्त्र बहुतायत से प्राप्त होते हैं, अभी तक मानव अथवा उसके पूर्वज के कोई जीवाश्म उपलब्ध नहीं हो सके। यहाँ पर जो भी मानव रहता था वह "पिथेकेन्थ्रोपस इरेक्टस", तथा कथित "जावा मनुष्य" तथा "सिनन्थ्रोपस पेकिनेन्सिस" अथवा "पेकिंग मनुष्य" का समकालीन था।

भूवैज्ञानिक दृष्टि से यह क्षेत्र बुंदेलखण्ड के उस मैदान के अन्तर्गत आता है, जिसमें अनेक खड़े पहाड़ तथा शबल चट्टानों का विचित्र समूह विद्यमान है। दक्षिण के विस्तृत लावा स्तर के विपरीत इस भूमि के उत्तर तथा उत्तर पूर्व में यमुना, पश्चिम में चम्बल

---

1. निम्नलिखित प्राणि-समूह उल्लेखनीय हैं :

अपृष्ठवंशीय	(Invertebrata)–Lamellibranchiata :— Unio corrugatus, Unio indicus, Uniomarginalis, Corbiculla aff. striatella.
Gastropoda :	Melania tuberculaea, Viviparus-bengalensis & dissimilis, Bythinia cerameopoma & vulchella, Bulimusinsularis, Lymnaea acuminata, Planorbis exustus & compressus.

तथा पूर्व में छोटा नागपुर के स्थलीप्राय हैं। इस खण्डित जंगली क्षेत्र की नींव तथा निम्न भाग प्रायः कणाश्म (gramite) के आदि-निर्माण हैं, जो खड़े बालुकाश्म (Sandstone) के टुकड़ों तथा असिताश्म (basall) से घिरे हुए हैं। इनमें पट्टिताश्म निर्माण का मिश्रण है, जो प्रायः छोटी धारियों से लेकर वृहद दीवालों वाले स्फुटिकाश्म तटबंध (quartzite dykes) से कटे हुये होते हैं। इन्हीं तटबन्धों से प्राप्त सामग्री से पाषाणयुगीन शस्त्र बनाये जाते थे। इस पठार का ढलान उत्तर दिशा में है तथा दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत की शृंखलाये है। इन पहाड़ियों से अनेक धाराये बहती हैं, जिनमें से वेत्रवती (वेतवा) नदी सबसे बड़ी है, जिसका मानवी तथा ऐतिहासिक महत्व है। भोपाल के उद्गम से प्रायः उत्तर पूर्व में विदिशा के निकट से बहती हुई झाँसी जिले की ललितपुर तहसील के दक्षिण पश्चिम कोने से उत्तर प्रदेश में प्रवेश करती है, जहाँ वह 190 मील का विस्तार तय करती हुई हमीरपुर के पास यमुना में विलीन हो जाती है। गहरी तंग घाटियों तथा दर्रों के कारण यह नदी नैनार्य नहीं है और इसे पार करना संकटापूर्ण है। तटबन्धों के सँकरे होने के कारण पानी के बहाव में बाधा उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप प्राकृतिक बाँध से बन गये तथा भारी वर्षा ने यहाँ की भूमि को और भी उर्वर बना दिया।

विदिशा जिले[1] का लगभग सम्पूर्ण क्षेत्र दक्षिण सोपानाश्म (Deccan Trap) के असिताश्मीय लावा वहाव से आच्छादित है और कुछ भाग, विशेपतया नदी घाटियों में जलोढ़ का विस्तार है। जिले के पूर्वी भाग में कणाश्म तथा स्फटिकाश्म की धारी (vein) की आद्यकल्प रचना (Archaen rock) का एक अंश अभिदर्शित है।

☐

1. जियोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया के डाइरेक्टर श्री डी० वी० घोष के सौजन्य से यह विवरण प्राप्त हुआ है। लेखक उनको हार्दिक आभार प्रदर्शित करता है।

1

प्रागैतिहास

☐

प्रागैतिहास के पूर्व सृष्टि की क्या अवस्था थी, इस पर संक्षेप में विचार कर लेना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि प्रागैतिहास तथा भू-विज्ञान का अत्यन्त अटूट सम्बन्ध है।

यदि ब्रह्माण्ड की आयु चौबीस घण्टे मान ली जाये तो उसमें मनुष्य का जन्म केवल आधे सेकंड पूर्व ही हुआ था। भू-विज्ञान के अनुसार[1] सृष्टि का जन्म लगभग पाँच से दस अरब वर्ष पूर्व हुआ था, जिसके पश्चात सौरमण्डल, पाँच से छ: तथा पृथ्वी चार से पाँच अरब वर्ष पूर्व प्रकट हुये थे। कैंब्रियन युग के प्रारम्भ में डेढ़ अरब वर्ष पूर्व से जीवाश्म प्राप्त होने लगते हैं। गैसीय अम्बार के करोड़ों बार सम्पीड़ित होने पर सितारों का जन्म हुआ, किन्तु रासायनिक तत्वो को प्रकट होने में पाँच मिन्टि से आधे घण्टे का समय लगा होगा, ऐसा अनुमाना गया है। विश्व निर्माण के विषय में दो मत है। "विकासवादी सिद्धान्त" (Evolutionary theory) के अनुयाइयों का विचार है कि समस्त पदार्थ सात से नौ अरब वर्ष पूर्व एक स्थान पर केन्द्रित रहे होंगे, किन्तु "स्थिर अवस्था सृष्टि मत" (Steady state universe theory) है कि इसका न प्रारम्भ है और न अंत, क्योंकि विश्व के पदार्थ कभी नष्ट नहीं होते, केवल उनके रूप में परिवर्तन होता है।

पृथ्वी के क्रोड़ की भौतिक स्थिति का भी अभी तक किसी को पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है, यद्यपि इसके सतह पर वे सभी आवश्यक तत्व विद्यमान है जो विश्व में पाये जाते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि इसका बाह्य क्रोड तरल है तथा आंतरिक क्रोड ठोस। इसी प्रकार सूर्य की ऊपरी सतह का तापमान 6000° सेण्टीग्रेड है व उसके केन्द्र का लगभग बीस

---

1. स्टोक्स, विलियम ली; एसेसियल्स आफ अर्थ हिस्ट्री, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु हिस्टारिकल जियोलाजी, 1960.

करोड़ डिग्री सेंटीग्रेड है। किन्तु यह निश्चित है कि गत दो अरब वर्षो में सूर्य में कोई परिवर्तन नहीं आया है तथा 3,33,000 पृथ्वियों के बराबर उसमें पदार्थ विद्यमान हैं। यह बात भी जानने योग्य है कि जब से पृथ्वी पर जीव जन्मा, वर्ष तथा ऋतुओं में कोई अंतर नहीं आया।

प्रकृति के ध्वंसात्मक प्रकोपों से आदि मानव ने किस प्रकार स्वयं की रक्षा की इसके प्रमाण उसके निर्मित प्रस्तर युगीन शस्त्रों से तो प्राप्त होते ही हैं, उसके द्वारा चित्रित शैल गुहाओं में भी उपलब्ध हैं। पत्थर, हाथी दाँत, मिट्टी इत्यादि की बनी आदि माँ की मूर्तियाँ प्रस्तर युगीन मानव पर प्रकृति के ध्वंसात्मक एवं रचनात्मक प्रभावों की प्रतीक हैं। यदि पुरापाषाण शस्त्र कला का प्रथम चरण है तो निश्चय ही गुफाओं में चित्रित अथवा उपर्युक्त निर्मित आकृतियाँ उसका द्वितीय चरण हैं।

जल, उदर-पोषण तथा प्राण-रक्षा आदि-मानव की तीन आवश्यकतायें थीं। सरिता का जल, उसके तट पर बिखरे रोड़े अथवा स्फटिक तथा निकटवर्ती जंगल में पशु-समुदाय उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते थे। किन्तु महाकाय पशुओं के आखेट के लिये एकाकी नहीं, सामूहिक रूप में रहना नितांत आवश्यक हो गया था। सामूहिक जीवन के फलस्वरूप जादू-टोने का प्रारम्भ हुआ, जिसे धर्म का आद्यरूप कहा जा सकता है। आखेट में सफलता प्राप्त होने पर मृत पशु की अंशतः आहुति ही नहीं दी जाती थी, अपितु वे लोग नाच व गाने से उत्सव भी मनाते थे। यदि वृद्ध व्यक्ति शक्ति क्षीण होने के कारण पाषाण शस्त्र बनाते थे, तो स्त्रियाँ बच्चों की देखभाल के अतिरिक्त जंगल से कंद-मूल एकत्रित करती थीं।

भारतवर्ष में उत्तर और दक्षिण से प्राप्त पूर्व-पाषाण युगीन शस्त्रों की दो पृथक् शैलियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः सोहन और मद्रास इण्डस्ट्री के नाम दिये गये हैं। तदनुसार इनकी मुख्य विशेषतायें 'चावर-चापिंग' और 'हैंड-एक्स' (हस्त-कुल्हाड़ी) नामक शस्त्र हैं। इन दोनों शैलियों का सुगम सगम मध्य भारत में हुआ है क्योंकि यह दलुआ पत्थर का क्षेत्र होते हुए भी यहाँ राजपूताने एवं गुजरात के बिल्लोर के तथा दक्षिण के सोपानाश्म के उपकरण मिलते है। इस युग के कुछ वृहत्काय पशु जलवायु के परिवर्तनानुसार क्रमशः विलीन होते गये हैं। उनके जीवाश्म यदा-कदा नदियों के तट से उपलब्ध हुये हैं। नरसिंहपुर जिले के भूतरा नामक स्थान से प्राप्त स्तनि-वर्ग के जीवाश्म इसी शृंखला में आते हैं।[1]

समयानुसार पाषाण उपकरणों के प्रकार में आधिक्य किन्तु रूप में सूक्ष्मता आती गई। एक से अनेक तथा अनेक से पुनः एक होना ही पाषाण काल की गतिविधि का रहस्य कहा जा सकता है। मध्य पाषाण युग के उपरान्त, शस्त्रों की प्रयोगविधि में भी कुछ अंतर आ गया। जहाँ पहिले एक या दो बड़े उपकरणों से काम लिया जाता था वहाँ अब अनवरत चेष्टा और अनुभव के फलस्वरूप अनेक छोटे-छोटे उपकरणों (माइक्रोलिथ्स) को

---

1. लाल, बी० बी०, आर्क्योलॉजी इन इण्डिया, 1950, पृ० 18.

एकत्रित करके एक हथियार बनाया जाने लगा। ये सूक्ष्मास्त्र नुकीले तथा तीक्ष्ण धार वाले बनाये जाते थे तथा इन्हें किसी लकड़ी अथवा हड्डी में फँसा कर हँसिया, चाकू या बाणाग्र में प्रयुक्त किया जाता था। इस विधि से इस युग के व्यक्तियों को हिंसक पशुओं के अधिक निकट पहुँचने की आवश्यकता नहीं रही, तथा उनके मांस व चमड़े को काटने तथा छीलने में भी अपेक्षाकृत अधिक सुविधा होने लगी।

नव-पाषाण युग में जीवनयापन और भी अधिक सहज हो गया। लोग गुफाओं और कन्दराओं से निकल कर अब चौरस भूमि पर झोंपड़ी बनाकर छोटे-छोटे गाँवों में बसने लगे। यद्यपि पाषाण शस्त्रों का प्रयोग होता रहा, किन्तु अब रोड़े अथवा स्फटिकाश्म के स्थान पर असिताश्म या कणाश्म के ओपदार उपकरण प्रयुक्त किये जाने लगे, जिनमें हस्त-कुल्हाण, छेनी, कुदाल आदि मुख्य थे। इस युग में पशुपालन तथा कृषि के कारण सामाजिक जीवन सुगठित हो गया, धर्म की नींव पड़ने लगी, तथा भांडे बर्तनों पर चित्रकारी भी की जाने लगी। पालतू जानवर रखे जाने लगे तथा खेती का प्रारम्भ इसी युग में हुआ।

उत्तर पाषाण काल के उपकरण पूर्व काल से बिलकुल भिन्न शैली के होते थे। वे पूर्व पाषाण-काल में स्फटिकाश्म (क्वार्टजाइट) के होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुभव करते-करते उस युग के लोगों को इन पत्थरों की उपयोगिता का भास हो गया था।

स्फटिक (क्वार्ट्ज) धातु सभी धातुओं से दृढ़ मानी जाती है जिसका संयोग (कम्पाउण्ड) क्वार्टजाइट है। इसी प्रकार सूक्ष्मास्त्रों के लिये प्रयुक्त पत्थर गोमेद (एगेट), कपिशमणि (जेस्पर) आदि भी बहुत दृढ़ होते हैं। गोमेद निरन्तर प्रयोग से भी इतना कम क्षीण होता है कि वैज्ञानिक रासायनिक तुला (केमिकल बैलैंस) में उसे लगाते हैं। पत्थरों की शक्ति का ज्ञान उत्तर पाषाणकाल में विशेष लाभदायक हुआ। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस काल के उपकरण कणाश्म (ग्रेनाइट) या असिताश्म (बेसाल्ट) के बनाये जाते थे। कणाश्म की शक्ति का अनुमान इसी बात से लग सकता है कि दृढ़ फौलाद (स्टील) को काटने के लिये आजकल उद्योगशालाओं में इसी पत्थर के 'टिप टूल' बनाये जाते हैं। इन दोनों पत्थरों के बनाये गये शस्त्रों को ओपदार बनाने का मुख्य कारण यही था कि उनमें अत्यधिक दृढ़ता आ जाती थी।

विदिशा तथा उसके आस-पास के जिले यमुना नदी के अपवाह क्षेत्र में आते हैं जो नर्मदा घाटी से अधिक दूर नहीं हैं। यमुना तथा नर्मदा क्षेत्र के प्रागैतिहासिक वातावरण तथा उसकी सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए, यह आदर्श स्थान है।

यद्यपि विदिशा जिले से प्राप्त प्रागैतिहासिक उपकरणों अथवा उनकी स्थिति के विषय में समुचित अध्ययन नहीं हुआ है, किन्तु इसके निकटवर्ती क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में जो अन्वेषण व उत्खनन हुये हैं, उनसे यहाँ के प्रागैतिहासिक जीवन पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय जिले हैं, राजगढ़, गुना, रायसैन, सागर,

झाँसी (उत्तरप्रदेश) तथा दमोह। वेतवा घाटी तथा उसकी सहायक नदियों के निकटवर्ती क्षेत्रों से प्राप्त सामग्री विदिशा क्षेत्र के उपकरणों से साम्यता रखती है। अतः उनका संक्षिप्त विवरण अनिवार्य है।

झाँसी जिले की ललितपुर तहसील में वेतवा की सहायक शाहजाद नदी के[1] अन्वेषण से सीरीज एक तथा सीरीज दो के उपकरण उपलब्ध हो चुके हैं। इसके बाँये तट पर स्थित राजघाट से, जो ललितपुर से 20 किलोमीटर की दूरी पर है, एक नवपाषाण उपकरण प्राप्त हुआ था। यहाँ से एक अपूर्ण कुल्हाड़ी तथा अनेक का सिताश्म (डोलेराइट) रोड़े भी मिले थे, जिनसे अनुमाना जा सकता है कि यह उपकरण बनाने की एक उद्योगशाला रही होगी।[1] ललितपुर से पूर्वपापाणकालीन हस्त कुल्हाड़ तथा विदारणी एक दृढ़ वजरी (सीमेंटेड-ग्रेवेल) से एकत्र किये गये थे।

इसी प्रकार के उपकरण वेतवा के तट से किरवई[2] नामक स्थान पर विखरे पाये गये, जिनमें अनेक "पेवेल टूल", गँडासा (चापर), हस्तकुल्हाड़ (हस्तपरशु) तथा विदारिन थे। भूरे वालुकाश्म के रोड़ों के उपकरण प्रायः लोड़ित थे, किन्तु लाल वालुकाश्म के हस्तकुल्हाड़ तथा विदारिणी नई अवस्था में थे। मण्डी वमोरा रेलवे स्टेशन से तीन चार किलोमीटर पर कोठा से ऐसे ही उपकरण मिले हैं। मुंगावली रेलवे स्टेशन से तीन किलोमीटर पर गोची (जिला गुना) से नदी तट पर "सीरीज दो" के उपकरण विखरे देखे गये। वेतवा के वाम तट पर एक 'सेक्शन' कटा हुआ है, जिसमें तीस सेंटीमीटर गाद के नीचे उपकरण पूर्ण वजरी दृष्टिगोचर है।

ग्यारसपुर (विदिशा) के पास करोटन नदी के सहायक नाले से पुरा-पाषाण युगीन उपकरण मिले हैं।[3] रायसेन के किले के समीप से भी हस्तकुल्हाड़, विदारिणी आदि एक उद्योगशाला से एकत्रित किये गये।

गुना, सागर और विदिशा जिलों में वेतवा तथा उसकी सहायक नदियों व वसान की घाटियों में किये गये अन्वेपण[4] का फल भी इस सम्बन्ध में लाभदायक हुआ। वीना नदी के एक सेक्शन में सबसे नीचे 1·5 मीटर की रेतीली गाद (Sardy Silt), 2·4 मीटर का रोड़ेदार ग्रेवेल तथा 8·1 मी० की पीली गोंद देखी गई। रोड़ेदार ग्रेवेल में से ग्यारह तथा नदी के सूखे स्तर से चालीस उपकरण एकत्रित किये गये, जिनमें हृत्पर्ण दुधारे (cordiform biafaces), शल्कों पर वने "साइड और एण्ड" क्षुरक, वेधनी, चक्रिक उपकरण, 'साइड स्क्रेपर्स' और डिस्क उल्लेखनीय हैं। इनके आकार तथा सामग्री को देखने से प्रतीत होता है कि ये 'सीरीज दो' के उपकरणों से साम्यता रखते है।

---

1. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1959–60 ए रिव्यू, पृ० 21-22 तथा 46.
2. वही, पृ० 22.
3. वही, पृ० 71.
4. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1960–61–ए रिव्यू, पृ० 13.

ललितपुर में क्षेत्रपाल मंदिर के एक वजरी संचय (gravel deposit) से 'सीरीज एक' के पचास उपकरण मिले, जिनमें से पन्द्रह अपने मौलिक स्थान पर थे। शहजाद नदी का सहायक वीना-नाला है—जिसमें लगभग 200 अचूलियन हस्तकुल्हाड़ व विदारिणी मिले। बुड़वार, वरोद तथा धौरी से भी 'सीरीज एक' के अनेक उपकरण उपलब्ध हुये। धसान नदी तल से सिहोरा, घाट सेमरा और हसरई नामक स्थानों पर "सीरीज दो" के उपकरण पाये गये। गोची में वेतवा की संश्लेषित वजरी (cemented-gravel) से एक अग्रचवर्णक जीवाश्म भी प्राप्त हुआ। ललितपुर के आस पास वेतवा की कगारों में जहाँ पूर्व, मध्य व उत्तर पाषाण कालीन शस्त्र मिले हैं, उनमें नया गाँव, परोंदा तथा राजघाट भी हैं।[1] ललितपुर में डा० क्लाउस ब्रूहन ने सीरीज एक व दो के उपकरण देखे थे।[2] इसके उपरान्त अनेक विद्वानो ने इस क्षेत्र का अन्वेषण किया था। चूंकि वेतवा भारतवर्ष की प्राचीन व महत्वपूर्ण नदी है, तथा प्रागैतिहासिक युग की संस्कृति में इसका विशेष योगदान रहा है, अतः डा० जोशी ने पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से उत्खनन किये थे, जिसका विवरण निम्न लिखित है।[3]

शहजाद नदी के सहायक वीना नाले में मिलने वाली एक अन्य सहायक नदी के सिरे पर स्थित है, जिसके बाँये तट के खेतों में अनेक उपकरण बिखरे पड़े देखे गये थे। काली मिट्टी के ऊपर अथवा उसमें दवे हुये पूर्ण तथा अपूर्ण अनेक उपकरण मिले, जो प्रायः बुन्देलखंड ग्रेनाइट के बने हुए थे, तथा जिनमें गुलावी स्फटिकाश्म व वालुकाश्म के शारीरिक गुण विद्यमान हैं। स्फटिकाश्म, बालुकाश्म व स्फटिक के निर्मित उपकरणों के साथ अनेक क्रोड भी इनमें हैं। 381 मीटर के कंटूर पर यह स्थान है। यहाँ कगार का विस्तार भी अधिक है, जिसमें स्फटिकाश्म व ग्रेनाइट (कणाश्म) के रोड़े पाये जाते हैं। इस कगार का पश्चिमी ढलान वेतवा की ओर है, जिसमें स्फटिकाश्म के निर्मित उपकरणों का आधिक्य है, जब कि पूर्वी ढलान पर ग्रेनाइट के उपकरण सामान्य रूप से हैं। बुन्देलखण्ड ग्रेनाइट यहाँ की स्थानीय भूवैज्ञानिक निर्मिति है। वियाना नाला के तट पर दुरजनपुर ग्राम के निकट सैकड़ों सूक्ष्मास्त्र फैले पड़े हैं। इस नाले के दाहिने तट पर दो मीटर वर्ग के एक गढ़े में उत्खनन किया गया था जिसमें निम्न लिखित अनुक्रम था :

1. 70 से० मी० की गहराई पर तलशिला
2. ठोस लाल पीली मिट्टी, जिसमें सूक्ष्मास्त्र थे,
3. कुछ कम ठोस-लाल भूरी मिट्टी, सूक्ष्मास्त्रों सहित,
4. कुछ शिथिल लाल धरणिक मिट्टी, सबसे ऊपर।

ये सूक्ष्मास्त्र अधिकांशतया सिक्थस्फटिक व गोमेद के बने थे, जिनमें यदा-कदा मणिभ स्फटिक भी प्रयुक्त हुआ है। इनमें अज्यामितीय शैली के छोटे फलक, क्रोड, क्षुरक तथा वेधनी की बहुतायत थी।

---

1. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1963-64, ए रिव्यू, पृ० 49.
2. वही, 1956-57, ए रिव्यू, पृ० 79.
3. वही, 1963-64, ए रिव्यू, पृ० 49–51.

विदिशा जिले के ग्यारसपुर गाँव में डाक बंगले और स्तूप के मध्य जो मैदान है, उसमें प्रागैतिहासिक शस्त्रों की उद्योगशाला मिली[1], जिसकी खोज लेखक ने डा० जोशी के साथ की थी। विदिशा स्थित टीले नामक क्षेत्र से भी 1963–64 के उत्खनन के समय लेखक तथा उसके सहयोगियों ने अनेक हस्तकुठार तथा विदारिणी एकत्र किये थे। साँची-रायसेन मार्ग पर जो पर्वत शृंखलायें है तथा जिनमें चित्रित शैलाश्रय हैं, उनके चरणों में भी अनेक पूर्व पाषाणकालीन उपकरण लेखक द्वारा एकत्र किये जा चुके हैं।

विदिशा मण्डल में केवल पूर्व, मध्य तथा उत्तर पाषाण युगीन उपकरण ही उपलब्ध नहीं हुये हैं, वरन् अनेक चित्रित शैलाश्रय भी हैं, जिनमें साँची, रामछज्जा, खरबई आदि के चित्र उल्लेखनीय है।

मध्य प्रदेश में जितने चित्रित शैलाश्रय मिले है, सम्भवतः इतने विश्व के किसी क्षेत्र में नही पाये गये। मध्यप्रदेश के अतिरिक्त फ्रांस व स्पेन ही एक ऐसे देश हैं जहाँ इस प्रकार के चित्र उपलब्ध हुए है। यहाँ की क्रो-मान्यों (Crow-Magnon) कला, जो कि 70 स्थानों में पाई गई है, 28,000 से 10,000 ईसा पूर्व की अनुमानी गई है। क्रो-मान्यों (Crow-Magnon) कलाकार के विषय में कहा जाता है कि वह पशुओं को बड़े ध्यान से देखता था। यही कारण है कि उसकी प्रागैतिहासिक चित्रकारी इतनी उच्च श्रेणी की है। उसकी चित्रकारी तथा नक्काशी को देखने से स्पष्ट होता है कि उसका आध्यात्मिक जीवन से अतीव घनिष्ठ सम्बन्ध था। हावेल के अनुसार दोर्दोन्य (Dordogne) में दो प्रकार की गुफाये थीं।[2]

प्रथम श्रेणी का नाम "राक ओवर हैंग्स" दिया गया है। यह लगभग खुली हुई होती थीं, जहाँ से घाटी की ओर देखा जा सकता था। इन्हे निवास के योग्य बनाने के लिए इनके सामने एक पत्थर की दीवाल बना दी जाती थी, जिससे शीतल वायु तथा हिम को भीतर आने से रोका जा सकता था। इन गुफाओ में उसके आवास संचय प्राप्त हुये हैं। इन गुफाओं में कोई चित्र नहीं है। दूसरी प्रकार की गुफाओं का नाम "वास्तविक गुफाये" (true caves) दिया गया है। ये पहाड़ की दरारों में गहरी और लम्बी होती थी जिनमें बड़ी-बड़ी वीथियाँ तथा रास्ते होते थे, तथा जहाँ भूमिगत कुण्ड तथा नदियाँ हुआ करती थीं। ये गुफाये अंधकारपूर्ण तथा रहस्यमयी होती थी। इनमें प्रवेश करने के लिए चरबी भरे हुए पत्थर के दीपक अथवा मशालों का प्रयोग करना पड़ता था। हावेल का विचार है कि ये गुफायें पूजागृह का काम देती थी, क्योंकि इनमें न तो निवास करना सभव था और न ही वहाँ किसी के रहने के प्रमाण विद्यमान है। अबी हेनरी ब्रांयल तथा जे० मैरिजर ने इस कला का गहन अध्ययन करने के उपरान्त जो मत प्रकट किया है वह यहाँ उद्धरणीय है,—"इस कला से, ऐसे (रहस्यमय तथा अंधकारपूर्ण) स्थानों पर, दर्शकों को आनन्द प्राप्त होता था, सर्वथा असम्भव है। इनका उद्देश्य तो इसे रहस्य (Secrecy) प्रदान करना था।"

1. वही, पृ० 41.
2. लाइफ नेचर लाइब्रेरी, अर्ली मैन, होवेल, एफ०, क्लार्क, पृ० 147.

जहाँ एक ही स्थान पर चित्रों की अनेक परतें हैं, उन्हें "लकी स्पाट्स" (भाग्यशाली स्थल) समझा गया होगा, क्योंकि ऐसे स्थलों पर चित्रित पशुओं के आखेट में उन्हें सफलता प्राप्त होती होगी। जिन पशुओं पर विजय पाने में वह असमर्थ होते होंगे, संभवतः यहाँ उनके चित्र बनाने पर वह भी आहत कर लिये जाते होंगे। कुछ चित्र ऐसे भी बनाये जाते थे जिनका मुँह पशु का होता था तथा शरीर आदमी का। कुछ विद्वानों के अनुसार ऐसे चित्र आखेट देवता के थे। किन्तु कतिपय विद्वान् इन्हें आदिम शमन समझते हैं। एक अन्य मत के अनुसार इन्हें अतिमानवीय अथवा पशुओं का देवता कहा गया है।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि आदि मानव प्रकृति के विध्वंसात्मक रूपों से आश्चर्यचकित ही नहीं होता था, वरन् उनसे प्रेरणा भी लेता था, तथा भय को दूर करने के लिए जादू टोने का आश्रय लेता था। मनोविज्ञान के प्रोफेसर डेविड हम्बर्ग का कथन है कि जब मनुष्य भयभीत होता है अथवा युद्ध करता या भागता है, तो उसके शरीर में 'एड्रेलीन' नामक रस का उत्पादन होता है। ऐसे अवसर पर यह आवश्यक नहीं कि वह अकर्मण्य हो जाय। अपितु आपत्तिकाल में उसकी प्रतिक्रिया स्वयं की रक्षा करने में सहायक होती है, क्योंकि शरीर के अन्य जितने साधन हैं उनसे अनवरत प्रयास करने की शक्ति प्राप्त होने लगती है। ऐसी अवस्था में वह आहत पशु के आक्रमण से ही नही बचता, अपरंच भयंकर से भयंकर पशुओं को आहत करने में भी समर्थ होता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रागैतिहासिक चित्रकारी रहस्यमयी भावनाओं से प्रेरित रही है। किसी अपरिचित केन्द्र से अथवा अनेक भिन्न-भिन्न केन्द्रों से प्रारम्भ हुई ये प्रेरणायें, शनैः शनैः सारे संसार पर छा गई।[2]

भारतीय चित्रित शैलाश्रयों के विषय है, मनुष्यों तथा पशु-आकृतियों की पंक्तियाँ, पशु-मुख तथा मनुष्य शरीर जादुई रथ, मृत्यु देवता, स्वस्तिक, त्रिशूल, चक्र, वेदी तथा वृक्ष। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी चित्रित गुफाओं में प्रागैतिहासिक मनुष्य रहते थे, क्योंकि इनके आस-पास ही नही वरन् इनके भीतर पाषाण कालीन उपकरण उत्खनन द्वारा प्राप्त हुये हैं। इस सम्बन्ध में आदमगढ़[3] (होशंगाबाद) तथा भीमबेठका[4] (रायसेन) के पुरातात्विक

1. "स्टेस बाइलाजी" के अध्ययन में इस प्रकार की परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं का विवरण मिलता है।
2. स्पियरिंग, एच० जी०; द चाइल्डहुड आफ आर्ट, पृ० 2.
3. (अ) जोशी, आर० व्ही, तथा खरे, एम०डी०, एक्शकेशन्स एट ए पैलियोलिथिक साइट आन द आदमगढ़ हिल नियर होशंगाबाद (एम० पी०) (प्रोसीडिंग्स आफ द 49 सेसन आफ द इण्डियन साइंस कांग्रेस, 1962).
   (ब) इण्डियन आर्क्योलॉजी 1960-61, ए रिव्यू, पृ० 13.
   (स) देखिये, लाल बी०बी०; आर्क्योलॉजी इन इण्डिया-मिनिस्ट्री आफ एज्यूकेशन डिपार्ट० आफ आर्केलॉजी, 1952, पृ० 47.
4. श्री वाकणकर का मैं अनुग्रहीत हूँ, जिन्होंने यहाँ के चित्रों तथा उत्खनन के विषय में मुझे सूचना दी।

उत्खनन विशेष उल्लेखनीय हैं। भीमबेठका समूह में 600 से भी अधिक शैलाश्रय मिल चुके हैं, जिनमें एक विषादयुक्त युवती का चित्र बहुत ही हृदयस्पर्शी है।

प्रागैतिहासिक उपकरणों के अतिरिक्त इन शैलाश्रयों से अन्य कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है, जैसे कि यूरोप में मृत व्यक्ति की खोपड़ी[1], दाँत आदि के प्रयोग करने के प्रमाण मिलते है। आशा है कि रायसेन जिले के शैलाश्रय समूह से, जो विदिशा के सान्निध्य में है, तथा जो प्रागैतिहासिक युग में लगभग एक ही था, आदि मानव के जीवाश्म निकट भविष्य में उपलब्ध हो सकेंगे।

सिंहलपुर (मिर्जापुर) राक पेंटिंग्स के विषय में सी० डब्लू० एंडरसन ने जो विचार प्रकट किये हैं, वे इस क्षेत्र के चित्रों के लिये भी उपयुक्त होते हैं। "प्रागैतिहासिक मनुष्य की कला का विकास उसके उद्योग से हुआ है तथा उसका सम्बन्ध (अ) भोजन सामग्री तथा (ब) धर्म से था, जिसमें गणचिन्ह-विश्वास, नृत्य जैसे अनेक प्रकार के कर्मकांड सन्निहित हैं। (ब) तथा (अ) निश्चित रूप से अभिन्न हो चुके हैं, जिनका परिणाम प्रतीकवाद है।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विदिशा तथा उसके आस-पास का क्षेत्र प्रागैतिहासिक युग से ही मनुष्य के लिए आकर्षक रहा है, जिसका श्रेय सरिता वेत्रवती तवा विंध्य शृंखलाओं को है। किरवई, ग्यारसपुर तथा टीला के अतिरिक्त केथूरी[2], कोठा[3], कुरवई[4], खिजूरी, गमाकर, गोंडवासा[5], पग्नेसर[6] आदि स्थानों से, जिनमें से अनेक स्थान बेतवा नदी के तट पर हैं, पूर्व पाषाण-कालीन उपकरण प्राप्त हुये हैं। मध्य पाषाण-कालीन (सीरीज दो) केवल ग्यारसपुर[7] तथा टीला (बेसनगर) से ही एकत्रित किये जा सके हैं।

उत्तर तथा नवीन पाषाण-कालीन उपकरण यहाँ से बहुत कम प्राप्त हुये हैं। ग्यारसपुर पहाड़ी के ऊपर, मालादेवी मंदिर के सामीप्य से कुछ सूक्ष्मास्त्र लेखक ने स्वयं एकत्र किये थे। प्रो० कृष्णदत्त वाजपेई को विदिशा से एक नवीन पाषाण शस्त्र प्राप्त हुआ था।

ताम्र पाषाण संस्कृति के भी अवशेष यहाँ उपलब्ध हुये है, जिनका विवरण उत्खनन अध्याय में किया जायेगा। अब पाषाण शस्त्रों के रूप तथा प्रकार पर कुछ दृष्टिपात किया जाय।

प्रागैतिहासिक शस्त्रों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

---

1. मेरिंजर, जे०; गोड्स आफ प्री-हिस्टारिक मैन.
2. इण्डियन आर्क्योलॉजी 58-59 ए रिव्यू, पृ० 26.
3. वही, 59-60, ए रिव्यू, पृ० 22.
4. वही, 58-59, ए रिव्यू, पृ० 26.
5. वही, 58-59, ए रिव्यू, पृ० 22.
6. वही, 58-59, ए रिव्यू, पृ० 26.
7. वही, 63-64, ए रिव्यू, पृ० 89.

दो प्रकार के उपकरणों में पहली प्रकार के कुछ घिसे हुये तथा अपरिष्कृत हैं तथा दूसरे, देखने में नये हैं और पहले की अपेक्षा अच्छी कारीगरी के हैं। प्रथम प्रकार को अबीहिलियन से पूर्व अच्यूलियन तथा दूसरी प्रकार के मध्य अशूलियन तकनीक के हैं। रोड़ों पर बनी हुई हस्तकुल्हाड़ियों की भी घिसी हुई अवस्था से स्पष्ट है कि वे पूर्व पाषाण काल के प्रारम्भ में बनाये गये थे।

पूर्व पाषाण कालीन हस्तकुल्हाड़ियों की, जो रोड़ों के क्रोड पर हैं, विशेषता है कि उनके किनारों पर मोटी शल्कन की गई है, किन्तु जो सम्पूर्ण उपकरण पर नहीं है। फलस्वरूप रोड़ों के मौलिक रूप के अवशेष उपकरणों के ऊपर देखे जा सकते हैं। रोड़ों के शल्कों पर बनी कुल्हाड़ियाँ प्रायः इकमुँही (unifacial) हैं, तथा इनका नीचे का भाग शल्क का मौलिक रूप लिये रहता देखा गया है। विदारिणी भी प्रायः शल्कों पर बनी हुई हैं, जिनमें से अधिकांश में थोड़ी-सी लोढ़ित प्रतीत होती हैं। वैसे तो विदारिणियों के चार-पाँच प्रकार हैं किन्तु समानान्तर भुजाओं वाली विदारिणियों का यहाँ आधिक्य है।

मध्य पाषाण युगीन उपकरण बहुत ही कम स्थानों से प्राप्त हुये हैं। इनमें प्रायः शल्कों के ऊपर बनाये गये उपकरण अधिक हैं, जो यदा-कदा फलकों तथा ग्रंथिलों के उपकरण में देखे गये हैं। इन उपकरणों के प्रयोग विशेष के विषय में निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है, क्योंकि एक उपकरण एक से अधिक प्रयोग में भी लाया जा सकता था, तथा अनेक उपकरणों का एक प्रयोग सम्भव था। यद्यपि यूरोप के अशूलियन तथा लेव्हेलोइसियन श्रेणी में भी फलक के उपकरण विद्यमान हैं, प्रायः उन्हें उत्तर पाषाणयुगीन संकलन में माना गया है। पूर्व ग्रिक्वलैण्ड (अफ्रीका) की स्मिथफील्ड–ए इण्डस्ट्री को उत्तर पाषाण युग का माना गया है, जिसमें अनेक क्षुरकों, शल्कफलकों के अतिरिक्त पूर्व पाषाण युगीन घिसे हुये उपकरण भी हैं। इनकी सर्वोपरि विशेषता लघु उपकरणों का आधिक्य है। अतः उपकरणों के तकनीकी प्रकार के आधार पर इस क्षेत्र से पाये गये छोटे उपकरण अफ्रीका के उत्तर-मध्य पाषाण तथा उत्तर पाषाण युग के और यूरोप के उत्तर पाषाण युगीन उपकरणों के समान कहे जा सकते हैं।

पूर्व पाषाणयुगीन उपकरणों का समय लगभग पाँच लाख ई० पू० निर्धारित किया गया है। ये अवशेष मध्य और उत्तर पाषाण युग के शस्त्रों की अपेक्षा निर्माण कौशल की प्रारम्भिक अवस्था के द्योतक हैं। भारतवर्ष में ऐसे अवशेष मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, गुजरात, जयपुर, बूंदी, इंदरगढ, पश्चिमी पंजाब, काश्मीर, उड़ीसा तथा बिहार में मिलते हैं। नर्मदा घाटी में तथा उसके उत्तर के भू-भाग में ये प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। इस काल के अश्व, महिष, सीधी खीसों वाले हाथी और समुद्री घोड़ों के शिलाभूत अवशेष मिले हैं, जो सभी स्तनपायी हैं। अब तक की शोधों में इस काल के मानवों की अस्थियों के अलावा वनस्पतियों के अवशेष कहीं भी नहीं मिले हैं। केवल अतिरमपक्कम में एक अस्थि-खण्ड मिला है, जिसे मनुष्य के पैर की अस्थि कहा जाता है, और वह भी संदेहास्पद है।

मध्य पाषाण युग की विशेषतायें हैं छोटे तथा सुघटित उपकरणों का प्रयोग, अवशेषों में मिट्टी के बर्तनों की अनुपस्थिति और उत्तर पाषाण युग की ओर प्रवृत्ति। मनुष्य की खाद्य-उत्पादन की पूर्वतम कालसीमा 7000 ई० पू० मानी जाती है,[1] जो मध्य पाषाण युग की उत्तर सीमा हो सकती है। भारतवर्ष में अनेक स्थानों से ये उपकरण एकत्रित किये गये हैं।[2] तिनेवल्ली, आंध्रप्रदेश, गुजरात, काठियावाड़, छोटा नागपुर, कच्छ, पंजाब, नर्मदा घाटी तथा विन्ध्याचल के क्षेत्रों में,[3] कुछ स्थानों के अतिरिक्त ये बहुधा धरती के ऊपरी स्तर पर मिले हैं।

इस युग के मानवों के अस्थि अवशेषों में नीग्रो नृवंशों के लक्षण पाये जाते हैं, जो उत्तर-पूर्व अफ्रीका के निवासियों तथा प्राचीन मिस्रियों के सजातीय अनुमाने गये हैं। इनके भोजन का मूल साधन गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, भेड़, बकरी, चूहे, मछली तथा मगर की मृगया थी। मानव अस्थि अवशेष जिस स्थिति में मिले हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि उनकी अन्त्येष्टि की गई है। ये लोग बहुत प्राचीन काल से ही संगीत नृत्य में प्रवीण थे। प्रागैतिहासिक युग के अन्तिम चरण तक अनेक मान्यतायें मनुष्य के जीवन का अंग बन चुकी थीं, जिनकी अभिव्यक्ति ऐतिहासिक युग में शनैः शनैः परिष्कृत होती गई। देश-विदेश के अनेक कला-मर्मज्ञों के विचारों को[4] समन्वित करते हुये हरिहर निवास द्विवेदी ने इस युग के मानव के योगदान के विषय में लिखा है[5] कि उनका सम्बन्ध आगे की पीढ़ियों से अत्यन्त घनिष्ठ हो गया था और वे उनकी संस्कृति में घुलमिल उठे थे, यह बाघ और अजन्ता के भित्ति चित्रों से प्रकट है। उनका यह सम्बन्ध पीछे आने वाले नृवंशों से अत्यन्त समीप का एवं चिरजीवी रहा है, तथा उपर्युक्त भित्ति चित्रों की उपलब्धि के अनुसार बौद्ध साधकों को भी इनकी नृत्य-कला, काले रंग को विस्मृत कर देने वाली इस नृवंश की ललनाओं की भावभंगिमा इतना अदम्य आकर्षण रही कि निर्वाण प्राप्ति का यह अपरिहार्य रूप से पदविक्षेपनीय सोपान बन गई और उनकी नृत्य मुद्रा में साधना-स्थलों के चित्रांकन का अभिप्राय (motive) बन गई। इनके पीछे आग्नेय व द्रविण आये, अतः

---

1 लाल बी० बी०; आर्क्योलॉजी इन इण्डिया, पृ० 17.

2. गोर्डन, डी० एच०, मैन, 38 (फरवरी 1938), संख्या 19, पृ० 21–24.

3. जर्नल आफ द रायल ऐंथ्रोपॉलोजीकल इंस्टीट्यूट आफ द ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, 69 (1939), पृ० 270 पर के० आर० यू० टाड; पैलियोलिथिक इंडस्ट्रीज आफ बॉम्बे. एच० डी० संकालिया; इन्वेस्टीगेशंस इनटू प्रिहिस्टारिक आर्क्योलॉजी इन गुजरात (बड़ौदा 1946) : जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, लेटर्स, कलकत्ता, 7, पृ० 129 पर गार्डन; डीटेरा और पैटर्सन, स्टडीज इन द आइस एज इन इण्डिया एण्ड एसोसियेटेड ह्यूमन कल्चर्स (वाशिंगटन, 1939) पृ० 313; एच० डी० संकालिया–महेश्वर एण्ड नवदा टौली।

4. रीड, हर्बर्ट सायर्स, बर्नार्ड एस०, राफायल, कुमारस्वामी आदि।

5. मध्यभारत का इतिहास, पृ० 51–53.

इनका अंशदान पहचान में आने योग्य रूप में बच सकना संभव भी नहीं था। फिर भी परवर्ती नृवंशों के जीवन में होते हुये इनके सांस्कृतिक तत्वों के रूप में वट पूजा हमें प्राप्त हुई, जो हिन्दुओं का विशाल अक्षयवट बनी और बौद्धों का बोधि वृक्ष। यहीं से कदाचित पीपल, बिल्वपत्र, तुलसी आदि का देवत्व प्रारम्भ होता है। उर्वरता के लिये की जाने वाली पूजा भी इनसे मिली और प्रेत तथा इन्हें दण्ड देने वाले राक्षस से रक्षित प्रेत मार्ग की कल्पना इनसे मिली हो, यह सम्भावना है। इन प्रेतमार्ग की भावना की तुलना वैदिक आर्यो के यम के मार्ग के रक्षक (पथिरक्षी) प्राणों के प्यासे (असुतृप्पा) यमदूतों से की जा सकती है।[1] ऋग्वेद में इन यमदूतों को सारमेय (कुत्ता) कहा गया है।[2] वह इस काल की मानव समाधियों में प्राप्त कुत्ते की अस्थियों की मूल भावना का विकृत रूप हो, यह सम्भव है। भाषा के क्षेत्र में बुन्देलखण्ड शब्द 'बांडी' (चमगीदड़) की, जो बंगला में और उड़िया में बादुड़ तथा बादुड़ी है, अण्डमन द्वीपों के आदिवासियों की बोली के बोतदा, वात्दा, बोत, वात से तुलना की जा सकती है।

उत्तर पाषाण-युग में कुल्हाड़ी, बसूले, चिकनाने के पत्थर, ओप करने के पत्थर, पत्थर के हथौड़े, कुदाली, मूसल, हड्डी के मूजे, चूल्हे, मिट्टी के आदिकालीन बर्तन तथा कुछ अन्त्येष्टियों के अवशेष मिलते हैं। नागार्जुन कोंडा[3] (आंध्र प्रदेश) से लेखक ने स्वयं इस प्रकार की अनेक वस्तुओं को उत्खनन से निकाला है। बुर्जहाम[4] (काश्मीर) से जो श्रीनगर से लगभग बारह किलोमीटर की दूरी पर है, इस युग के हड्डी के अन्य उपकरण भी उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। इस सन्दर्भ में द्विवेदी[5] के विचार ध्यान देने योग्य हैं। उनका कहना है कि इस सम्बन्ध में इन्द्र द्वारा दधीचि की अस्थि के वज्र से वृत्र नाग का वध किये जाने का प्रसंग तुलनात्मक दृष्टि से मनोरंजक है और यह संकेत करता है कि भारत की ओर अग्रसर हुये आर्य अपने जीवन में इस युग की संस्कृति लिये हुये थे।

उत्तर पाषाण-युगीन मानव के विषय में द्विवेदी ने उचित ही लिखा है कि इस संस्कृति के निर्माता भारतवर्ष में आग्नेय दिशा से आये और वैदिक साहित्य में उल्लेखित जातियों में से आकृति आदि के आधार पर इनकी पहिचान निषादों से की जा सकती है। अतएव इन्हें आग्नेय अथवा निषाद कहा जाता है। निषादों से द्राविड़ों ने गेहूँ प्राप्त करके हमें दिया और चावल, कदली, नारिकेल, ताम्बूल, ललाबु, निंबूक, जम्ब, कपास, कर्पट,

---

1. ऋग्वेद, 10. 14. 11–12.
2. वही. 10. 14. 10.
3. ऐंशिएण्ट इण्डिया. अंक 14, 1958, पृ० 112, इण्डियन आर्क्योलॉजी, 57–58, ए रिव्यू.
4. इण्डियन आर्क्योलोजी. 1961-62, ए रिव्यू, पृ० 17-21.
   इ० आ० 62-73, ए० रिव्यू, पृ० 9-10.
   इ० आ० 63-64, ए० रिव्यू, पृ० 13.
5. द्विवेदी हरिहर निवास-पूर्वनिर्देशित, पृ० 57 पर उद्धृत।

शाल्मलि, कृकवाक ग्रोकंर (अथर्ववेद) जिसका आदिवासियों की बोली में करक है और तमिल में मयिल मातंग तथा साद (घोड़ा) शब्द तथा उनके भाव इनसे मिले ।[1]

खेतिहर निषादों के उपरान्त भूमध्य सागरीय क्षेत्र से द्राविड़ों की नंगा संस्कृति लगभग सम्पूर्ण भारत में विस्तृत हो गई । उनके सांस्कृतिक अवशेषों में अनेक प्रकार के धर्मशास्त्र के चिन्ह प्राप्त होते हैं, जिनमें हवन की वे ही और यज्ञशाला है,[2] जो सम्भवत: ईरान और भारत में रहने वाले इन प्रागार्य भारतीयों की अग्निसाधना की प्रतीक हैं। काली बंगा (राजस्थान) के उत्खनन से प्राप्त अग्निपूजा के प्रमाण इस कथन की पुष्टि करते हैं। अग्नि को देवत्व उत्तर पाषाण-युग के आग्नेय निषादों के पश्चात् अधिक चिन्तनशील द्रविड़ों ने दिया हो, यही अधिक संगत है और गुह्य कार्यों में, जिनकी परम्परा भारतीय उपज की है, अग्नि का महत्व भी यही प्रतिपादित करता है ।[3] द्राविड़ों के इस अग्निवर्ग लाल देवता को, इसके रंग पर से आर्यो ने इसे पहले रुद्र (लाल) कहा हो यह सम्भव है, जो पहले से विद्यमान उनके आँधी के देवता रुद्र से फिर अभिन्न मान लिया हो, जिसका अर्थ भयानक न होकर रुद्र धातु से चलनेवाला होता है ।[4]

□

---

1. ऋग्वेद, 1.84.13., पूर्व निर्देशित पृ० 59 पर उद्दृत.
2. विश्वनाथ : रेशल सिन्थेसिस इन हिंदू कल्चर, पृ० 26.
   (द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 67 पर उद्धृत)
3. घोष बी०के०, हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ द इण्डियन पीपुल, खण्ड 1, पृ 307.
4. आयंगर, पी०टी०; लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया इन द एज आफ द मंत्राज (मद्रास 1912), पृ० 115 तथा द्रावड़िक स्टडीज, संख्या 3, पृ० 61-62.

2

ऐतिहासिक काल

चंद्रवंश में ययाति एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हुए थे, जिनके पाँच पुत्र थे। जब वे सन्यास ग्रहण करके वन में तपस्या करने जाने लगे तो उन्होंने चर्मण्वती (चम्बल) और शुक्तिमती (केन) के जल से सिंचित प्रदेश को अपने एक पुत्र यदु को दे दिया। यदु के सन्तान भी बढ़ी और परिणामतः उसकी दो शाखायें हो गईं। प्रधान शाखा यादव कहलाई और दूसरी हैहय। यादवों का राज्य यदु के राज्य के उत्तरीभाग पर हुआ और हैहयों का दक्षिण भाग पर, जिसे आजकल पूर्वी मालवा कहते हैं।[1] ज्ञात यह होता है कि हैहयों का राज्य अखण्ड रूप से नहीं रहा क्योंकि सूर्यवंशी मान्धाता, विशेषतः मुचकुंद, जिसने माहिष्मती नगरी की स्थापना की, तथा पुरुकुत्स का भी इस प्रदेश पर राज्य रहा। परन्तु शीघ्र ही हैहयों ने अपना राज्य पुनः ले लिया। कार्तवीर्य अर्जुन उनमें अत्यधिक प्रसिद्ध विजेता हुआ, जिसकी विजय-वाहिनी उत्तर में हिमालय तक गई। उसका उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र जयध्वज हुआ, जो अवन्ती में भी राज्य करता था।[2] यहाँ तक पुराणों अथवा महाकाव्यों में विदिशा का उल्लेख नहीं मिलता, अतएव यह निश्चित नहीं है कि हैहयों की राजधानी के रूप में विदिशा का अस्तित्व था भी या नहीं। कार्तवीर्य अर्जुन की राजधानी सम्भवतः माहिष्मती ही रही। विदिशा के उदय के बहुत पूर्व और कुछ समय पश्चात् भी माहिष्मती ही राजधानी रही, फिर विदिशा का उल्लेख मिलना प्रारम्भ हो जाता है।

मार्कण्डेय पुराण में एक उल्लेख है कि विदिशा में एक स्वयंवर हुआ था जिसके कारण विदिशा के राजा और वैशाली के राजा करन्धक के पुत्र अवीक्षित के बीच युद्ध हो गया था। विदिशा का राजा हैहयवंशी था। उसने अवीक्षित को परास्त कर वन्दी बना लिया। अवीक्षित के पिता ने और उसके मित्रों ने हैहय राज्य के विरुद्ध आक्रमण

---

1. पार्जिटर; एंशियेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल टेडीशन, पृ० 259-260.
2. वही, पृ० 262-263,

करके उन्हें पराजित किया और अवीक्षित को स्वतंत्र कर लिया ।[1] इस अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि इस समय विदिशा राजधानी हो गई थी । कुछ समय पश्चात् राजा सगर ने हैहयों पर विजय प्राप्त की तथा विदिशा सगर के अधीन हुई । सगर के पश्चात् इस प्रदेश में पुनः यादव आये और अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये, जिनमें विदिशा भी एक था ।[2]

तदुपरान्त विदिशा का इतिहास कुछ अस्पष्ट है । कहा जाता है कि दाशरथि राम के भाई शत्रुघ्न ने विदिशा के आसपास के प्रदेश के अधिपति सात्वत यादवों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें भगाकर अपने एक पुत्र सुबाहु को विदिशा का शासक बना दिया ।[3] कार्तवीर्य अर्जुन के पश्चात् माहिष्मती का उल्लेख कम मिलता है और उसी प्रदेश की राजधानी के रूप में विदिशा का वर्णन अधिक मिलता है । अतः यह अनुमान है कि पूर्वीय मालवा की राजधानी के रूप में विदिशा को स्थान प्राप्त हो गया था । माहिष्मती के पश्चात् उज्जैन को प्रधानत्व प्राप्त हुआ भी कहा गया है । किन्तु यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस समय तक मालवा की राजधानी के रूप में उज्जयिनी का उल्लेख कहीं नहीं मिलता तथा उसका वह रूप नहीं दिखाई देता जो कालान्तर में इसे बौद्ध जातकों के समय में प्राप्त हुआ ।[4]

भारत युद्ध के पश्चात् विंध्याचल क्षेत्र में[5] वीतहव्यों की बीस पीढ़ियों के राज्य[6] की समाप्ति के समय अवन्ति में एक राज्यक्रांति का उल्लेख मिलता है । अथर्ववेद में वर्णित[7] ब्राह्मणों के विरोध से वीतहव्यों के विनाश होने की सम्भावना की गयी है । अंतिम वीतहव्य को मारकर उसके अमात्य पुलिक ने अपना राज्य स्थापित किया । इसी का पुत्र आगे चंड-प्रद्योत हुआ,[8] जिसके नाम से यह वंश प्रसिद्ध हुआ ।[9]

---

1. वही, पृष्ठ 268 : मार्कण्डेय पुराण 121, 131.
2. पार्जिटर; पूर्वनिर्देशित, पृ० 273.
3. सुबाहु धर्मधुरां लेभे शत्रुघाती च वैदिशम् ।
   द्विधा कृत्वा तुतां सेनां माधुरीं पुत्रयोर्द्वयोः ॥
   धनं च युक्तं कृत्वा वै स्थापयामास पार्थिवः ।
   सुबाहुं मधुरायां च वैदिशे शत्रुघातिनम् ॥ —वाल्मीकि रामायण (पंडित पुस्तकालय, काशी, प्रथमावृत्ति, उत्तरकाण्ड, सर्ग 108, श्लोक 10-11; रघुवंश भी देखिये ।
4. पाटिल, डी० आर०; विक्रम स्मृति ग्रंथ, विदिशा, पृ० 659-660.
5. कौषीतकि उपनिषद, 11.8.
6. जर्नल आफ विहार ओरियेंटल रिसर्च सोसायटी, 1915, पृ० 10.
7. अथर्ववेद 5.18.10, 11 तथा 5.19.1.
8. मत्स्य पुराण 272.1.
9. द्विवेदी, हरिहरनिवास व विजयगोविन्द; मध्यभारत का इतिहास, प्रथमखण्ड (सन् 350 ई० तक) पृ० 124.

सोलह महाजनपदों में अवन्ति भी एक था, जिसकी स्थिति अनूप देश के उत्तर में कही गई है। किसी समय अवन्ति तथा आकर दो विभिन्न जनपद थे, जिनका सम्मिलित नाम आकारावन्ति* हुआ, किन्तु उज्जयिनी के प्रभाव के कारण अवन्ति रह गया। दसण्णक जातक में दसण्ण (दशार्ण) महाजनपद अपनी तीखी धारों के लिये प्रसिद्ध कहा गया है। तोलेमी (अशोकीय तुरमाय) ने भी दोसरान (संभवतः दशार्ण का अपभ्रंश) के नाम से इसका उल्लेख किया है। इसकी सीमाओं में तुम्ववन और मधुवन थे जो सिन्ध तथा वेत्रवती सरिताओं के मध्य में स्थित थे, जिसका प्रधान नगर विदिशा था। महावस्तु में भी दशार्ण जनपद जम्बू द्वीप के सोलह जनपदों में एक था, जहाँ बुद्ध ने उपदेश दिये थे तथा एक विहार का निर्माण करवाया था।[1] पेरिप्लस आफ द इरीथ्रियन सी में वर्णित 'दोसरीन' हाथी दाँत के लिये प्रसिद्ध था।[2] मैक्रिंडल के अनुसार यवन 'दोसरियन्स' जनपद से परिचित थे।[3] कहा जाता है कि महावीर ने यहाँ के राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी।[4] आर्य महागिरि वैदिशनगर से इस पर्वत पर विहार एवं तप करने आये थे।[5]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विदिशा महाजनपद (अंगुत्तर निकाय) काल में धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक तथा सामरिक दृष्टि से अवन्ति जनपद का समृद्धिशाली नगर था।

अवन्ति के राजा प्रद्योत के विषय में जिसे उसके स्वभाव की क्रूरता के कारण चंद्र प्रद्योत कहा जाने लगा था, अनेक धारणायें हैं। तिब्बत की एक अनुश्रुति के अनुसार वह अनन्तनेमि का पुत्र था तथा गौतमबुद्ध और उसका जन्म दिन एक ही था और जन्म के समय दीपक सदृश प्रकाश देखा गया था, जिसके कारण उसका नामकरण पज्जोत किया गया। यही नहीं, गौतम को बुद्धत्व तथा प्रद्योत को सिंहासन भी एक ही समय पर प्राप्त हुआ था। कथा सरित सागर में उल्लेख है कि उज्जैनी के राजा महेन्द्र वर्मा के पौत्र जयसेन ने चण्डी की आराधना से अजेय खंग व 'चण्ड' नाम प्राप्त किया तथा महाचण्ड कहलाने लगा। इसके दो पुत्र तथा वासवदत्ता नामक पुत्री थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रद्योत के स्वभाव से कोई प्रसन्न नहीं था। इसी कारण सभी धर्मों द्वारा भी वह निन्दनीय रहा। वर्द्धमान महावीर से कौशाम्बी में भेंट होने पर भी उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। इसी प्रकार बिम्बसार, जो उसका समकालीन था तथा जिससे उसके घनिष्ठ सम्बन्ध भी

---

* देखिये, रुद्रदामन् का अभिलेख।

1. महावस्तु 1, पृ० 34.
2. मजूमदार, रमेशचंद्र : क्लासिकल एकाउण्ट्स आफ इण्डिया, पृ० 307.
3. एंशिएण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ० 198.
4. जैन आगम साहित्य में समाज, पृ० 479.
5. आवश्यक निर्युक्ति, 1278.

थे उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित करने में असमर्थ रहा। बौद्ध अनुश्रुतियों से इतना अवश्य विदित होता है कि उसने कात्यायन के द्वारा बुद्ध को उज्जैनी आने के लिये आमंत्रित किया था। बुद्ध स्वयं तो नहीं आये थे, किन्तु कात्यायन को ही दीक्षित कर तथा उसे महाकात्यायन की उपाधि से विभूषित करके इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के लिये वापस भेज दिया था। एक जातक[1] कथा के अनुसार, बोधिसत्व ने मातंग रूप में वेत्रवती नगर में कुछ समय निवास किया था। तिब्बती दुल्व-में उल्लेख है कि शाक्य मुनि ने 500 मुनियों सहित कात्यायन को उज्जैनी के शासक को बौद्ध मतावलम्बी बनाने हेतु भेजा था।[2] कनिंघम के इस मत की सम्भावना उपयुक्त ही प्रतीत होती है कि तथागत अपने जीवनकाल में आने में भले ही असमर्थ रहे हों, परन्तु उनके अस्थि अवशेष सुनारी स्तूप में प्रतिष्ठापित किये गये थे।[3]

वत्सराज की रानी मृगावती के सौंदर्य से आकर्षित होकर प्रद्योत ने कौशाम्बी पर आक्रमण किया था। यद्यपि रानी की बुद्धिमत्ता से प्रद्योत को संधि करनी पड़ी थी, किन्तु दोनों राज्यों में वैमनस्य दूर न हो सके। जिसके परिणामस्वरूप प्रद्योत अपनी पुत्री वासवदत्ता का विवाह वत्सराज के पुत्र उदयन से प्रस्तावित करने में असमर्थ रहा। इसके लिए उसने एक युक्ति से काम लिया। उसने उदयन को हाथी के आखेट के भ्रम में अपने राज्य की सीमा में आने पर बन्दी बना लिया और वासवदत्ता को वीणावादन की शिक्षा देने के लिये उदयन से आग्रह किया। जैसा कि अपेक्षित था, दोनों प्रणय-सूत्र में बँध गये तथा उज्जैनी से पलायन कर गये।[4] इन दोनों की प्रणय-कहानी अत्यन्त रोचक व प्रसिद्ध है। कौशाम्बी उत्खनन से प्राप्त एक ठीकरे पर यह कहानी चित्रित है।

अजातशत्रु ने बिम्बसार को मार कर मगध का सिंहासन लिया था, जिसकी सूचना पाकर प्रद्योत कुपित होकर अपने मित्र की मृत्यु का बदला लेने के लिए मगध पर आक्रमण करने चल दिया, किन्तु सम्भवतः मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई।

प्रद्योत की सेना में अनेक प्रकार के द्रुतगामी वाहन थे। उदेतवत्थु में इस प्रकार के पाँच वाहनों का उल्लेख मिलता है। वह एक शक्तिशाली शासक था। उत्तर में सूरसेन तक उसका राज्य था तथा वत्स का राजा उसकी धाक मानता था। वत्स, काशी, कौशल उसके प्रभाव से आतंकित रहे होंगे, अन्यथा वह अपने अंतिम दिनों में मगध पर आक्रमण करने की कल्पना नहीं कर सकता था।[5]

---

1. कावेल, ई०बी०; जातक स्टोरीज, ग्रंथ, 8 व 4, पृ० 242-243.
2. कनिंघम-पूर्वनिर्देशित (नवीन संस्करण), पृ० 197.
3. कनिंघम; भिलसा टोप्स, पृ० 314 व 324.
4. इस समय मुझे एक परिहास याद आया है :—(पलायन के लिए सीढ़ी से उतरती हुई प्रेयसी)—"धीरे बोलिये, पिताजी जाग जायेंगे" प्रेमी—"कोई डर नहीं, वह स्वयं नीचे सीढ़ी पकड़े हुये हैं।"
5. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 179.

चण्ड प्रद्योत का उत्तराधिकारी गोपालक हुआ। महत्वाकांक्षी पालक गोपालक को हटाकर स्वयं सिंहासनारूढ़ हुआ, जिसने वत्स राज्य से अनबन कर ली थी। उदयन ने मगध से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अतः सम्भवतः पालक ने ही वत्स को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

मगध में इस समय अजातशत्रु मारा जा चुका था और उदयीभद्र या उदयभद्र राज्य कर रहा था। अवन्ति से प्रतिरोध करने के आशय से ही उसने नयी राजधानी कुसुमपुर या पाटलिपुत्र बसाई थी। उदयीभद्र ने पालक को अनेक बार हराया। समर-भूमि में असफल होने पर पालक ने दूसरा मार्ग अपनाया। उसने उदयीभद्र की हत्या करा दी। इस प्रकार पालक का प्रभाव मगध पर भी हो गया और समस्त उत्तर भारत पर अवन्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया।

पालक अपने पिता से भी अधिक क्रूर स्वभाव का था। उसके विरुद्ध विप्लव हुआ और विशाखयूप को इस साम्राज्य का राजा बनाया गया। इसके पश्चात् अजक इस साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। पुराणों के अनुसार प्रद्योत वंश में अजक के पश्चात् नंदिवर्धन हुआ, इसने भी बीस वर्ष तक राज्य किया। मत्स्य पुराण में अजक और नन्दिवर्धन को पाटलिपुत्र का भी राजा लिखा है। ज्ञात यह होता है कि अजक अथवा नंदिवर्धन ने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बना लिया था, जिससे पूर्व तक फैले हुये विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध अच्छी तरह हो सके। पटना में जो दो विशालकाय मूर्तियाँ मिली हैं उनमें से एक पर नंदिवर्धन का नाम पढ़ा गया है।[1] कुछ विद्वान इस मत को नहीं मानते हैं।

इस समय कलिंग में जैन धर्म का पूर्ण प्रचार था। खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख से विदित होता है कि नंदिवर्धन ने कलिंग-विजय की थी और वहाँ से "कलिंग-जिन" नामक जैन मूर्ति पाटलिपुत्र ले आया था। इस प्रकार नन्दिवर्धन अपने समय का सार्वभौम सम्राट् था, जिसकी राज्य सीमा में लगभग सभी उत्तर भारत, अवन्ति से कलिंग तक सम्मिलित हो गये थे।

नन्दिवर्धन ने एक नन्द संवत् का प्रवर्तन भी किया था। खारवेल की हाथीगुफा प्रशस्ति में नन्द संवत 103 में खुदवाई गई एक नहर का उल्लेख है। अलबेरूनी ने मथुरा में नंद संवत् का चलन पाया था। उसने लिखा है कि विक्रम संवत् में 400 जोड़ देने से नंद संवत् निकल आता है। इस प्रकार ईसा पूर्व 458 में नन्दिवर्धन ने नन्द संवत् का प्रारंभ किया था। चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम ने भी ई० सन् 1070 के अपने एक शिलालेख में नन्द संवत् का उल्लेख किया है।

नन्दिवर्धन के समय में शिशुनाग नामक प्रतापी व्यक्ति का उदय हुआ, जिसने पुराणों के अनुसार प्रद्योतों की शक्ति का उन्मूलन कर इस विशाल साम्राज्य की बागडोर सम्हाली।[2]

---

1. द्विवेदी, द्वारा उद्धृत पृ० 181 पर चंद्रधर शर्मा गुलेरी. शिशुनाग मूर्तियाँ, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् 1977, भाग एक, पृ० 40.
2. हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ द इण्डियन पीपल, खण्ड 2, पृ० 29.

"शिशुनाग" व्यक्ति का नाम न होकर किसी वंश का नाम है। शिशुनागों का प्रथमोल्लेख वाल्मीकि रामायण (3.73.29-32) में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि ऋष्यमूक पर्वत की रक्षा शिशुनाग करते थे। यह ऋष्यमूक पर्वत वर्तमान पचमढ़ी है, जो नर्मदा के दक्षिण में है।[1] डा० सुविमलचन्द्र सरकार का अनुमान है कि रामायण कालीन वानर जाति (वनवासी जाति) के शिशुनाग और मगध के शिशुनाग राजा एक ही वंश के हैं तथा शिशुनाग उन वानरों में से थे जिसने सुग्रीव का साथ दिया था और जो अपने रण-कौशल के कारण विश्वस्त माने जाते थे। विम्बिसार के समय में एक शिशुनाग वंश काशी पर राज्य कर रहा था। एक और नागवंश इसी काल में चम्पा और राजगृह के दक्षिण-पूर्व (वर्तमान छत्तीसगढ़) में सोन नदी के अंचल में राज्य कर रहा था। इस समय भी पूर्व की भाँति ही सतपुड़ा और विंध्याचल के अंचलों में नर्मदा, चम्बल, वेतवा धसान, केन तथा शोण की घाटियों में चम्बल के दक्षिण से लेकर सतपुड़ा तक तथा पूर्व में शोण तक अर्थात् समस्त मध्यदेश में नागों की वस्तियाँ फैली हुई थी।[2]

विदिशा के ज्येष्ठ नाग[3]

पुराणों में नागवंश की जो वंशावली दी गई है, उसको दो भागों में[4] विभक्त किया गया है। एक वंश तो वह है जो शुंगों के पहले विदिशा में राज्य करता था और दूसरा वह है जो शुगों के पश्चात् पद्मावती में राज्य करता था। इन्हें नवनाग (नये नाग) कहा गया है और इनकी राजधानियाँ पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा बतलाई गई हैं।

इस युग में जिन राजवंशों ने उत्तर भारत में कोई बड़ा साम्राज्य स्थापित किया वे अपनी एक राजधानी विदिशा अथवा उज्जयिनी में अवश्य रखते थे। ज्ञात यह होता है कि शिशुनाग ने भी मुख्य राजधानी गिरिवृज (राजगृह) में बनाई और दूसरी विदिशा में। यही कारण है कि पुराणों में नन्दिवर्धन प्रद्योत के पश्चात् एक शैशु नागवंश मगध का बताया जाता है तथा दूसरा मौर्यों के पश्चात् ज्येष्ठ नागवंश विदिशा का।

शिशुनाग ने अपना राज्य कौशल, वत्स, अवन्ति तक विस्तृत कर लिया था। पुराणों के अनुसार शिशुनाग का राज्यकाल चालीस वर्ष तक रहा, किन्तु महावंश और दीपवंश में क्रमशः अठारह व बीस वर्ष लिखा है।

काकवर्ण या कालाशोक, शिशुनाग का पुत्र था जो उसका उत्तराधिकारी बना। उसने उत्तर-पश्चिम के यवन राज्य पर आक्रमण किया तथा उन्हें पराजित किया। अनुश्रुति

---

1. रायकृष्णदास; ऋष्यमूक किष्किन्धा की भौगोलिक अवस्थिति, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 52, संवत् 2004, पृ० 129.
2. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 187.
3. वही, पृ० 187.
4. भंडारकर रामकृष्ण; इण्डियन कल्चर, भाग6 6, पृ० 16.

है कि इस पराजय के पश्चात् यवन राजाओं ने धोखे से उसका वध कर डाला।[1] इसके समय में वैशाली में बौद्धसंघ की दूसरी संगीति हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शैशुनागों का सम्बन्ध साँची से रहा होगा, क्योंकि साँची का एक प्राचीन नाम काकणाव या काकणाय था। समयोपरान्त इसको काकनादबोट कहने लगे थे। सम्भव है कि काकवर्ण का इस नाम से सम्बन्ध हो और विदिशा में उसने कोई निर्माण कराये हों।

शैशुनाग वंश का अन्तिम शासक महानन्दी था, जिसका अंत अत्यन्त दुखपूर्ण हुआ। इसे नन्द नामक एक नापित ने मार डाला तथा मगध में एक नवीन राज्यवंश को जन्म दिया। इस वंश के संस्थापक के विषय में अनेक मत हैं। जैन ग्रंथों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि नापित राजहर्ता नापित कुमार अथवा नापित से भिन्न नहीं, जिसने नन्दवंश की स्थापना की थी।[2] जो भी हो, इस वंश के शासक अत्यन्त प्रतापी तथा विजयी थे। कौशाम्बी, कौशल, पांचाल, काशी, हैहय, मैथिला, शूरसेन तथा अवन्ति के राजवंशों का विनाश इनके हाथों हुआ। इस कारण पुराणों ने नन्दों को "द्वितीय इव भार्गव:" (मत्स्य पुराण) कहा है, अर्थात् वे परशुराम भार्गव के समान क्षत्रियों का संहार करने वाले थे।

प्रथम नन्द के उत्तराधिकारियों की संख्या आठ मिलती है किन्तु इसकी सत्यता के विषय में निश्चयात्मक प्रमाण नहीं हैं। इस बात पर सभी सहमत हैं कि अंतिम नंद राजा ने अपार धन संग्रह कर उसे छुपा दिया था।

यद्यपि नन्दों का साम्राज्य विशाल था, उनके राज्य का कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता। परन्तु कुछ बातें स्पष्ट हैं। प्रथम तो यह कि इनके राज्य में व्यापार की उन्नति हुई थी, उसके कारण पद्मावती, विदिशा, उज्जयिनी तथा माहिष्मती का महत्व बढ़ा था। इसके अतिरिक्त उनके आश्रम में जो महान् विद्वान् तथा शास्त्रज्ञ थे उनमें से अनेक उज्जयिनी और विदिशा के थे। नन्दों को अपने उत्तराधिकारियों के लिए स्मरणीय देन के विषय में स्मिथ के शब्द हैं, "उन्होंने परस्पर विरोधी राज्यों को इस बात के लिए विवश किया कि वे आपसी उखाड़-पछाड़ न करें और स्वयं को किसी उच्चतर नियामक सत्ता के हाथ सौंप दें।"

अन्त में एक बार पुनः छठी शताब्दी ईसा पू० से मौर्य साम्राज्य के प्रारम्भ तक की गतिविधियों पर संक्षेप में दृष्टिपात कर लेना श्रेयस्कर होगा।

बुद्ध के पूर्व ही अवन्ति अनेक कारणों से बड़ा महत्वपूर्ण राज्य था। वहाँ का राजा चण्ड प्रद्योत गौतमबुद्ध का समकालीन था। वत्सराज का शासक उदयन भी प्रद्योत का समकालीन था, उसके अवन्तिराज से वैवाहिक सम्बन्ध होने पर भी युद्ध होते रहते थे। मगधराज अजातशत्रु ने प्रद्योत के आक्रमण की आशंका से पाटलिपुत्र को सुदृढ़ किया था।

---

1. हर्ष चरित, षष्ठोछ्वास तथा शंकर टीका।
2. शास्त्री, नीलकंठ; नंद-मौर्य युगीन भारत, पृ० 16.

मथुरा के शूरसेन राजा को अवन्ति पुत्तो कहा जाता था, जिससे स्पष्ट है कि वह अवन्ति की राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था। बुद्ध धर्म के प्रारम्भिक दिनों से ही अवन्ति इस धर्म का महान् केन्द्र रहा है।[1] क्योंकि इस धर्म के अनेक उत्साही अनुयायी या तो यहाँ उत्पन्न हुए थे अथवा यहाँ निवास करते थे।[2] इनमें विशेष उल्लेखनीय है अभय कुमार, इसिदासी, इसिदत्त, धम्मपाल, सोणिकुटिकन्न तथा महाकात्यायन। उन दिनों भारतवर्ष में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया जाता था, जिनका नाम था साहित्यिक (वैदिक) छन्द तथा लौकिक अथवा धर्म निक्षेप। अवन्ति में लौकिक भाषा प्रचलित थी।[3]

सामाजिक दृष्टि से इस अवधि में भारत की समाज व्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन आ गया था। सहस्राब्दियों से प्रचलित चातुर्वण्य की कल्पना को इसके फलस्वरूप अत्यन्त कठोर आघात पहुँचा। युद्धप्रिय क्षत्रिय कुमारों का धर्म प्रवर्तक होना तथा शूद्रों का सम्राट् होना इसी युग की देन है। जो भी हो, नन्द परिवार का जैन साधुओं और मुनियों से परम्परागत सम्बन्ध था। किन्तु केवल एक ही व्यक्ति के विषय में प्रमाण उपलब्ध होने के कारण, उसके आधार पर कोई धारणा बना लेना उचित नहीं है।[4] आतंकवादी, अप्रिय व लोक पीड़ित नन्दों के शासन में आने वाले मौर्यकाल के बीज को प्रस्फुटित होने के लिए उपयुक्त भूमि प्राप्त हो चुकी थी। विष्णुगुप्त चाणक्य का नन्द से रूठना यदि नन्दवंश के लिए अभिशाप था तो मौर्यवंश के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

मौर्य वंश

जब सिकन्दर पंजाब में था, तब उससे भेंट करने के लिए एक सामान्य कुलोत्पन्न 'किशोर'[5] उससे मिला था, जिसके विषय में अनुश्रुतियों में ऐसे लक्षणों की चर्चा है, जो उसके उज्वल भविष्य की सूचना देते थे।[6] यह घटना 326-325 ई० पू० की है। मिलिन्द पन्हो में मौर्य द्वारा नन्दवंश की समाप्ति का कतिपय अंश विद्यमान है।[7] इस यशस्वी युवक को पृथ्वी (जंबूद्वीप) के राजा के रूप में अभिषिक्त करने का श्रेय एक ब्राह्मण मन्त्री कौटिल्य को दिया गया है, जिसके अन्य दो नाम विष्णुगुप्त और चाणक्य भी थे। चाणक्य के नन्द राजा से क्रोधित होने तथा विनाश के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं।[8]

1. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट, 1936-37, पृ० 49-50.
2. मार्शल, जान; द मोनेमेंट्स आफ साँची, ग्रंथ प्रथम, पृ० 2.
3. रैप्सन, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, 1955, पृ० 165-66.
4. शास्त्री-नीलकण्ठ;-पूर्वनिर्देशित - पृ० 19.
5. प्लूतार्क की जीवनी (लोएब) खण्ड 7, लाइफ आफ अलेक्जेण्डर, अध्याय 62, पृ० 403.
6. मुद्राराक्षस (सं० हरिदास सिद्धांतवागीश भट्टाचार्य), पृ० 452. परिशिष्ट पर्वत, (सं० जैकोबी, द्वितीय सं०), 8, 243 जस्टिन, मैक्कंडल, इन्वेजन, पृ० 327 (शास्त्री-पूर्वनिर्देशित से उद्धृत- पृ० 145).
7. शास्त्री, पूर्वनिर्देशित, पृ० 161.
8. परिशिष्ट पर्वत, महावंश टीका, मुद्राराक्षस, कथा सरित्सागर आदि।

चाणक्य ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विंध्याटवी में जाकर 40 करोड़ कार्षापण एकत्र किये, जो पद्मावती, विदिशा उज्जैनी, माहिष्मती आदि समृद्धशाली नगरों से प्राप्त हुए थे। इसके उपरान्त उसकी भेंट चन्द्रगुप्त से हुई जिसे उसने युद्ध कुशल तथा योग्य राजनीतिज्ञ बना दिया। जस्टिन के अनुसार, सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् पंजाब ने दासता का जुआ उतार फेंका और यूनानी शासकों को मार डाला। इस स्वतंत्रता संग्राम का नेता सान्द्रकोत्तस (चन्द्रपुर) था। ई० पू० 324 में चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ तथा उसने एक विशाल सेना संगठित कर मगध पर आक्रमण कर दिया और नन्दवंश की समाप्ति कर दी।

सिल्यूकस से हुए लगभग 305 ई० पू० के युद्ध में उसे चन्द्रगुप्त से संधि करने को विवश होना पड़ा। सिल्यूकस को 500 हाथी मिले और चन्द्रगुप्त को हिरात, कन्दहार तथा काबुल प्रदेश मिले। यही नहीं, सिल्यूकस की पुत्री से चन्द्रगुप्त ने विवाह किया।[1] मैत्री सम्बन्ध दृढ़ करने हेतु उसका राजदूत मेगस्थनीज पाटलिपुत्र में रहा।[2] यहाँ यह स्मरणीय है कि "एक राजकुमारी" शब्द को सिल्यूकस की पुत्री कहा गया है।

रुद्रदामन् प्रथम के जूनागढ़ के शिलालेख जिसमें चन्द्रगुप्त के समय में गिरिनार नदी को बाँधकर उसे झीलरूप में परिवर्तित करा देने का आदेश था, प्रकट है कि सौराष्ट्र उसके साम्राज्य के अंतर्गत था। संभावना यह है कि यमुना के दक्षिण का भाग मध्यदेश, चन्द्रगुप्त के शासन काल में उसके अधीन नहीं था; क्योंकि बुद्धघोष के अनुसार (समन्त पासादिका, 1, पृष्ठ 45) अवन्ति को बिन्दुसार के राज्यकाल में अशोक ने जीतकर उसे अपने पिता के राज्य में मिलाया था। उस समय उत्तरी मध्यभारत तथा अवन्ति और विन्ध्यमेखला पर नाग तथा अन्य स्थानीय शासक फैले हुये थे।[3]

चन्द्रगुप्त के धर्म के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों में इसके बौद्धधर्म ग्रहण करने का कहीं उल्लेख नहीं है : किन्तु जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त नामक मुकुटधर राजा ने जिनधर्म की दीक्षा ली थी। एक मत के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य शैव था। उस समय के युद्धानुरागी अधिकांश में शैव ही थे। अतः स्पष्ट है चन्द्रगुप्त भी शैव था।[4]

लगभग ई० पू० 300 में बिन्दुसार मौर्य सम्राट् हुआ, जिसने साम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। इसके समय में तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ, जिसके शमन के लिए अशोक को भेजा गया।[5] बिन्दुसार केवल प्रतापी सम्राट् ही नहीं था, वरन् विदेशों से भी उसके राजनैतिक सम्बन्ध थे। उसके समकालीन अंतियोकस सोतर तथा

---

1. देखिये रेप्सन, ई० जे०; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, ग्रन्थ 1, पृ० 424-25.
2. बरुआ; अशोक एण्ड हिज इंसक्रिप्शन्स, पृ० 45.
3. द्विवेदी; पूर्वनिर्देशित, पृ० 197.
4. वही, पृ० 198.
5. देखिए, शास्त्री; पूर्वनिर्देशित, पृ० 187.

फिलदेल्फस तोलेमी क्रमशः पश्चिमी एशिया और मिस्र के शासक थे तथा जिनके राजदूत (दियामाकस्) और दियोनिसस् पाटलिपुत्र भेजे गये थे।[1]

बिंदुसार की मृत्यु लगभग 270–269 वर्ष ई० पू० हुई।[2] ई० पू० 269 में अशोक के अभिषेक और 265 ई० पू० उसके पुनराभिषेक की तिथियाँ मिलती हैं।[3] अशोक के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख मिलते हैं कि उसने अपने अन्य भाइयों को मार कर राज्य प्राप्त किया था। किन्तु उसके अभिलेखों में यदा-कदा उसके भाई और बहिनों के जो संदर्भ प्राप्त हुए हैं, उनसे इस कथन की सत्यता में पूर्ण-रूपेण विश्वास नहीं किया जा सकता है। इतना कहा जा सकता है कि सम्भवतः उत्तरा-धिकार के समय बिंदुसार के पुत्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध न रहे हों, जो कि स्वाभाविक भी था। यही कारण है कि बिन्दुसार के अंत तथा अशोक के औपचारिक अभिषेक के मध्य चार वर्षों का व्यवधान हो गया।

दिव्यावदान में अशोक को "जनपद कल्याणी" (संभवतः विशषेण) का पुत्र कहा गया है। महावंश टीका में धर्मा तथा अन्नुदान माला में सुभद्रांगी का पुत्र भी कहा गया है। अभाग्यवश अशोक के किसी लेख में उसके माता-पिता का नाम नहीं मिलता। परम्प-राओं के अनुसार अशोक तक्षशिला और उज्जयिनी का उपराजा अथवा कुमारामात्य रहा है। प्रादेशिक राजधानी की ओर यात्रा करते हुये वह विदिशा में ठहरा था, जहाँ उसने वहाँ के देव नामक राष्ट्रपाल अथवा राष्ट्रीय की कन्या 'देवी' से प्रणय हो जाने के कारण विवाह कर लिया था।[4] उससे कुमार महेन्द्र व कुमारी संघमित्रा ने जन्म लिया था। इन्हीं ने श्री लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। दीपवंश से ज्ञात होता है कि पिता के अभिषेक के छंः वर्ष बाद महेन्द्र की उम्र 20 वर्ष की थी। उसका जन्म अशोक के राज्या-रोहण के 10 वर्ष पूर्व हुआ होगा।[5]

अशोक का शासनकाल भारतीय इतिहास का उज्वलंतम पृष्ठ कहा गया है। उसका साम्राज्य पूर्वी अफगानिस्तान से बंगाल की खाड़ी तक और काश्मीर से कावेरी नदी तक फैला हुआ था जिसमें पाटलिपुत्र के अतिरिक्त तक्षशिला, उज्यियनी, सुवर्णगिरि और तोषाली उपराजधानियाँ भी थीं।[6]

---

1. देखिए, वही, पृ० 188.
2. बरुआ, बी० एम०; अशोक एण्ड हिज इंस्क्रिप्शन्स, पृ० 6.
3. शास्त्री–पूर्वनिर्देशित–पृ० 231, देखिये राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया।
4. महावंश, टर्नर; पाली बुद्धिष्ठ एनल्स, 1938, पृ० 130, "वेदिसा-महादेवी-साक्य कुमारी"।
5. शास्त्री–पूर्वनिर्देशित, पृ० 235 (पादटिप्पणी)।
6. बरुआ–पूर्वनिर्देशित–पृ० 63.

कलिंग विजय के उपरान्त चण्डाशोक से धर्माशोक सम्राट् ने बौद्ध धर्म के प्रचार का अनवरत प्रयास किया, जिससे भारतवर्ष में ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी उसका प्रभाव बढ़ने लगा। जहाँ कहीं संघ में उसे विच्छेदन अथवा भेदभाव का आभास होता था, शीघ्र ही शिलालेखों द्वारा सदस्यों को सतर्क कर दिया जाता था। इसके समय के तीन प्रधान केन्द्र साँची, कौशाम्बी तथा सारनाथ थे, जहाँ के बौद्ध भिक्षुओं के नाम चेतावनी दी गई थी। अशोक के समय में जो तीसरी संगीति हुई थी, उसमें से भी दस सहस्त्र 'पाप-भिक्षुओं' को बहिष्कृत कर दिया गया था। बौद्धसंघ के अनुशासन का अनुमान भोजपुर स्तूप से प्राप्त एक पात्र पर अंकित 'पतितो' शब्द से लगता है।[1]

उपगुप्त के नेतृत्व में अशोक ने बुद्ध से सम्बन्धित अनेक स्थलों की तीर्थ यात्रा तो की ही, बुद्ध के शिष्यों की स्मृति में बने हुये स्तूपों के स्थलों की भी यात्रा की। जैसे इतना ही यथेष्ट न था, धर्म विजय के हेतु उसने विदेशों में धर्मदूत भेजे।[2] पश्चिम में जिन पाँच देशों को दूत भेजे गये वे थे, सीरिया, मैसीडन (मकदुनिया), एपीरस, साइरीन (कुरीन) तथा मिस्र। यवन धर्म रक्षिता[3] को अराकोसिया भेजा गया था। उज्जैन के एक धनी ब्राह्मण के पुत्र तथा उपगुप्त के शिष्य आर्य धीतिक ने काश्मीर के उत्तर पश्चिम में स्थित थोगर में धर्म प्रचार किया। बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी (नेपाल) की तीर्थ यात्रा अशोक ने स्वयं की थी, उसके साथ आचार्य उपगुप्त तथा राजकुमारी चारुमती भी थीं। श्री लंका के राजा तिस्स के भतीजे अरित्य के नेतृत्व में आये प्रतिनिधिमण्डल के मौर्य दरबार से लौटने पर बुद्ध का संदेश अशोक ने भेजा। यही कारण है कि राजपुत्र महेन्द्र चार स्थविरों सहित विदिशा, उज्जयिनी तथा माहिष्मती के मार्ग से तमिल देश होता हुआ श्रीलंका (सिंहल) गया।* वहाँ उसने तिस्स को चालीस सहस्त्र अनुगामियों सहित बौद्ध बनाया। तत्पश्चात अरित्थ के साथ राजकुमारी संघमित्रा भी गई, जिसने श्रीलंका की रानी अनुल तथा उसकी सहयोगिनियों का धर्म परिवर्तन किया। इसी समय बोधि वृक्ष की एक शाखा वहाँ पर लगाई गई थी जो अनुराधापुर में आज तक विद्यमान है।[4] महेन्द्र की समाधि भी सिंहल में है। मज्झिम, कस्सप तथा गोतिपुत्र, जिनके अस्थि अवशेष साँची तथा सुनारी के स्तूपों से प्राप्त हुये हैं, हिमवन्त तथा दर्दाभिसार धर्म प्रचार के लिये भेजे गये थे। दर्दाभिसार की पहचान दर्दिस्तान से की गई है।[5] ग्रियर्सन का मत है कि इस क्षेत्र में प्रच-

1. कनिंघम, पूर्वनिर्देशित, पृ० 335–336.
2. खरे, एम० डी०; रिलीजियो कल्चरल एमिसरीज फ्राम इण्डिया–इण्डियाज कन्ट्रीब्यूशन-टु वर्ल्ड थाट एण्ड कल्चर, पृ० 18–21.
3. वेदालंकार, चंद्रगुप्त; वृहत्तर भारत, पृ० 11.

* प्रमाणतः यह भी कहा गया है कि महेन्द्र समुद्र की राह से लंका गया और स्वयं अशोक ने ताम्रलिप्ति के बंदरगाह में उसे पोत पर बैठाया।

4. शास्त्री, नीलकंठ; एज आफ द नन्दाज एण्ड मौर्याज, बनारस, 1952, पृ० 218–19. देखिए, बैजनाथपुरी, सुदूर पूर्व में संस्कृत और उसका इतिहास, पृ० 18.
5. बंजई, पी०एन०के०; हिस्ट्री आफ काश्मीर, पृ० 54.

लित भाषा को दार्दिक कहते हैं।[1] वह भाषा दरदों की थी जो संभवतः आभीरों के पड़ोसी थे।

अशोक के व्यक्तित्व का परिचय उसी के शब्दों से प्राप्त होता है जिसमें सम्पूर्ण प्राणि-समूह के प्रति उसके हृदय में विशाल उदारता थी। वह घोषित करता है कि "मैं जो कुछ पराक्रम करता हूँ वह उस ऋण से उऋण होने के लिये है जो सभी प्राणियों का मुझ पर है।" उसकी धर्मनिष्ठा के प्रमाण अनेक शिला व स्तम्भलेख हैं, जिनमें से एक स्तम्भ साँची में महास्तूप के दक्षिण द्वार पर स्थापित है।

अशोक की मृत्यु 232 वर्ष पूर्व मानी जाती है। किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् ही मौर्य साम्राज्य के इतिहास पर एक अभेद्य अंधकार छा जाता है। उसका साम्राज्य उसके कुमारों में विभक्त हो गया। उसके पुत्र कुणाल ने 4 वर्ष राज्य किया, जिसके पश्चात् दशरथ तथा सम्प्रति का राज्य हुआ।[2] नागार्जुन पहाड़ी की गुफाओं के शिलालेखों से विदित होता है कि दशरथ जैन धर्म का अनुयायी था। इसी प्रकार सम्प्रति के सम्बन्ध में भी अनेक अनुश्रुतियाँ हैं। उसने उज्जैनी में जैन आचार्य सुहस्ती (सुहस्त) से दीक्षा ली थी तथा मध्यदेश, गुजरात, दक्षिणापथ व मैसूर में धर्म का प्रचार किया था। सम्प्रति ने अशोक के धर्म प्रचार के अनुकरण पर ही जैन धर्म का प्रचार किया था। गार्गी संहिता के युगपुराण में धर्म प्रचार करते समय घोर हिंसा का प्रसंग दिया गया है जिसमें दिमित (दिमितियस) को (उसके तात्कालिक आक्रमण के कारण) धर्मभीत कहा गया है।

शालिशुक, देवधर्मन् तथा शतधनुष के उपरान्त बृहद्रथ राजा हुआ, जो अंतिम मौर्य सम्राट् था। अंतिम मौर्य राजाओं के राज्य काल में यूनानियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने यूनानी राजा दिमित्र के आक्रमण को रोका था, जिसके उपरान्त 187 ई० पू० उसने बृहद्रथ का वध कर दिया था और सदैव के लिये मौर्य साम्राज्य को समाप्त कर दिया। पुराणों के अनुसार यह परिवर्तन 184 ई० पू० हुआ था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मौर्यकाल की धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक समृद्धि में विदिशा का विशेष योगदान रहा। अशोक ने ग्यारह वर्ष की कुमारामात्य की अवधि में जो महत्वपूर्ण कार्य किये उनमें विदिशा की 'देवी' से उसके विवाह की भी गणना की जा सकती है क्योंकि उससे उत्पन्न पुत्र व पुत्री ने आगे चलकर बौद्ध धर्म का प्रचार

---

1. ग्रियर्सन; लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, ग्रंथ 8, भाग 2, देखिये—मजुमदार, आर० सी०; क्लासिकल एकाउण्ट आफ इण्डिया, 423.
2. पुराणों, दिव्यावदान तथा तारानाथ के अनुसार अशोक के उत्तराधिकारों की सूची में विभिन्नता है। पुराणों के लिए देखिये—पार्जिटर, डाइनेस्टीज आफ कलि एज, पृ० 27-30.
दिव्यावदान, संपादित—कावेल और नील, 1816, पृ० 430.
तारानाथ, अनुवादक—शीफनेर—हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म, पृ० 48.
(गेशिस्टे डेम बुद्धिस्मुस इन इंडियेन—सेंटपीटर्सबर्ग, 1869), शास्त्री-पूर्वनिर्देशित, पृ० 277.

सिंहल द्वीप में किया। सिंहल जाने के पूर्व महेन्द्र ने लगभग दो मास वेदिसागिरि विहार (साँची) में व्यतीत किये, जो उसकी माता ने उसके लिए निर्मित करवाया था। विदिशा क्षेत्र से प्राप्त पुरातात्विक अवशेष इस काल की अन्य गतिविधियों तथा सामाजिक दशा पर यथोचित प्रकाश डालते हैं। विदिशा का वृत्तायत विष्णु मंदिर तथा ईटों की बनी एक नहर, साँची, सोनारी, अधेर आदि के स्तूप मौर्यकाल की कृतियाँ हैं।

मौर्य काल के समाप्त होने के पूर्व ही विदिशा के ज्येष्ठ नागों की सत्ता का उदय होने लगा था। इससे स्पष्ट होता है कि शिशुनाग के साम्राज्य काल में जिन नागों का अस्तित्व था, उनका प्रभाव समाप्त हुआ प्रतीत नहीं होता है किन्तु पुष्यमित्र जैसे योग्य सेनानी ने[1] 'प्रतिज्ञा दुर्बल' ब्रहद्रथ का सैन्य-प्रदर्शन-स्थल पर बध कर देने[2] के कारण राजनैतिक सत्ता शुंगवंश को हस्तगत हुई। पुष्यमित्र के इस प्रदर्शन में जनमत का पूर्ण समर्थन था, इसमें कोई सन्देह नहीं। ब्राह्मण पुष्यमित्र द्वारा शास्त्र के स्थान पर आवश्यकतानुसार शस्त्र ग्रहण करने की अनुमति मनुस्मृति में दी गई है।[3]

अंतिम मौर्यों का शक्तिहीन शासन तथा यूनानी आक्रमण मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण हुये। अंतिओक तृतीय राजकुमार वीरसेन के उत्तराधिकारी सुभगसेन को गांधार में पराजित कर सीरिया लौट गया किन्तु यूथीदेमो तथा उसके पुत्र दिमित्र ने भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया। दिमित्र ने तक्षशिला को जीतकर तथा गांधार को अपने अधीन कर अपने पुत्र दिमित्र द्वितीय को इस क्षेत्र का शासक बना दिया।

दिमित्र के सेनापति मिनेन्द्र से, जो पांचाल, मथुरा, माध्यमिका तथा साकेत विजय करता हुआ पाटलिपुत्र तक जा पहुँचा था,[4] मौर्य सेनापति पुष्यमित्र ने महायुद्ध करके मथुरा तक खदेड़ दिया। ई० पू० 165 के लगभग दिमित्र का देहान्त हो गया और उसके पश्चात् कपिशा में उसका पुत्र दिमित्र द्वितीय तथा शाकल (स्यालकोट) में मिनेन्द्र राजा बन गया। सौराष्ट्र तथा उज्जैन में भी इस काल में कुछ यूनानी राजा राज्य करने लगे थे। तक्षशिक्षा में जो यूनानी राजा राज्य करता था, उसी का वंशज अंताइलकीदस (अंतलिखिद) था, जिसका राजदूत (हेलियोदीर) विदिशा के शुंगों की राजसभा में पहुँचा था। सम्भावना यह है कि अन्य यूनानी राजाओं के राजदूत भी विदिशा गये थे।

---

1. पुष्यमित्रस्तु सेनानी : समुद्धृत्य ब्रहद्रथम्·······
2. प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेष सैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यम् ब्रहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ।।—हर्ष चरित।
3. सेनापत्यां च राज्यं च दण्डनेतृत्वमवे च।
   सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।

   — मनुस्मृति, 12, 100
4. गार्गी संहिता, देखिये :—डा० त्रिपाठी पूर्वनिर्देशित पृ० 185.
   देखिए, विक्रमस्मृति ग्रंथ में पहला लेख और उसमें शोधित युगपुराण का पाठ।

दिमित्र के प्रारम्भिक आक्रमणों के समय से ही यवनों का भारतवासियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने लगा था। मिनेन्द्र ने भारत की विजय को सरल तथा स्थायी बनाने की दृष्टि से स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। दिमित्र तथा आगे के अन्य यूनानी राजाओं ने राजनीति में संप्रदाय का उपयोग नहीं किया। उन्होंने भारत की भाषा, व्यवहार तथा संस्कृति को ही नहीं, अपितु उस युग के लोक धर्म, भागवत धर्म को भी अंगीकार किया था।

इस समय का उदयगिरि (उड़ीसा) में. हाथी गुम्फा शिलालेख खारवेल के कार्यों पर विस्तृत प्रकाश डालता है। यद्यपि खारवेल के समय-सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं, उसे पुष्यमित्र शुंग का समकालीन मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। काशी प्रसाद जायसवाल इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।[1]

हाथी गुम्फा प्रशस्ति के अनुसार राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष खारवेल ने उत्तरापथ अर्थात् तक्षशिला की ओर आक्रमण किया तथा वहाँ के राजाओं को त्रस्त किया। इसके पश्चात् उसने मागधों को भयभीत करते हुए अपने हाथियों को मौर्यों के प्रसिद्ध राज प्रासाद सुंगागेय तक पहुँचाया। मागध राजा बृहस्पति मित्र (वहसतिमित्र, पुष्यमित्र) को पैरों गिरवाया, राजा नंद द्वारा ले जाई गई कालिंग जिन मूर्ति को प्राप्त कर स्थापित किया और अंग तथा मगध के धन को गृहरत्नों के प्रतीहारों सहित लिवा लाया। इस प्रशस्ति में कहीं-कहीं कांव्यात्मक अतिशयोक्ति का आभास होता है।

शिशुनाग का साम्राज्य महानंदी के साथ अंत हो जाने के पश्चात् नागों का राजवंश पुनः विदिशा में उदित हुआ दिखाई देता है। पुराणों में शुंगों के पूर्व विदिशा के एक नागवंश का उल्लेख है। इनमें शेष, भोगिन, रामचन्द्र, धर्मवर्मन् या धनवर्मन् और वंगर का उल्लेख किया गया है। इन नागों को शुंगों के पश्चात् होने वाले नव अथवा नये नागों से भिन्नता प्रकट करने के लिए ज्येष्ठ नाग कहा गया है। जायसवाल[2] ने भी कहा है कि शुंगों के पूर्व विदिशा पर नागों का आधिपत्य था।

ईसा पू० 235 से 225 ई० तक सातवाहनों ने राज्य किया। इन शासकों के समय के विषय में भी इतिहासकारों के अनेक मत हैं। जो भी हों पुराणों के अनुसार सिमुक ने तेईस वर्ष राज्य किया तथा उसके उत्तराधिकारी भाई कृष्ण ने अठारह वर्ष। सिमुक का पुत्र शातकर्णी अत्यन्त प्रतापी तथा महान् शासक था, जिसने किसी महारथी की पुत्री नागानागनिका से विवाह कर अपने यश में वृद्धि की। जिस महारथी की पुत्री से शातकर्णी ने विवाह किया, वह सम्भवतः पुष्यमित्र ही था।

साँची स्तूप के दक्षिण तोरण पर एक शिलालेख है जिससे विदित होता है कि शातकर्णी के एक शिल्पी वासिष्ठीपुत्र आनंद ने यह तोरण बनवाया था। इस लेख के आधार

1. विद्यालंकार, जयचंद; भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० 826.
देखिए, जे० बी० ओ० आर० एस० में प्रकाशित उनके हाथी गुम्फा लेख के विविध पाठ।
2. अंधकार युगीन भारत, पृ० 16.

पर तथा सातवाहनों के कुछ सिक्कों के अवन्ति क्षेत्र में पाये जाने से अनेक विद्वानों का मत है कि सातवाहनों का आधिपत्य इस क्षेत्र पर था। लेखक ने स्वयं नीलकण्ठ शास्त्री से भी इस विषय पर पत्र व्यवहार किया था। उन्होंने भी यही मत व्यक्त किया और नानाघाट शिलालेख से विदित जानकारी को इस मत के समर्थन में प्रयुक्त किया। किन्तु मैं द्विवेदी के मत का ही समर्थक हूँ। इनके विचार से यह सब सातवाहनों के इस प्रदेश के अधिकार के द्योतक न होकर शुंगों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध के साक्षी हैं।[1]

मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त पूर्वी मालवा क्षेत्र में धर्मपाल, इन्द्र गुप्त तथा शिवगुप्त ने शासन किया। धर्मपाल के कुछ सिक्के कनिंघम को एरण से प्राप्त हुए थे। हाल में किये गये यहाँ के उत्खनन से भी इसके सिक्के उपलब्ध हुए हैं। इन्द्रगुप्त का नाम भी यहाँ से प्राप्त एक धातुखण्ड पर मिला है। एक अन्य ताम्र मुद्रा पर, जो विदिशा में मिली है, शिवगुप्त का नाम है।

यहाँ इतना इंगित करना अनिवार्य है कि पाणिनि, कात्यायन आदि को मावीज, राजुवुल, भूमक तथा चष्टन के शकवंश के पूर्व के शकों का ज्ञान था।[2] बालश्री के नासिक शिलालेख से ज्ञात होता है कि गौतमी पुत्र सतकर्णी ने क्षहरातों को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया था तथा शक, यवन, पह्लव जो पश्चिमी भारत में थे, उनसे युद्ध किया। जैन ग्रंथों के आधार पर कहा जा सकता है कि शक सिंध व काठियावाड़ होते हुए पश्चिमी मालवा में सीस्तान से आये।[3] कृष्णदत्त वाजपेई की सम्भावना है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त शकों की एक शाखा ने बलूचिस्तान तथा सिंध होकर लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य में भारत प्रवेश किया। उस समय भारत में कोई शक्तिशाली राजा न होने के कारण सौराष्ट्र व गुजरात में शक अपना राज्य दृढ़ करके मालवा तक आ पहुँचे। उज्जैन तथा विदिशा से प्राप्त ताँबे के सिक्कों पर हमुगम, बलाक, दास, सौम नाम पढ़े गये हैं जो ई० पू० सौ वर्ष के पश्चात् के नहीं हो सकते। एरण से प्राप्त धर्मपाल तथा इंद्रगुप्त के और विदिशा से शिवगुप्त के सिक्के उपर्युक्त शक राजाओं के पूर्व के प्रतीत होते हैं।

मौर्य साम्राज्य के पतन होने पर मध्यप्रदेश में जिन सात नगर राज्यों का वर्णन मिलता है, वे थे, त्रिपुरी, एरण, माहिष्मति, मागिल (ग्राम मुनियाँ, जिला होशंगाबाद से इसके सिक्के प्राप्त हुए हैं), विदिशा उज्जैनी तथा पद्मावती।[4]

---

1. द्विवेदी—पूर्वनिर्देशित, पृ० 383.
2. वाजपेई, कृष्णदत्त; न्यूलाइट आन द शकाज आफ मालवा, बुलेटिन आफ, इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्कलाजी, अंक 1 (1967), पृ० 7.
3. जायसवाल, के० पी०; प्रोब्लम्स आफ शक-सातवाहन हिस्ट्री, जे० बी० ओ० आर० एस०, ग्रंथ 16 (1930) पृ० 233-242.
4. खरे, एम० डी०; मेमोइर्स आफ द डिपार्टमेंट आफ ऐंशियेंट इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्कलाजी, अंक 2, वाराणसी 1968, पृ० 157-160. देखिये :-संकालिया, सुब्बाराव, देव; एक्सकेवेशन्स एट महेश्वर एण्ड नवदाटोली, प्रो० वाजपेई, के० डी० : सागर थ्रू द एजेज; दीक्षित, एम० जी०; त्रिपुरी, 1952.

शुंगों की उत्पत्ति के विषय में रैप्सन का मत है कि यह जन जातीय नाम प्रतीत होता है क्योंकि शुंग का अर्थ अंजीर अथवा गूलर का वृक्ष है।[1] पाणिनि ने इन्हें भरद्वाज गोत्र का कहा है। दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र मौर्यों का वंशज था। मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को वैविक वंश का कहा गया है।[2] किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे ब्राह्मण थे तथा उन्होंने ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार किया था, जिसके अनेक प्रमाण विदिशा में प्राप्त हुए हैं।

पुष्यमित्र शुंग को ब्रहद्रथ के वध करने पर मौर्य वंश का मध्यवर्ती क्षेत्र ही प्राप्त हो सका। दक्षिण के सातवाहन तथा उड़ीसा के चेदि वंश अपने-अपने राज्यों के विस्तार का आयोजन कर रहे थे। ऐसी संकट-कालीन अवस्था में पुष्यमित्र ने शास्त्रबल के साथ प्रबल सैन्यबल का संगठन किया। दुर्बलबुद्धि ब्रहद्रथ के कारण मौर्य राज्यसभा में अनेक दल उत्पन्न हो चुके थे। सम्भवत: मौर्य सचिव पुष्य मित्र के विरुद्ध था तथा विदर्भ का राजा यज्ञसेन, मौर्य सचिव का बहिनोई होने के कारण, उसके अनुकूल नही था। अत: विदर्भ का एक अंश अपने पक्ष में करने के लिए पुष्यमित्र ने माधवसेन की पुत्री मालविका से अपने पुत्र अग्निमित्र का विवाह पक्का किया। माधवसेन यज्ञसेन का रिश्ते का भाई होता था। वैवाहिक सम्बन्ध से अपनी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने हेतु ही सम्भवत: उसने सातवाहन शातकर्णि को अपना जामाता बनाया।

पुष्यमित्र शुंग के समय में बैक्टिया (ब्राख्त्री, बह्लीक) के यवनों ने भारत पर आक्रमण कर दिया। दिमित्र के साथ उसके सेनापति मिनेन्द्र एपोलोडोदस भी थे। पतंजलि ने इस घटना की गुरुता को भावी भारत के मस्तिष्क में चिरस्थाई रखने के लिए, पाणिनि की अष्टाध्यायी के महाभाष्य में अनद्यतन भूत काल का उदाहरण देते हुए लिखा है "अरुणद् यवन: साकेतम्" यवन ने साकेत घेरा, "अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्" यवन ने माध्यमिका घेरी। साकेत और माध्यमिका (चित्तौड़ के पास नगरी) ही नही, यवन सेना और आगे बढ़ी।[3]

गार्गी संहिता के युग पुराण स्कन्ध में इस घटना का सविस्तार उल्लेख है। "दुष्ट विक्रान्त यवनों ने पाचाल, मथुरा और साकेत पर आक्रमण किया, कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच गये। यहाँ उन्होने नगर दुर्ग की खाई को मिट्टी से पूर दिया और समस्त विषय (प्रदेश) व्याकुल हो गये।[4] पाटलिपुत्र में महायुद्ध हुआ, परिणामस्वरूप यवन सेना को मथुरा तक खदेड़ दिया गया।

---

1. रैप्सन-पूर्वनिर्देशित, पृ० 467.
2. मालविकाग्निमित्र, दृश्य 4, 14, देखिये-राय चौधरी; पोलिटिकल हिस्टी, पृ०369-70.
3. रैप्सन-पूर्वनिर्देशित पृ० 468, डा० त्रिपाठी-पूर्वनिर्देशित पृ० 185. द्विवेदी-पूर्वनिर्देशित, पृ० 385.
4. विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 21—दुष्ट विक्रान्त यवना: नश्येरञ्च पार्थिवा:।

इस यवन अभियान के सम्बन्ध में मालविकाग्निमित्र तथा खारवेल के शिलालेख में भी उल्लेख मिलते हैं। प्लूतार्क के अनुसार मिनेन्द्र, जो साकल में राज करता था, गंगा के किनारे युद्ध करते-करते धराशायी हुआ। दिव्यावदान तथा तारानाथ यह भी प्रकट करते हैं कि पुष्यमित्र का अधिकार काश्मीर, जालंधर और स्यालकोट तक था। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने यवनों को परास्त कर सिंधु नदी तक खदेड़ दिया था और अश्वमेध यज्ञ के अश्व को यवनों से वापिस ले लिया था। इतिहासकारों में सिंधु नदी के विषय में मतैक्य नहीं है, कुछ लोग हिमालय से निकलने वाली सिंधु मानते हैं तो कतिपय विद्वान् विंध्याचल से निकलने वाली काली सिंधु कहते हैं।[1] किन्तु मिनेन्द्र की मृत्यु के उपरान्त यूनानियों का राज्य सिंधु (इण्डस्) के पश्चिम तक ही सीमित था, अतः विवादास्पद सिंधु हिमालय से निकलने वाली सिन्धु नदी ही हो सकती, कारण यह भी कि मालविकाग्निमित्र में विजय का संदेश पुष्यमित्र अग्निमित्र को भेजता है जो तभी संभव था जब युद्ध सिन्धु (इण्डस्) के किनारे हुआ वरना काली सिन्धु के विदिशा के समीप होने से संवाद अग्निमित्र को भेजना चाहिए था।

पुष्यमित्र के बौद्ध धर्म के विषय में तारानाथ लिखता है कि उसने मध्यप्रदेश से लेकर जालंधर की सीमा तक के बौद्ध मठों और संघारामों को जला दिया था। दिव्यावदान में भी इसी प्रकार की बौद्ध-विरुद्ध भावना का प्रतिपादन मिलता है। अपने राज्य के संघारामों के भिक्षुओं का घात कर शाकल में उसने यह घोषणा की कि एक श्रमण के सिर के लिये सौ दीनार दिये जायेंगे।* इन सब उल्लेखों का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि पुष्यमित्र बौद्धधर्म का विरोधी था। जब उसने देखा कि मिनेन्द्र की सेनाओं को संघारामों में उनके भिक्षुओं द्वारा प्रश्रय प्राप्त हो रहा है, तो राष्ट्रद्रोह की इस कुटिल भावना को कुचलने के लिये ही उसने यह मार्ग अपनाया। भारहुत तथा साँची के स्तूप और विहार पुष्यमित्र के शासनकाल की ही देन है। अब अनेक इतिहासकार[2] इस विषय पर एकमत हो चुके हैं कि पुष्यमित्र ने राजनैतिक आवश्यकताओं से विवश होकर ही यह कार्य किया। टार्न[3] ने लिखा है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश के यूनानियों को बौद्ध श्रमणों से सहायता प्राप्त होती थी।

पुष्यमित्र के राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं में से अश्वमेध यज्ञ भी है। हरिवंश पुराण में उल्लेख मिलता है कि जनमेजय के पश्चात् पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया था। भविष्य पुराण में उसे समाज और धर्म का रक्षक, कलि के प्रभाव को मिटाने

---

1. देखिये :—इण्डियन हिस्ट्री क्वार्टर्ली, 1925, पृ० 214.
   जर्नल आफ यू०पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, जुलाई 1941, पृ० 9-20.
   डा० त्रिपाठी, आर०एस०; हिस्ट्री आफ एंशियेन्ट इण्डिया, पृ० 185.

* यो मे श्रमणसिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।
   रैप्सन—पूर्वनिर्देशित पृ० 469.

2. हैमेल, आर्यन रूल इन इंडिया, पृ० 123.
3. टार्न—डब्ल्यू०डब्ल्यू०; द ग्रीक्स इन इण्डिया एण्ड बैक्ट्रिया।

वाला, तथा गीता का अध्ययन करने वाला कहा गया है। अयोध्या के शिलालेख में पुष्यमित्र के छठे वंशधर धन (मित्र) ने लिखा है कि सेनापति पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे।[1] मालविकाग्निमित्र के अनुसार भी दो अश्वमेध यज्ञ किये गये।[2] किन्तु पातंजलि ने केवल एक यज्ञ का ही विवरण दिया है। विदिशा के उत्खनन से एक यज्ञ के अवशेष प्राप्त हुए हैं। हवन कुण्ड के समीप से दिमित्र की एकमुद्रा भी प्राप्त हुई है, जिससे भंडारकर ने यह अनुमान किया है कि दिमित्र स्वयं यजमान के रूप में इस यज्ञ कार्य में सम्मिलित हुआ होगा।[3]

"टिमित्र दातृस्य (स) हो (ता)
प (ा) ता मत्र सज (ि?) न"[4]

दिमित्र यूनानी दिमित्रियस् का संस्कृत रूप है। यदि इस दिमित्र को, दिमित्र का पुत्र, दिमित्र द्वितीय जो उस समय तक्षशिला का राजा था, मान लिया जाये, तो यह कहना अनुचित न होगा कि उसने बौद्धधर्म स्वीकार न करके अपने पूर्वजों की भूल का परिमार्जन किया तथा तत्कालीन भागवत धर्म का अनुयायी बनकर वैदिक यज्ञ का होता बना। दिमित्र द्वितीय की इस यज्ञ में उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि उसने पुष्यमित्र से संधि कर ली थी। टिमित्र के साथ आये हुये यूनानियों में हुविल नामक व्यक्ति भी था, जिसके प्रस्तर पात्र का एक भाग भी यहाँ से प्राप्त हुआ। इसके बाहरी ओर "हुविलस्य" उत्कीर्ण है तथा भीतर एक काल्पनिक पशु (ड्रैगन) बना है। इस यवन राजा के सिक्के ढालने का एक साँचा भी यहाँ मिला।

इनके अतिरिक्त महाराज विश्वमित्र की एक मुद्रा उपलब्ध हुई है, जिस पर लिखा है :—

"स्य मह ( ) र ( ) ज श्री विश्व ( ) मित्रस्य स्वामि (नः)" तथा नन्दी एवं त्रिशूल के चिन्ह हैं।

सातवाहनों की ओर से यज्ञश्री ने प्रतिनिधित्व किया था, जिसकी मुद्रा पर नन्दी बना हुआ है तथा "र (ज्ञो)....पस (यज्ञश्र) ( ) (होतृ)....(तृ)....नि)" लेख अंकित है।

इस यज्ञ में सूर्य भर्तृ के पुत्र विष्णुगुप्त, स्कन्दघोष के पुत्र भवघोष, श्री विजय तथा विष्णु प्रिय आदि भी सम्मिलित हुये थे। इनकी मुद्राओं के साथ हयहस्त्यधिकारी की मुद्रा

---

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 5, पृ० 202.
   (द्विवेदी–पूर्वनिर्देशित, पृ० 390 पर उद्धृत)
2. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृ० 9-13 'द्विरश्वमेधयायी'.
3. पातंजलि—इह पुष्यमित्रम् याजयामः (यहाँ हम पुष्यमित्र के लिये यज्ञ कर रहे हैं)
4. अयोध्या से प्राप्त लेख में भी दो यज्ञों का ज्ञान होता है।
   देखिये—ऐ०पी० ग्राफिया इण्डिका, अप्रैल, 1929, पृ० 54-58.
   "कोसलाधिपेनद्विरश्वमेधयाजिनःसेनापते पुष्यमित्रस्य...."

भी मिली है, जिसके ऊपर सूँड़ में पत्ती और फूल लिये हुये हाथी बना हुआ है। दण्डनायक बिलु तथा चेतगिरिक पुत्र दण्डनायक श्री सेन की मुद्राओं से ज्ञात होता है कि सतर्क दण्ड-नायकों की उपस्थिति भी सम्भवतः वांछनीय समझी गई थी।

ज्ञात होता है कि इन माण्डलिक राजाओं ने, हाथी और घोड़े के अधिकारियों ने, दण्डनायकों तथा नागरिकों ने कोई संदेश इन (अंकित) पाटियों पर लिखकर संदेश भेजे होंगे। यह निश्चित है कि यज्ञशाला के ऊपर लिखे गये भवनों के बाहर, मेहमानों के, दर्शकों के तथा राज्याधिकारियों के दूर-दूर तक शिविर लगे होंगे। वहीं किसी ओर शास्त्रों के पारंगत तथा वेदपाठी ऋषि-मुनियों और ऋत्विजों के अस्थायी आवास बने होंगे। वहीं किसी ओर गोनर्द के भगवान महाभाष्यकार पतंजलि[1] विराजमान होंगे, जिन्होंने अपने महाभाष्य में इस यज्ञ की स्मृति को अमर करने के लिए कालगति समझाते हुए लिख दिया—"पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्तीति। तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयते याजका यजन्तीति। 3.1.26" और आगे फिर लिखा "इह पुष्यमित्रं याजयामः 3.2.623"। अपने युग प्रवर्त्तक यजमान की कीर्ति कौमुदी की छटा अनन्त काल तक, जब तक संसार में पाणिनि की अष्टा-ध्यायी और पतंजलि का यह महाभाष्य पढ़ा जाता रहे तब तक अमर कर देने के लिये माध्यमिका और साकेत के यवन-आक्रमण के साथ ही उससे भारत का उद्धार करने वाले पुष्यमित्र के इन विजय यज्ञों की स्मृति को अमर कर दिया।[2]

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि भंडारकर ने विदिशा में दो हवन कुण्डों, एक योनि-कुण्ड तथा यज्ञशाला का उत्खनन में अनावरण किया था।

विदर्भ

विदर्भ का विवरण जैमिनीय उपनिषद् और एतरेय ब्राह्मण में मिलता है। पार्जि-टर ने वर्तमान बरार को भी इसके अन्तर्गत माना है। कनिंघम[3] ने भोपाल, भिलसा तथा नर्मदा के उत्तरीय क्षेत्र को इसमें सम्मिलित किया है। किन्तु पतंजलि के समय में विदिशा (विदर्भ ?) शुंगों की प्रभुसत्ता का प्रमुख केन्द्र थी जो दो भाइयों में विभाजित थी, जिसकी विभाजन सीमा वरदा नदी थी।[4]

मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र (अग्निमित्र ?) ने अपने एक अन्यवर्णीय (अवरभ्राता ?) साले वीरसेन को नर्मदा तट पर स्थित अंतपाल दुर्ग (सम्भवतः माहिष्मति) पर स्थापित कर दिया। पुष्यमित्र ने मालविका से अग्निमित्र का विवाह निश्चित किया था। माधवसेन जो यज्ञसेन का चचेरा भाई था, अपने मंत्री सुमति तथा सुमति की बहिन कौशिकी के साथ मालविका को लेकर इस हेतु विदिशा की ओर चला। किन्तु विदर्भ-राज

---

1. देखिये, पुरी, बैजनाथ; इण्डिया इन द टाइम आफ पतंजलि।
2. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 392.
3. भिलसा टोप्स।
4. पुरी, पूर्वनिर्देशित।

यज्ञसेन ने माधवसेन को मार्ग में ही वन्दी कर लिया। अग्निमित्र ने माधवसेन को तुरन्त छोड़ने और मालविका को विदिशा भेज देने का आदेश भेजा, परन्तु उसने यह शर्त रखी कि पहले अग्निमित्र यज्ञसेन के साले मौर्य सचिव को मुक्त कर दे। अग्निमित्र ने अंतपाल के दुर्गपति सेनापति वीरसेन को विदर्भ पर आक्रमण करने के लिये भेजा, जिसमें यज्ञसेन की पराजय हुई। अग्निमित्र ने यज्ञमित्र के राज्य को दो भागों में बाँट दिया।[1] वरदा (वर्धा) नदी के एक ओर का राज्य माधवसेन को दे दिया और दूसरी ओर यज्ञसेन को। मालविका के साथ अग्निमित्र का विवाह होने के पश्चात् यज्ञसेन का साला, मौर्य सचिव भी मुक्त कर दिया गया। इस प्रकार 'स्वाभाविक शत्रु' यज्ञसेन माण्डलिक राजा बन गया और विदर्भ में भी शुंग आधिपत्य सुदृढ़ हो गया।

दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र ने साठ वर्ष राज्य किया। रमेशचन्द्र मजुमदार का कथन है कि यह सम्पूर्ण कार्यकाल उसके सेनापति तथा राजा होने की अवधि है। सामान्य मत है कि उसने 36 वर्ष राज्य किया था। स्वयं पाटलिपुत्र से केन्द्रीय शासन सम्हाल रहा था तथा अग्निमित्र को विदिशा का राज्यपाल बनाया था। अपने साम्राज्य को सुव्यवस्थित करने के उपरान्त पुष्यमित्र ने दूसरा अश्वमेध किया था। किन्तु यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है कि उसकी यज्ञ भूमि विदिशा में ही थी अथवा विदिशा से बाहर। जो भी हो, अग्निमित्र के राजकुमार वसुमित्र की देखरेख में अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा गया। मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र शुंग की ओर से अग्निमित्र को अश्वमेध में आने के लिये जो निमंत्रण भेजा गया उसमें सभी ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है, "यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिंगन के पश्चात् सूचित करते हैं कि मैंने राजसूय यज्ञ की दीक्षा लेकर सैकड़ों राजपुत्रों के साथ वसुमित्र की सरक्षता में एक वर्ष में लौट आने का नियम निर्धारित कर यज्ञ का अश्व छोड़ दिया। सिंधु नदी के दक्षिण तट पर विचरते हुये उस अश्व को यवनों ने पकड़ लिया, जिससे दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने शत्रुओं को परास्त कर मेरा उत्तम अश्व छुड़ा लिया, अतएव तुम्हें यज्ञ-दर्शन के लिये वधूजन सहित शीघ्र आना चाहिये।[2]

इस निमंत्रण से स्पष्ट है कि द्वितीय अश्वमेध यज्ञ विदिशा के बाहर ही हुआ था। माध्यमिका को यवनों ने घेरा था, किन्तु वहाँ से उन्हें शुंगसेना ने खदेड़ दिया। घोसुण्डी

---

1. डा० त्रिपाठी, आर०एस०: पूर्वनिर्देशित—देखिये पृ० 184-185.
   देखिये, रैप्सन; पूर्वनिर्देशित, पृ० 468.
2. सिन्धो र्दक्षिणरोधसि चरान्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः।
   तत उभयो: सेनयोर्महानासीत्संमर्दः
   ततः परात्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
   प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥15॥
   तथा, तद इदानीम् अकालहीनाम् विगत रोष चेतसा भवता वधूजनेनसह
   यज्ञसेवनाय आगंतव्यम् इति, 5, पृ० 100.

पर जिस 'पाराशरीपुत्रे' सर्वतात का उल्लेख है वह संकेत पुष्यमित्र के लिए ही है। यहाँ यह स्मरणीय रहे कि विदिशा की भाँति नगरी में भी वैष्णव धर्म का अत्यधिक प्रचार था। विदिशा के दीर्घवृत्ताकार मंदिर की अनुकृति नगरी में विद्यमान है। जैसे यहाँ वासुदेव का प्रासादोत्तम बना था, नगरी में भी संकर्षण वासुदेव का मंदिर था। इन साम्यताओं को देखते हुए यह सम्भावना की जा सकती है कि द्वितीय अश्वमेध यज्ञ माध्यमिका (नगरी)[1] में हुआ हो।

पी० सी० बागची का विश्वास है कि पुष्यमित्र शुंग का राज्य 175 वर्ष ई० पू० में समाप्ति पर था। कतिपय विद्वानों का मत है[2] कि पुष्यमित्र की मृत्यु के उपरान्त शुंग वंश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था, जिनमें पाञ्चाल (राजधानी अहिछत्र), शूरसेन (राजधानी मथुरा), कोसल (राजधानी अयोध्या) तथा वत्स (राजधानी कौशाम्बी) मुख्य थे। इन चारों राज्यों में अपने-अपने विशेष सिक्के प्रचलित किये थे, जिनमें वहाँ के राजाओं के नाम भी दिये गये हैं। पांचाल सिक्कों पर इंद्र, अग्नि, सूर्य, फाल्गुनी आदि देवताओं की आकृतियाँ हैं। मथुरा के सिक्कों पर लक्ष्मी की मूर्ति बड़े प्रमुख रूप में दिखाई देती है। नंदी, हाथी, घोड़ा जैसे जानवरों की आकृतियाँ भी इन सिक्कों पर पाई गई हैं। इन राज्यों के शासकों के नाम के अन्त में 'मित्र' शब्द होता था जिससे ज्ञात होता है कि इन चारों राज्यों का लगभग उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध पुष्यमित्र शुंग से था, जितना विदिशा के शुंगों का, क्योंकि इनके राजा अपने को सेनापति पुष्यमित्र के वंशज कहते थे।

अयोध्या का धन (मित्र) अपने शिलालेख में स्वयं को पुष्यमित्र की छठी पीढ़ी का लिखता है।[3] ओदक या उद्रक (शुंगवंश का पाँचवाँ राजा) के राज्यकाल के दसवें वर्ष में अहिच्छत्रा में कोई आषाढसेन राज कर रहा था जो कौशाम्बी के राजा बृहस्वातिमित्र का मामा था। बृहस्वातिमित्र स्वयं मथुरा का स्थानीय शासक बनाया गया।[4] मथुरा के पास मोरा नामक स्थान से पाये गये शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसे बृहस्वातिमित्र की दुहिता, राजभार्या तथा जीवित पुत्रों की माता यशमाता ने बनवाया। मथुरा के जिस राजा की यशमाता भार्या थी उसका नाम इस शिलालेख में अप्राप्य है। परन्तु वह कौशाम्बी के बृहस्वातिमित्र की पुत्री थी, यह स्पष्ट है। कौशाम्बी में बृहस्वातिमित्र के सिक्के भी प्राप्त हुये हैं। रैप्सन का मत है, 'पभोस (कौशाम्बी) के अभिलेख से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में पांचाल (अहिच्छत्रा) तथा वत्स (कौशाम्बी) में एक ही राजवंश राज्य कर रहा था और वह शुंगों का आधिपत्य स्वीकार करता था।[5] नागेन्द्र नाथ घोष ने कौशाम्बी के बृहस्वातिमित्र को शुंगों से स्वतंत्र अस्तित्व का कहा है।[6]

---

1. भंडारकर ने चितौरगढ़ के पास नगरी नामक स्थान पर उत्खनन किया था.
2. बाजपेई, पूर्वनिर्देशित, पृ० 13.
3. "पुष्यमित्रस्य षष्ठेन" का अर्थ पुष्यमित्र के छठवे पुत्र से भी लिया गया है. कतिपय विद्वान् इसका अर्थ पुष्यमित्र का छठवाँ भाई उचित समझते हैं.
4. मोरा-वेल इन्स्क्रिप्शन.
5. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० 525.
6. अर्ली हिस्ट्री आफ कौशाम्बी, पृ० 46.

यदि वायुपुराण के विवरण को आधार माना जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार पुष्यमित्र ने अग्निमित्र को विदिशा का 'महाराज' बना दिया था, उसी प्रकार अहिच्छत्रा, मथुरा, अयोध्या तथा वत्स में भी उसके अन्य पुत्र राज्य करते थे । "पुष्यमित्र के आठ पुत्र थे, जो साथ-साथ राजा हुए" (पुष्यमित्र सुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपा ।[1] हरकिशोर प्रसाद के अनुसार इसका अर्थ है :—"पुष्यमित्र का पुत्र आठ वर्ष राज करेगा ।" यही कारण है कि सुतः तथा अष्टौ के मध्य में च शब्द प्रयुक्त किया गया है ।[2]

पुष्यमित्र के सम्बन्ध में यहाँ पर यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि उसने सदैव अपना विरुद 'सेनापति' ही रखा जब कि अन्य राजाओं के साथ बड़े-बड़े विरुद धारण करने की प्रणाली चल चुकी थी ।

पुष्यमित्र के 36 वर्ष के शासन काल में ही अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र वयस्क हो चुका था । पुराणों के अनुसार अग्निमित्र ने आठ वर्ष राज्य किया । अग्निमित्र जो अपने पिता के राज्यकाल में विदिशा का शासक रह चुका था, मगध का सम्राट् हुआ, जिसकी आयु 40 वर्ष से अधिक थी । मालविकाग्निमित्र नाटक से ज्ञात होता है कि अग्निमित्र विलासी हो गया था ।[3] स्वयं उसकी रानी उससे कहती है कि यदि आर्य पुत्र राज्य की देखभाल करने में इतना समय लगाते (जितना एक सुंदरी को प्राप्त करने में लगा रहे हैं) तो कितना अच्छा होता । (मालविकाग्निमित्र 1.19-20) अग्निमित्र को अभिनय, नृत्य तथा संगीत से रुचि थी । सम्भवतः इसी कारण उसे मृच्छकटिक का रचनाकार मान कर शूद्रक से अभिन्नता स्थापित करने का प्रयास किया गया है ।[4] अग्निमित्र जितना विलासी था सम्भवत : उतना ही योग्य योद्धा भी था, जैसा उसके विदर्भ विजय से स्पष्ट है ।[5]

पुराणों में शुंगवंश के दस राजाओं के नाम दिये गये हैं । अग्निमित्र का उत्तराधिकारी वसुज्येष्ठ (मुद्राओं का ज्येष्ठ मित्र) हुआ जिसने सात वर्ष राज्य किया । वसुज्येष्ठ के उपरांत वसुमित्र दस वर्ष तक राज्य करता रहा । ऐसा प्रतीत होता है कि वसुज्येष्ठ वसुमित्र का अग्रज था । इसकी कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं । वसुमित्र ने अपनी युवावस्था में ही अपार वीरता का परिचय दे दिया था, जिससे कि दूसरे अश्वमेध के घोड़े का उसे संरक्षक बनाया गया ।

बाणभट्ट के हर्षचरित में (छठा उच्छवास) उल्लेख मिलता है कि मित्रदेव ने अति नृत्यप्रिय अग्निमित्र पुत्र सुमित्र का सिर काट लिया । इस वंश का पाँचवाँ राजा अंध्रक था, जिसे ओद्रक, आद्रक तथा भद्रक भी कहते हैं । इसने दो या सात वर्ष शासन किया । तदुपरान्त पुलिंदक तथा घोष (मित्र) ने तीन-तीन वर्ष और वज्रमित्र ने नौ या सात वर्ष राज्य किया ।

---

1. पार्जीटर का 'पुराण टेक्स्ट आफ द डायनेस्टीज आफ द कलि एज, पृ० 31.
2. जर्नल आफ द न्यू मिस्मेटिक सोसाइटी, 17, पृ० 35.
3. द्विवेदी—पूर्वनिर्देशित, पृ० 392.
4. भगवद्दत, भारतवर्ष का इतिहास, पृ० 300.
5. देखिये, *मालविकाग्निमित्र, अंक 1, पृ० 10-11;* निर्णयसागर संस्करण ।

इन राजाओं में सबसे अधिक राज्य इस वंश के नवें शासक भाग (भागभद्र अथवा भागवत) ने किया,[1] जिसके राज्यकाल की अवधि 32 वर्ष थी। सम्भवतः इसे ही काशी-पुत्र भागभद्र विदिशा के स्तम्भ लेख में कहा गया है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख वेसनगर गरुड़ स्तम्भ पर अंकित है, जिसके अनुसार तक्षशिला के यवन राजा अंताइलकी दस अथवा अंतलिकित के राजपूत दिय के पुत्र हेलियोदोर ने काशीपुत्र भाग-भद्र के राज्य के चौदहवें वर्ष में एक 'गुरुड़ध्वज' की स्थापना की।[2] विदिशा शहर से प्राप्त एक अन्य लेख से विदित होता है कि यहाँ एक प्रासादोत्तम था। सम्भवतः इसी महाराज भागवत के राज्य के दसवें वर्ष में किसी गौतमीपुत्र भागवत ने एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था,[3] जिसका आठ पहलू स्तम्भ ग्वालियर संग्रहालय में है। हाल में लेखक द्वारा किये गये उत्खनन में हेलिदोरस स्तम्भ के समकालीन विष्णु मंदिर तथा इस स्तम्भ के अतिरिक्त सात अन्य स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुये हैं।[4]

शुंगवंश का अंतिम राजा देवभूति या देवभूमि था जिसने दस वर्ष राज्य किया तथा जिसका वध उसके मंत्री वासुदेव कण्व ने कर दिया था और स्वयं राजा बन गया था।[5] हर्षचरित में इसके वध के कारण का भी सविस्तार विवरण दिया है। इतिहास के अनेक अंतिम राजाओं के समान देवभूमि भी अत्यन्त विषयी था। उसने अपने आमात्य की कन्या से बलात्कार करना चाहा, जिसके परिणामस्वरूप कन्या की मृत्यु हो गई। मंत्री वसुदेव ने देवभूति की दासी की पुत्री के द्वारा उसकी हत्या करा दी।[6]

इस प्रकार लगभग ई० पू० 73 में 112 वर्ष के शुंग साम्राज्य की समाप्ति हो गई, जिसमें विदिशा की यश-पताका भारतीय इतिहास के रंगमंच पर स्थापित हो गई थी। राजनैतिक महत्व के अतिरिक्त इस काल में ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय के साथ ही बौद्धधर्म को भी प्रोत्साहित किया गया तथा कला और संस्कृति का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ।

---

1. रैप्सन–पूर्वनिर्देशित, पृ० 470, ने स्वीकारा है कि भागभद्र शुंगवंश का राजा था तथा अंतिश्राल्कीड्स का समकालीन था। भागभद्र के 14वें राज्यकाल को ई० पू० 90 के आस पास कहा है। देखिये राय चौधरी; पो० हि० आफ ए० इ०, पृ० 393.
2. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृ० 10.
3. वही, पृ० 11.
4. ललित कला अंक 13 —इण्डियन आर्क्योलाजी ए रिव्यू 1964–65; वैष्णव धर्म और प्राचीन विदिशा।
5. विष्णुपुराण : 4, 24, 39 पृ० 352, गीता प्रेस संस्करण, देवभूतिं त शुंगराजानं व्यस-निनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेव नामा तं निहत्य स्वयंवनीं मोक्ष्यति।
   देखिये–राय चौधरी–पोलीटिकल हिस्ट्री आफ ऐशिएण्ट इण्डिया, 395.
6. अति स्त्रीसंगरतमनंगपरवशशुंगममात्यत वसुदेवो देवभूमि–दासी दुहित्रा देवी व्यंजनया वीतजीवितमकारयत्। हर्षचरित, 6, पृ० 199, बम्बई, 1925.
   देखिये–त्रिपाठी आर० एस०; हिस्ट्री आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया, पृ० 189.

कण्व वंश

पुराणों के अनुसार कण्व वंश में चार राजा हुये (चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायनाः द्विजाः[1]), जिन्होंने 45 वर्ष राज किया।[2] इनका प्रथम राजा वसुदेव काण्वायन कुल का ब्राह्मण था, जिसके उत्तराधिकारी क्रमशः भूमिमित्र, नारायण तथा सुशर्मन् थे। इनके राज्य विस्तार तथा अन्य गतिविधियों के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं है। केवल इतना ही विदित है कि इन्हें शुंगभृत्य कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि कण्वों ने स्वतंत्र रूप से शुंगों के सम्पूर्ण क्षेत्र पर राज्य नही किया, अपितु उनकी स्वाधीनता मानते रहे। वायुपुराण से भी यह अनुमान होता है कि कण्वों तथा शुंगों का राज्य साथ-साथ चलता रहा। उसमें उल्लेख है कि आंध्र नरेश सिमुक या सिंधुक ने सुशर्मन् काण्वायन एवं शुंगों की शेष शक्ति को नष्ट कर वसुधा का राज्य प्राप्त किया। किन्तु सिमुक द्वारा सुशर्मन् की शक्ति का नष्ट किया जाना उचित प्रतीत नही होता क्योंकि सिमुक का राज्य काल इससे बहुत पहले का माना गया है। वसुदेव का शासनकाल नौ वर्ष, भूमिमित्र का चौदह वर्ष, नारायण का बारह तथा सुशर्मन् का दस वर्ष रहा।

शुंग तथा कण्व राजाओं के समय में जो ग्रीक, शक तथा सातवाहनों के आक्रमण हुये उनका विधिवत उल्लेख गार्गी-संहिता के युग पुराण में मिलता है, जो उपलब्ध पुराणों में सबसे प्राचीन है।[3] सम्बन्धित अवतरण निम्नलिखित है :

"शकराज के विनष्ट होने पर पृथ्वी सूनी हो जायेगी। पुष्प नाम की नगरी सूनी हो जायेगी, अत्यन्त वीभत्स········।

"तब लोहिताक्ष अम्लाट (अम्नाट) नाम का महाबली धनुमूल (धनु के बल) से अत्यन्त शक्तिमान हो उठेगा और पुष्य नाम धारण करेगा। रिक्त नगर को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेगे। वे सभी अर्थ लोलुप और बलवान होंगे। तब वह विदेशी (म्लेच्छ) लोहिताक्ष अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा····।

"रक्ताक्ष अम्लाट भी अपने बांधवों के साथ नाश को प्राप्त होगा। तब गोपालोभाम नामक एक नृपति होगा। वह गोपाल नृपति भी पुष्यक के साथ राज्य का सालभर भोग कर निधन को प्राप्त होगा। तब पुष्यक नाम का धर्म पर राजा होगा। वह भी वर्ष भर राज करके अन्त लाभ करेगा। उसके बाद सविल नामक महाबली और अजित राजा होगा जो तीन वर्ष के शासन के बाद नष्ट होगा।

---

1. वायुपुराण।
2. डा० त्रिपाठी–पूर्वनिर्देशित, पृ० 189.
   देखिये राय चौधरी, पूर्वनिर्देशित–398–390, रैप्सन,–पूर्वनिर्देशित, 470.
3. युग पुराण श्लोकबद्ध है, किन्तु इसका प्राकृत गद्यात्मक रूप ई० पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध का माना जाता है क्योंकि इसके पश्चात् के इतिहास का विवरण इसमें नहीं है।

"फिर विकुयशस नामक अब्राह्मण लोक में प्रसिद्ध होगा। उसका शासन भी अनुचित और दुष्ट होगा, जो तीन वर्षो तक चलेगा।

"तब पुष्पपुर उसी प्रकार (पूर्ववत्) जनसंकुल (वहुसंख्यक) हो जायेगा। सिद्धार्थ-जन्मोत्सव वहाँ अत्यन्त उत्साह से मनाया जावेगा। नगर के दक्षिण भाग में उस (सिद्धार्थ वीर) का वाहन दिखाई देता है जहाँ उसके दो सहस्र अश्व और गज शकट खड़े हैं। उस समय उस स्तम्भयुक्त, भद्रपाक देश में अग्निमित्र होगा। उस देश में महारूपशालिनी एक कन्या जन्म लेगी। उसके लिये उस राजा का ब्राह्मणों के साथ दारुण युद्ध होगा। वहाँ विष्णु की इच्छा से निश्चय वह अपना शरीर छोड़ देगा। उस घोर युद्ध के वाद अग्नि-मित्र (अग्निवैश्य) का पुत्र राजा होगा। उसका शासन सफल होगा जो वीस वर्षों तक कायम रहेगा। तव महेन्द्र की भाँति वह अग्नि (मैत्र्य अथवा वैश्य) राज्य को प्राप्त कर शकों (जायसवाल-शवरों ?) की एक संघवाहिनी से युद्ध करेगा। उस युद्ध में प्रवृत्त उस राजाकी वृष कोट (?) (नामक अस्त्र) से मृत्यु हो जायेगी।........[1]

शक

ई० पू० 165–160 के लगभग मध्य एशिया में घुमक्कड़ जातियों का निष्क्रमण जोर पकड़ने लगा। चीन के उत्तर-पश्चिम में रहने वाली हियुंग-नू जाति को, जो अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात थी, अकाल से पीड़ित होकर कान-सू प्रान्त में प्रवेश करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप कान-सू में रहने वाली यू–ची जाति भी अपना प्रदेश छोड़ने के लिये विवश हुई। सीरदरिया के क्षेत्र में युचियों की शकों से मुठभेड़ हुई, जिसमें शकों की पराजय हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शक अपना देश छोड़ दक्षिण की ओर वढ़े और 140 तथा 120 ई० पूर्व के मध्य में वक्षुसिंचित वाल्त्री और पार्थिया के यूनानियों पर उन्होंने आक्रमण किया किन्तु वहाँ से असफल होकर शकों की टोलियाँ भारत की ओर अग्रसर हुई। कावुल के यूनानी राज्य से मुठभेड़ करने के उपरान्त वहाँ के पश्चिमी प्रदेश में शक लोग वस गये। अतः इस क्षेत्र का नाम सीस्तान अथवा शकस्तान हो गया। तभी उन्हें उज्जयिनी गर्दभिल्ल राजा से अपमानित जैन मुनि कालकाचार्य का निमंत्रण मिला और उनके 96 कुल वलूचिस्तान और कन्दहार होकर सिंधु के नीचे के भागों में वस गये। इस प्रकार भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त में शकों का राज्य स्थापित हो गया। शुंगों तथा सातवाहनों के शक्तिहीन होते ही उन्हें भारत में वढ़ने का सुलभ अवसर प्राप्त हुआ, जहाँ इनकी तीन शाखायें प्रसिद्ध हुई,[2] (अ) उज्जैन के क्षत्रप, (व) दक्षिण के क्षहरात (खखरात) तथा (स) मथुरा के क्षत्रप। भारत में शकों का आगमन लगभग ई० पू० 100 के हुआ।

---

1. उपाध्याय, भगवतशरण; विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास, विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृ० 5–6, सं० 2001.
2. राय चौधरी; पूर्वनिर्देशित, पृष्ठ 443, शकों के विभिन्न आवासों के लिए देखिये, रैप्सन; पूर्वनिर्देशित, पृ० 509.

मालव

सिकन्दर की सेना को सिंधु के कांठे में बसे हुये मालवगण से घोर युद्ध करना पड़ा था। यूनानी इतिहास लेखकों ने इनके साहस, तेज व समृद्धि की बड़ी प्रशंसा की है। कालान्तर में सम्भवतः शकों के आक्रमण के कारण मालवगण राजस्थान व मध्यभारत में बस गये। जयपुर के पास रेढ नामक स्थान पर उत्खनन से एक ताम्रमुद्रा प्राप्त हुई थी, जिस पर "मालव जनपदस" उत्कीर्ण है।[1]

इसी क्षेत्र के आस पास नहपान के जामाता उषवदात ने मालवों को पराभूत किया था। उषवदात ने इस विजय के उपलक्ष में बनास के किनारे अनेक दान-पुण्य किये, जिससे प्रकट होता है कि मालवों का क्षेत्र उस समय काली सिंध और बनास के बीच का चम्बल का क्षेत्र था तथा वे दशपुर और वर्तमान श्वेतपुर तक फैले हुये थे। उषवदात से दबाये जाकर सम्भवतः इन्होंने नागों से सम्पर्क स्थापित किया और पद्मावती के मार्ग से ये विदिशा आये।[2] समुद्रगुप्त ने इसी क्षेत्र में काक, सनकानीक तथा मालवों के गणतंत्रों का विनाश किया था। उस समय ये गणतंत्र विदिशा के आसपास बसे हुये थे।[3]

मालवगण की मुद्रायें उनके मालवनगर (कर्कोट) में तथा उनके इस प्रवास के ऊपर लिखे सभी क्षेत्रों में प्राप्त हुई हैं, जिन पर "मालव जनपदस" तथा "मालवाना जयः" के मंच उत्कीर्ण है। शकों के शक्तिहीन होते ही मालवों ने अपने मूल प्रदेश चम्बल, बनास और काली सिंध के क्षेत्र को अपना लिया। शकों के पराभव के समय जिस नवीन संवत् की स्थापना हुई उसका प्रयोग उन्होने चम्बल के कांठे के अपने प्रदेश में मालव सवत् के नाम से किया। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस जयः शब्द का अर्थ प्रभाव क्षेत्र बतलाया है।[4]

उज्जयिनी का गंधर्वसेन या गर्धमिलवंश

शुंग काल के पश्चात् ही उज्जयिनी मे इस वंश का प्रारम्भ हुआ। सूर्यनारायण व्यास के अनुसार इसका उदय 132 ई० पू० हुआ। जैन ग्रंथ 'त्रिलोक प्रज्ञाति' में भी शुंग राजाओं के पश्चात् उज्जयिनी पर सौ वर्ष तक गधर्व राजाओं (गंधव्वाण) का राज्य होना लिखा है। पुराणों में इसे गर्धमिल या गर्धमिन् कहा है जिसके सात राजा हुये हैं जिन्होंने 72 वर्ष राज्य किया।

---

1. कृष्णदेव, मालवों का सक्षिप्त परिचय, विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृ० 527.
2. द्विवेदी–पूर्वनिर्देशित, पृ० 402.
3. यशोवर्मन् चन्देल के वि० स० 1011 के शिलालेख में भेलसा को "मालव नदी के तीर पर स्थित" कहा गया है। मालवों ने वेत्रवती को इसी कारण "मालवनदी" नाम दिया है।
4. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 446. यद्यपि लगता तो यह है कि अपनी किसी विजय के उपलक्ष में ही मालवों ने अपने ये सिक्के चलाये थे।

के० पी० जायसवाल का मत है कि गर्धभिल वंश कलिंग के खारवेल का उत्तराधिकारी है। सम्भव है उस समय वह सातवाहन शातकर्णि की चिन्ता न करते हुये उज्जयिनी भी आ गया हो।

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस वंश के गंधर्वसेन अथवा गर्धभिल तेरह वर्ष ही राज्य कर पाया था कि शकों ने उस पर आक्रमण कर दिया और उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। इस गंधर्वसेन का पुत्र था विक्रमादित्य कालकाचार्य कथानक के अनुसार गर्धभिल ने जैनाचार्य कालकाचार्य की बहिन साध्वी सरस्वती को जैनसंघ से निकाल कर महलों में रख लिया। कालकाचार्य ने सिंधु नदी के पश्चिम में बसने वाले शक राजाओं को उज्जयिनी पर आक्रमण करने को प्रेरित किया। 95 शक सामन्तों ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर गर्धभिल को मार डाला। कालकमुनि सरस्वती को छुड़ाकर सातवाहन शातकर्णि के प्रतिष्ठानपुर चले गये। गार्गीसंहिता में उस समय की उज्जयिनी का विवरण मिलता है "ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ करेंगी..............फिर असंख्य निष्क्रांत शक प्रजा को बाध्य करेंगे कि वे आचारभ्रष्ट होकर अकर्म करें। ऐसा सुना जाता है कि जनसंख्या का चतुर्थांश शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनकी चतुर्थांश संख्या (सम्भवतः दास बनकर) अपनी राजधानी को ले जायेंगे।"[1]

स्पष्ट है कि विक्रमादित्य ने मालवों से विदिशा के अंचल में ही शकों के विरुद्ध अभियान की योजना बनाई होगी। दशार्ण में उसकी पुत्री वसुंधरा भी निवास करने लगी थी। जब विक्रमादित्य ने मालवगण तथा इस प्रदेश के स्वातंत्र्य प्रेमी योद्धाओं की मदद से उज्जयिनी से शकों का उन्मूलन किया, ई० पू० 58 में नये युग का प्रतीक संवत्सर प्रारम्भ किया गया, जिसे मालवों ने मालव संवत् कहा और विक्रमादित्य के राज्य में विक्रम संवत् कहलाया। विक्रमादित्य से सम्बन्धित घटनायें कालकाचार्य कथानक के अतिरिक्त कथा सरित सागर, जो गुनाढ्य-रचित वृहत्कथा पर आधारित है, वेताल पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, प्रवन्ध चिन्तामणि (संवत् 1361 वि०) भविष्य पुराण (प्रति सर्ग पर्व), जो पार्जीटर के अनुसार द्वितीय शताब्दी ई० का है तथा स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड में विद्यमान है।

कालकाचार्य कथा में प्रधान घटना शकों के मालव आक्रमण की है। स्टेनकोनों का कथन है कि "....बाद को ई० पू० 60 के लगभग शकों ने अपना साम्राज्य उस प्रदेश तक बढ़ा लिया था जिसे कालकाचार्य कथानक में हिंदुक देश कहा गया है (सिंधु नद का निचला प्रदेश) और उसके पश्चात् वे काठियावाड़ और मालवे की ओर बढ़े, जहाँ उन्होंने सम्भवतः अपना राष्ट्रीय संवत्सर चलाया। यहाँ सन् 57-56 ई० पू० में विक्रमादित्य ने उनका उन्मूलन किया और अपनी इस विजय के उपलक्ष्य में अपने संवत्सर का प्रवर्तन किया, जो हमें उसके प्रायः 70 वर्ष पश्चात मथुरा में प्रयुक्त मिलता है।"[2] इसी प्रकार

---

1. गार्गी संहिता के युग पुराण का अंश, द्विवेदी; पूर्वनिर्देशित, पृ० 405 पर उद्धृत। (उपाध्याय, वासुदेवशरण का कथन है कि यह विवरण कुसुमपुर का है।)
2. खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन्स की भूमिका।

रैप्सन[1] ने भी इस कथा की घटनाओं को विश्वसनीय माना है। लगभग यही मत नार्मन ब्राउन का है।

भविष्य पुराण में विक्रमादित्य का निम्नलिखित उल्लेख है :

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः ॥
तत्फलं तपसा प्राप्तः शक्तः स्वगृहं ययौ ।
जयतो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन् ॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं गतः ।
विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकंटकम् ॥[2]

सातवाहन

उपनिषद्काल में और कदाचित् उससे पहले ही जो ब्राह्मणराजन्य संघर्ष आरम्भ हो गया था, वह प्रचुर काल तक चलता रहा। उसकी वास्तविक समाप्ति गौतमबुद्ध के समय हुई, जब उनके उपदेशों के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म शिथिल पड़ गया। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि गृहस्थ विहारवासी हो चले। ब्राह्मणों के साथ श्रमणवर्ग की भी गणना होने लगी और शीघ्र क्षात्रवृत्ति वाले राजन्यों की संख्या विशेष रूप से घट चली, तभी ईरानी सम्राट् द्वारा (दारयवहु) ने बढ़ कर पंजाब (सिंधु) अपने साम्राज्य में मिला लिया। भारतीय क्षत्रियों ने वास्तव में कापाय त्रिचीवर धारण कर अपनी तलवार घर के कोनों में टिका दी। इस समय ब्राह्मण, जिनके गृहस्थ अधिकतर श्रमण अथवा ग्रहवासी बौद्ध उपासक हो गये थे, अपनी वृत्ति छूटने के कारण सम्भवतः कुछ चैतन्य हो गये। राजन्यों की तलवारें ब्राह्मणों ने उठाली और फलस्वरूप द्वितीय शती ई० पू० मे ब्राह्मण साम्राज्यों का उदय हुआ। एक ही समय में भारतवर्ष में तीन ब्राह्मण-साम्राज्य स्रुवा फेंक अस्त्रहस्त हुये। वे थे मगध के शुंग, कलिंग के चेदि तथा दक्षिण में सातवाहन।[3]

पुराणानुसार सिमुक को आंध्र सातवाहनों का आदि पुरुष तथा कण्वों का विध्वंसक कहा गया है।[4] लगभग 29 वर्ष ई० पू० उसने सातवाहन वंश की बैठन में स्थापना की।[5] इस वंश का वैमनस्य बना रहा। ई० पू० की प्रथम शताब्दी में इन शकों ने अवन्ति, दशपुर (मन्दसौर) तथा पश्चिमी मध्यभारत के अधिकाश भाग के अतिरिक्त उत्तर में बनास और चंबल के संगम के पास का वर्तमान श्योपुर का प्रदेश भी अपने अधीन कर लिया था। सिमुक के पश्चात् उसका भाई कृष्ण तथा कृष्ण के उपरान्त गौतमी पुत्र शातकर्णि ने उनसे मध्यप्रदेश का बहुत कुछ भाग अपने अधिकार मे कर लिया था। अवन्ति पर भी शातकर्णि का अधिकार हुआ कहा गया है।

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग 1, पृ० 532.
2. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 427 पर उद्धृत।
3. उपाध्याय, भगवतशरण; पूर्वनिर्देशित, पृ० 11.
4. राय चौधरी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 403.
5. त्रिपाठी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 191.

उषवदात के नासिक अभिलेख से ज्ञात होता है कि "भट्टारक (स्वामी नहपान) की आज्ञा से वर्षाऋतु में मैंने मालवों पर आक्रमण किया। उनके अवरोध से उत्तम भाद्र को छुड़ाया। मेरे आक्रमण के प्रनाद (हल्ले) मात्र से मालव भाग गये" और इसके पश्चात् वह पुष्कर गया जहाँ स्नान कर तीन सहस्र गौयें तथा गाँव दान में दिये।[1] गर्धमिलों को उज्जयिनी में समाप्त कर नहपान ने मालवों को भी प्रताड़ित किया। इस प्रकार उच्छिन्न होकर मालवों ने गर्धमिल के राजकुमार विक्रमादित्य को सहयोग देकर क्षहरातों का राज्य उज्जयिनी से समाप्त कर दिया और इसी अभियान में वे दशपुर, विदिशा और अवन्ति में फैल गये।

नहपान का राज्यकाल ई० पू० 82 से ई० पू० 77 तक माना गया है।[2] गौतमी पुत्र शातकर्णी ने गर्धमिल से नहपान द्वारा उज्जयिनी जीत चुके जाने के कारण ही भृगुकच्छ पर आक्रमण कर नहपान को समाप्त कर दिया। शातकर्णि प्रथम की रानी महादेवी नागानयनिका और उसके पुत्र वेदश्री तथा शक्तिश्री के पश्चात् इस वंश के गौरव की स्थापना महादेवी गौतमी वालश्री के "सूर्य की किरणों से प्रफुल्लित कमल के समान निर्मल मुखमंडल वाले"[3] "पूर्णचन्द्र-मंडल के सदृश्य श्री संपन्न तथा प्रियदर्शन मुख वाले, श्रेष्ठ हाथी के विक्रम तुल्य विक्रम वाले, नागराज शेष के फणों के समान शक्तिसंपन्न, विशाल, दीर्घ तथा दर्शनीय भुजाओं वाले" श्री गौतमीपुत्र शातकर्णि ने की थी। इस प्रशस्ति में लिखा है कि गौतमी पुत्र शातकर्णि ने क्षहरात कुल का मूलोच्छेदन किया और सातवाहन वंश के यश का प्रतिष्ठापन किया। इस कथन की पुष्टि जोगलथैंबी सिक्कों के ढेर से होती है जिसमें नहपान के 13, 250 सिक्कों में से लगभग दो तिहाई पर गौतमीपुत्र शातकर्णी की छाप दुबारा लगी हुई है। विजेता द्वारा प्रचलित मुद्राओं पर अपना चिन्ह अंकित कर देना उस समय की सामान्य प्रथा थी। जैन अनुश्रुति के अनुसार गौतमीपुत्र ने भृगुकच्छ में जाकर ही नहपान का वध किया था। इस प्रशस्ति में इसके अधिकार क्षेत्र का उल्लेख है। असिक, अश्मक, मुलक (अवन्ति जनपद के दक्षिण के प्रदेश), सुराष्ट (काठियावाड़), कुकुर (गुजरात का पूर्वी या दक्षिणी भाग), अपरांत (उत्तरी कोंकण), अनूप (माहिष्मती का प्रदेश), विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा) और अवन्ति (उज्जयिनी का प्रदेश) इसके अन्तर्गत थे।

साँची स्तूप के दक्षिण में तोरण पर उत्कीर्ण शिलालेख तथा उज्जैनी व देवास और जमुनियाँ (होशंगावाद) व तेवर से सिरि सत के सिक्कों से भी इसकी पुष्टि होती है।

गौतमीपुत्र शातकर्णि के पश्चात् उसका पुत्र पुलमावि राज्यारूढ़ हुआ, जिसने 36 वर्ष राज्य किया। गौतमी वालश्री का नासिक का अभिलेख इसी के राज्यकाल में उत्कीर्ण कराया गया था। इसके समय में सातवाहन साम्राज्य का और अधिक विस्तार हुआ। पहली शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ में इस वंश का राजा हाल था। वृहत्कथा के लेखक गुणाढ्य

---

1. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० 845.
2. वही, पृ० 848.
3. नासिक शिलालेख : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत 2000, पृ० 134.

का आश्रयदाता सातवाहन भी ईस्वी प्रथम शताब्दी के अंतिम भाग में हुआ था। ईस्वी दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में उज्जयिनी में कार्दमक शक क्षत्रपों का उदय हुआ। रुद्रदामा (130-1-0 ई०) ने अपनी राजकुमारी का विवाह सातवाहन वंश के इक्कीसवें राजा गौतमीपुत्र पुलमावि से किया। इस वैवाहिक सम्बन्ध के होते हुये भी रुद्रदामा ने सातवाहनों का बहुत सा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। गौतमीपुत्र पुलमावि सम्भवतः विदिशा पर अधिकार रख सका था, क्योंकि विदिशा में उसकी आकृति युक्त स्वर्णमुद्रा प्राप्त हुई है।[1] द्विवेदी का यह मत अधिक युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि उन्होंने यह मुद्रा नदी में गोता लगाने वाले व्यक्ति से उपलब्ध की थी।

इस वंश का अंतिम शक्तिशाली राजा श्रीयज्ञ शातकर्णि था (157-186)[2]। बेसनगर, तेवर तथा देवास से इसके सिक्के प्राप्त हुये थे। पुलमावि चतुर्थ (231-238 ई० स०) के साथ ही सातवाहन वंश का अंत हो गया जो ई० पू० 205 वर्ष में प्रारम्भ हुआ था।

शक-क्षत्रप

इनकी अनेक शाखायें थीं, जिनमें से पंजाब, मथुरा तथा पश्चिमी भारत की शाखायें विशेष प्रसिद्ध रही हैं। अन्तिम शाखा का इस क्षेत्र के इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस पश्चिमी शाखा में भी दो वंश थे, क्षहरात तथा कार्दमक। क्षहरातों में (जिनके विषय में पहले ही कहा जा चुका है) भूमक तथा नहपान अधिक प्रसिद्ध हैं। परम नहपान शक्तिशाली क्षत्रप था जिसके दामाद उषवदात के शिलालेख से ज्ञात होता है कि नहपान का साम्राज्य विस्तार उत्तरी कोकन (सूर्परक) से काठियावाड़ (प्रभास), मंदसौर, उज्जैन, अजमेर आदि तक फैला था। नासिक के गुफालेख दस में उल्लेख मिलता है कि नहपान के दामाद उषवदात ने मालव आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपने मित्र उत्तमभद्रों की सहायता की थी, जिसमें मालवों की पराजय हुई थी (देखिये पृ० 65)।

क्षत्रपों की दूसरी शाखा का नाम कार्दमक था, जिनकी राजधानी उज्जैनी थी, तथा जिनका सातवाहनवंश के पिछले राजाओं से संघर्ष चला था। क्षत्रपों का यह वंश भारत के अन्य क्षत्रपों में सबसे अधिक प्रभावशाली तथा गौरवशाली हुआ। इस वंश के राज्य का संस्थापक जामोतिक (यसोमतिक) का पुत्र चष्टन महाक्षत्रप था। सम्भावना यह की जाती है कि उज्जयिनी में राज्य स्थापित करने के पूर्व चष्टन कुषाणों के अधीन सिंध में कहीं राज्य कर रहा था और उनके द्वारा ही वह दक्षिण-पश्चिम भारत का क्षत्रप नियुक्त किया गया। ई० सन् के पूर्व चष्टन उज्जयिनी का महाक्षत्रप बना। चष्टन के एक चाँदी के सिक्के

---

1. डॉ० हरिहर द्विवेदी; द जर्नल आफ द न्यूमिसमैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, 1953, भाग 1, ग्रंथ 14.
2. जायसवाल काशीप्रसाद की सूची के अनुसार, कतिपय विद्वान् इसका राज्यकाल 165-193 ई० स० मानते हैं।

पर ब्राह्मी लिपि में "राज्ञोम (हा) क्षत्रपस घसाभौतिक पुत्र (स चष्टनस)"[1] लिखा है तथा अभी तक प्रयुक्त खरोष्ठी लिपि के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा गया। इससे ज्ञात होता है कि रुद्रदामा के पूर्व चष्टन ने ही इस प्रदेश की संस्कृति को अपना लिया था, अन्यथा खरोष्ठी के स्थान पर ब्राह्मी न प्रयुक्त की गई होती। चष्टन के सिक्के उज्जैन, विदिशा तथा शिवपुरी से प्राप्त हुए हैं।

चष्टन का उत्तराधिकारी उसका पुत्र जयदामा था, किन्तु वह स्वतंत्र शासक नहीं था, अर्थात् चष्टन के अधीन क्षत्रप बना रहा। जयदामा की मृत्यु चष्टन के राज्यकाल में ही हो गई थी, जिसके उपरान्त जयदामा का पुत्र रुद्रदामा प्रथम लगभग 130-131 ई० में महाक्षत्रप बना। इसकी जूनागढ़ प्रशस्ति के अनुसार जब जातियों ने मिलकर उसे अपना स्वामी अथवा रक्षक नियुक्त किया था।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रुद्रदामा की पुत्री का विवाह वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि के साथ हुआ था।[2] यह शातकर्णि सम्भवतः जायसवाल की सूची का 22 वाँ राजा वासिष्ठीपुत्र चतरपण शातकर्णि रुद्रदामा का जामाता था। रुद्रदामा ने लिखा है कि दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार खुले युद्ध में हराकर भी निकट सम्बन्ध के कारण उसे उखाड़ा नहीं। रुद्रदामा शक्तिशाली शासक व विजेता ही नहीं था अपितु प्रतिभाशाली तथा बुद्धिमान भी था। उसने विदेशी बनकर शासन करने की असफलता को समझ लिया था। यही कारण है कि सातवाहनों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के साथ ही उसने शुंगों के समय में हुए संस्कृत भाषा के पुनरुत्थान को अपनाने का प्रयास किया। रुद्रदामा का यह शिलालेख इस युग के व्यापक सिद्धान्तों के प्रभाव का प्रतीक है।

इस प्रशस्ति में रुद्रदामा के राज्य की सीमायें भी दी गई हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा (आकर तथा अवन्ति) के अतिरिक्त ग्यारह क्षेत्रों के नाम उसमें उत्कीर्ण हैं। इसी प्रशस्ति में सुदर्शन झील का इतिहास दिया गया है और अमात्य सुविशाख के निरीक्षण में पहले से तीन गुनी तथा सुदर्शनतर बनाये जाने का उल्लेख है। रुद्रदामा का अत्यन्त परिष्कृत, विद्वान् तथा कला मर्मज्ञ होने के प्रमाण सुविशाख की इस प्रशस्ति में प्राप्त होते हैं।

रुद्रदामा के पश्चात् उसका पुत्र दामजद उज्जयिनी का महाक्षत्रप हुआ, जिसने शान्तिपूर्वक राज्य किया। किन्तु इसकी मृत्यु के उपरान्त ही गृह-कलह प्रारम्भ हो गया। दामजद का पुत्र जीवदामा महाक्षत्रप तो बना किन्तु अपने चाचा रुद्रसिंह प्रथम द्वारा अपदस्थ कर दिया गया। इस कार्य में उसने आभीर सेनापति की सहायता ली थी। कुछ ही समय में ईश्वरदत्त नामक एक अन्य आभीर सेनापति ने रुद्रसिंह को राज्यच्युत कर दिया। दो वर्ष बाद पुनः रुद्रसिंह महाक्षत्रप बन गया।

---

1. द्विवेदी, एच०व्ही०; ए न्यू सिल्वर काइन आफ चष्टन एज महाक्षत्रप, जा० आ० द न्यू० सो० आफ इण्डिया, अंक 14, 1953, पृ० 20-21.
2. कन्हेरी गुफा से प्राप्त एक खण्डित अभिलेख।

इस कलह के परिणामस्वरूप यज्ञश्री शातकर्णि ने क्षत्रपों से उत्तर कोंकण जीत लिया। उत्तर मध्यभारत में मालवों ने भी अपनी हलचलें आरम्भ कर दीं। रुद्रसिंह (प्रथम) से राजच्युत जीवनदामा ने राज्य ले लिया और वह लगभग 197 ई० में महाक्षत्रप बन गया। उसका पुत्र रुद्रसेन उसके अधीन क्षत्रप के रूप में काम करने लगा। जीवदामा के पश्चात् रुद्रसेन (प्रथम) ने 200 से 222 ई० तक शासन किया। इसके राज्य में मालवा, गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिमी राजपूताना क्षत्रपों के अधीन था।

इस समय उज्जयिनी के शक क्षत्रप पूर्णतः हिन्दू संस्कृति और धर्म को अपना चुके थे। आंध्र के इक्ष्वाकु राजा वीरपुरुषदत्त ने उज्जयिनी के शकों की राजकुमारी रुद्रधर भट्टारिका से विवाह किया।

रुद्रसेन प्रथम के पश्चात् उसका छोटा भाई संघदामा राजा हुआ, जिसके समय में उत्तर मध्यभारत के मालवों ने विद्रोह कर दिया। मालवगणाध्यक्ष श्री सोम ने चम्बल के उत्तरी क्षेत्र के मालवों को स्वतन्त्र कर लिया और नान्दसा में यज्ञ किया। मालवों के साथ युद्ध करते समय ही सम्भवतः संघदामा की लगभग 223 ई० में मृत्यु हो गई। सिंध भी इनके हाथ से निकल गया और संघदामा के उत्तराधिकारी दामसेन के अधिकार में केवल मालवा, गुजरात और काठियावाड़ रह गये। तत्पश्चात् यशोदामा, उसका छोटा भाई विजयसेन, दामजद तृतीय महाक्षत्रप हुए। रुद्रसेन द्वितीय 255 ई० में महाक्षत्रप बना किन्तु लगभग उसी समय वाकाटक वंश के संस्थापक विंध्यशक्ति ने उन्हें मालवा से बाहर निकाल दिया।[1] चष्टन के वंशजों की राजधानी उज्जयिनी से हटकर गिरिनगर (जूनागढ़) चली गई। वाकाटकों ने उनकी राज्यसीमा को अत्यन्त सीमित कर दिया और आगे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उनके राज्य का अन्त कर दिया।

रुद्रदामा के उत्तराधिकारियों के सिक्के मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। महाक्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम के सिक्के शिवपुरी में, रुद्रसेन प्रथम के शिवपुरी, साँची तथा सिवनी में, रुद्रसेन द्वितीय के केवलारी, गोंदरमऊ, बेसनगर व साँची में, विश्वसिंह के साँची में तथा भर्तृदामा के बेसनगर व साँची में प्राप्त हुए हैं।

कार्दमक वंश के क्षत्रपों के अतिरिक्त परवर्ती शक क्षत्रपों के भी कुछ सिक्के तथा अभिलेख उपलब्ध हुए हैं। रुद्रसेन द्वितीय के सिक्के साँची में पाये गये।

अभिलेखों में पश्चिम क्षत्रपों से सम्बन्धित एक अभिलेख उज्जैन से प्राप्त हुआ है तथा विदिशा-एरण क्षेत्र में राज्य करते हुए एक नये शक वंश के शासक श्रीधरवर्मन् का एक अभिलेख एरण से तथा दूसरा साँची के निकट बानाखेरा से प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त, आभीर ईश्वरदत्त का एक सिक्का बेसनगर से प्राप्त हुआ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है पश्चिमी क्षत्रपों के मालवा क्षेत्र पर शासन काल में कुछ थोड़े समय के लिए अभीरों ने भी राज्य किया था, किन्तु क्षत्रपों ने उन्हें यहाँ से भगा दिया।

---

1. जयचन्द्र विद्यालंकार : सुराष्ट्र क्षत्रप इतिहास की पुनः परीक्षा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत 1994, पृ० 22.

कुषाण

ईसा पूर्व शताब्दी में मध्य एशिया में जो अनिकेत जातियों की हलचलें हुई थीं उनमें एक यूची जाति भी थी, जिसके विषय में पिछले अध्याय में भी कुछ कहा जा चुका है। लगभग ई० पू० 140 में इस यूची जाति ने वाख्त्री पर अधिकार कर लिया। इनके वहाँ पाँच भाग हो गये थे, जिनमें से एक कुषाण थे तथा जिनका नेता वांग अथवा कुजूला कैडफिसीज था। उसने पार्थियनों के राज्यों को समाप्त किया, काबुल में फैले यूनानी राज्यों को पराजित किया तथा अपने सिक्कों पर महाराज, महन्त तथा महाराजाधिराज के विरुद्ध उत्कीर्ण कराये। कुजुल का राज्यकाल, 15 से 65 ई० सदी माना जाता है।[1] डा० मोतीचन्द्र[2] के अनुसार उसका राज्य लगभग ई० पू० 25 से प्रारम्भ हुआ और ई० सन् के प्रथम पाद में समाप्त हो गया।

कुजुल का पुत्र विमकैदफीसीज कुषाण वंश का द्वितीय शासक था, जिसने सन् 75 ई० तक शासन किया। इसकी मुद्रायें पंजाब से बनारस तक प्राप्त हुई हैं। यद्यपि इसके साम्राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है, गांधार, पंजाब और उत्तरप्रदेश के कुछ भाग पर अवश्य उसका अधिकार रहा होगा। विमकैदफीसीज का एक सिक्का विदिशा में प्राप्त हुआ। इसके सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि में महाराजस राजाधिराज सर्व लोग ईश्वरस महिश्वरस विमा कदफिसस त्रतरस लिखा मिलता है तथा शिव और नन्दी की आकृति भी अंकित मिलती है।

सन् 78 ई० में कनिष्क प्रथम का राज्याभिषेक हुआ, माना जाता है। विम कैदफीसीज के पश्चात् कनिष्क ही सिंहासनारूढ़ हुआ, किन्तु इसके समय के विषय में इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। शक संवत् का प्रारम्भ कनिष्क के राज्याभिषेक के साथ ही माना जाता है।

कनिष्क महान सम्राट् था, जिसने अपनी योग्यता तथा बाहुबल से अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाया। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर कनिष्क के अधिकार में आ गया था। चीनी तथा तिब्बती बौद्ध अनुश्रुतियों में उसने साकेत तथा पाटलिपुत्र पर भी अधिकार किया, ऐसा बतलाया गया है। कनिष्क के राज्य की सीमा दक्षिण में विदिशा तक थी, जैसा उसके उत्तराधिकारी राजातिराज देवपुत्र शाहि वासिष्क के साँची से प्राप्त शिलालेख से अनुमान किया जा सकता है। पद्मावती के नागों को वह पहले ही पराजित कर चुका था। स्पष्ट है कि वासिष्क के राज्यकाल में भी विदिशा कुषाण वंश के अधिकार में थी। इतने विशाल साम्राज्य का शासन प्रबन्ध कनिष्क ने क्षत्रपों द्वारा ही प्रशासित किया होगा।[3]

---

1. देखिये रैप्सन-पूर्वनिर्देशित, पृ० 524, डा० त्रिपाठी पृ० 222, रायचौधरी पृ० 461.
2. सार्थवाह, पृ० 96.
3. सारनाथ में बौद्ध प्रतिमा पर उत्कीर्ण अभिलेख में कनिष्क के दो क्षत्रपों, वनस्पर तथा खरपल्लान का उल्लेख मिलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कनिष्क ने धर्म को राजनैतिक कारणों से अपनाया था। इसके विशाल राज्य में यूनानी, ईरानी, भारतीय सभी थे। इसके सिक्कों पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि, शिव, हैरेलिन, सेराजिय आदि देवताओं के तथा बुद्ध के चिन्ह अंकित मिलते हैं। इसके राज्यकाल में बौद्धधर्म को सबसे अधिक प्रश्रय मिला। विचित्र बात यह है कि बौद्ध प्रजा की ओर से ही दान दिये गये हैं, सम्राट् ने कभी दान दिया, ऐसा कोई लेख नहीं प्राप्त हुआ।

इसने अपने राज्यकाल में पेशावर में एक बौद्ध सभा बुलाई थी, जिसके अध्यक्ष वसुमित्र थे तथा उनके निर्देश पर सभा का संचालन अश्वघोष करते थे। इसी सभा में हीनयान के स्थान पर भक्तिपरक महायान की स्थापना हुई, जिसमें बुद्ध को मूर्तिरूप देकर आराध्य देव का स्थान दे दिया गया। यही कारण है कि गांधार के यूनानी शिल्पियों ने बुद्ध, बोधिसत्व तथा बुद्ध जीवन की अगणित मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ किया। कुषाणों के समय में मथुरा इस मूर्तिकला का प्रधान केन्द्र रहा है। इसके राज्यकाल में कला के साथ विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध भी रहे, जिनमें रोम मुख्य है। रोम से व्यापार बढ़ाने के लिए कनिष्क ने रोम के सोने के सिक्कों की तौल भारतीय सिक्कों को दे दी।

अनुश्रुति के अनुसार कनिष्क के सेनापति और सामन्तों ने उसकी हत्या कर दी थी। यह घटना लगभग 101 या 102 ई० सन् में हुई थी। वासिष्क ने सम्भवतः 102 से 106 ई० सन् तक राज्य किया। इसके राज्यकाल के दो अभिलेख मथुरा तथा साँची से प्राप्त हुए हैं। मथुरा का लेख संवत् 24 का माना गया है। दूसरे लेख के अनुसार साँची में किसी "खर" की दुहिता मधुकरि ने एक बौद्ध मूर्ति का निर्माण महाराज राजातिराज देव पुत्र शाहि वासिष्क के राज्य के 28 वें संवत्सर में कराया था।

वासिष्क के पश्चात् हुविष्क ने 106 से 138 ई० सदी (शक संवत् 26 से 60) तक राज्य किया। इसके सिक्कों तथा अभिलेखों से राज्य विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि इसके राज्य में काबुल से लेकर मथुरा तक का भाग था तथा मध्यप्रदेश के झाझापुरी, शहडोल तथा हरदा भी सम्मिलित थे, पद्मावती तथा विदिशा से कुषाण आधिपत्य समाप्त हुआ दिखाई देता है। हुविष्क को भी बौद्ध धर्म का पोषक कहा गया है। उसके समय के बौद्ध विहार तथा चैत्य अवशेष मथुरा में पाये गये हैं, किन्तु उसके सिक्कों पर बुद्ध की मूर्ति नहीं है। अनेक यूनानी-ईरानी देवी-देवताओं के अतिरिक्त स्कन्द, विष्णु, महासेन, कुमार, विशाख आदि की आकृतियाँ उन पर पाई जाती है। कुछ मुद्राओं पर एक धनुषधारी देवता के नीचे "गणेश" लिखा देखा गया है।

वासुदेव प्रथम के अभिलेखों तथा सिक्कों से ज्ञात होता है कि इसका राज्य विस्तार बहुत सीमित हो गया था। यद्यपि इसका नाम उसके भागवत धर्म के अनुयायी होने का द्योतक है, इसके सिक्कों पर केवल शिव और नंदी की आकृति मिलती है।

नवनाग

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि शिवनन्दी (ज्येष्ठ नाग) के पश्चात विदिशा पर शुंगों का आधिपत्य हो गया था। कालान्तर में वहाँ शक, मालव, सातवाहन, कुषाण

और क्षहरात बारी-बारी से आधिपत्य जमाते रहे। इस बीच नागों ने स्वतंत्र शासक अथवा मांडलिकों के रूप में पद्मावती को अपना केन्द्र बनाया। उनकी राज्य व्यवस्था का रूप मुख्यत: केन्द्रीय सत्ताप्रधान होने के कारण समस्त विंध्य-अंचल में वे गणों के रूप में शक्तिशाली रहे। सम्भवत: सबसे पहले विदिशा में ही उनका राज्य जमा।

इस नवोदित नागवंश के आधार पुराणों के कुछ उलझे हुए उल्लेख, उनके सिक्के, मूर्तियाँ तथा निर्माण हैं। जिन नाग शासकों के विषय में कुछ निश्चित तिथियाँ ज्ञात हो सकी हैं वे निम्न लिखित हैं।

(1) गणपति-नाग ई० सन् 344-345 तक विद्यमान।

(2) भवनाग ,, 290 के लगभग विद्यमान।

(3) विभुनाग ,, 80-90.

मुरैना जिले के कुतवार नामक स्थान से 18,659 नागों के सिक्कों की ढेरी प्राप्त हुई थी और उनकी लगभग इतनी ही मुद्रायें झांसी में प्राप्त हुई थीं। द्विवेदी ने कुतवार को पुराणों में उल्लिखित कांतीपुरी नामक नागों की राजधानी से अभिन्न माना है।[1]

जिन नाग राजाओं के सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनमें वृष, व्याघ्र तथा भीम के सिक्के संख्या में कम हैं तथा अधिक घिसे हैं जिससे अनुमाना जा सकता है कि ये पूर्वतम राजाओं में से थे। विभु, देव तथा प्रभाकर के सिक्के तौल तथा आकार में एक से होने के कारण उन्हें एक ही क्रम में राज्य करते हुए माना जा सकता है।

'नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीम् पद्मावतीम् नृपा: के नव नाग का अर्थ नौ नाग राजाओं से समझा जाता था। किन्तु अब तक लगभग तेरह राजाओं की संख्या प्राप्त हो चुकी है, अत: यह निश्चय है कि 'नव' शब्द विदिशा के 'ज्येष्ठ' नागों से विवेध बताने के लिए प्रयुक्त किया गया था। विष्णु पुराण[2] वर्णित तीन शाखाओं से इस मत की पुष्टि होती है—"नव नागा: मथुरायां कान्तिपुर्यां पद्मावत्याम्" (नवनागों ने मथुरा, कांतिपुरी व पद्मावती राजधानियाँ बनाकर राज्य किया) वायु पुराण में मथुरा और पद्मावती के नागों का उल्लेख है, जिसमें उनके क्रमश: सात व नौ राजाओं की संख्या दी गई है।[3]

सिक्कों के आधार पर ज्ञात होता है कि नागवंश की स्थापना विदिशा में हुई थी तथा कालान्तर में यहाँ से उनकी शाखायें कांतिपुरी व मथुरा पहुँची। त्रिवेदी का मत है कि यह तीनों शाखायें एक ही हैं।[4]

---

1. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ 14.
2. विष्णु पुराण—जीवनन्द भट्टाचार्य द्वारा संपादित, पृ० 595.
3. नवना (गा)भोक्षयन्ति पद्मावती नृपा:
   मथुरा च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै:।
4. त्रिवेदी, एच० व्ही०; केटालोग आफ द को इंस आफ द नाग किंग्स आफ पद्मावती,

नागवंश का संस्थापक वृषनाग था, जिसने ई० स० की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में विदिशा में इस वंश की नींव डाली।[1] विदिशा के नागों को पुराणों ने वृष कहा है। नाग सिक्कों का वृषनाग विदिशा से पद्मावती आया हो, यह सम्भावित है तथा उसीने वहाँ राज्य स्थापित किया होगा। उसकी मुद्राओं पर केवल नंदी का लांछन मिलता है। वह अन्य नाग मुद्राओं से भिन्न है, जिनमें नंदी वामाभिमुख अथवा दक्षिणभिमुख है, इसके स्थान पर, सामने की ओर मुख किये नन्दी बना है। पद्मावती में एक सुंदर मानवाकार नंदी की मूर्ति भी प्राप्त हुई है। संभवतः वैदिश वृष ही इनका निर्माता रहा हो। द्विवेदी का अनुमान है कि ई० सन् के प्रारम्भ के कुछ पूर्व अथवा उसके पश्चात वृषनंदी पद्मावती आया होगा।[2] विदिशा से वृषनाग के सिक्के प्राप्त हुए हैं। उत्खनन से प्राप्त सिक्कों से विदिशा का नागवंश का प्रमुख केन्द्र होना सिद्ध होता है।

भीमनाग (210-230 ई०) ने सम्भवतः विदिशा से पद्मावती को राजधानी बनाया था, जिसके पश्चात स्कन्दनाग, वसुनाग तथा बृहस्पतिनाग राजा हुये। बृहस्पतिनाग का राज्य ई० सन् की तीसरी शताब्दी के अन्त में समाप्त हो गया था। भीम की मुद्राओं पर मयूर और नंदी हैं तथा स्कन्द के सिक्कों पर मयूर, नंदी और अश्व के लांछन मिलते हैं। अश्व लांछन युक्त सिक्के के पीछे "....वराज" शब्द पढ़ा गया है। स्कन्द के इस अश्वयुक्त सिक्के से यह अनुमान किया जा सकता है कि वह अश्वमेधयाजी था।....बृहस्पति के सिक्कों पर मयूर, नंदी, त्रिशूल, परशु तथा चक्र हैं।

नाग राजाओं का क्रम वृष, भीम (210-230 ई०) स्कन्द, वसु तथा बृहस्पति था।[3]
पद्मावती के अंतिम छः नाग राजा थे :

विभुनाग, रविनाग, प्रभाकर नाग, भवनाग, देवनाग तथा गणपतिनाग। देवनाग के सिक्के पद्मावती के अतिरिक्त कानपुर में भी प्राप्त हुए हैं। इसके एक सिक्के पर जायसवाल ने 'देवस' के स्थान पर 'नवस' पढ़ा था।[4] किन्तु विंसेण्ट स्मिथ ने 'देवस' पढ़ा। वीरसेन के समय में विस्तृत किया गया साम्राज्य इन नाग राजाओं ने अक्षुण्ण रखा था। जायसवाल ने देवनाग का राज्य 27 वर्ष माना है, जो लगभग 240 ई० में समाप्त हो गया था, जिसके पश्चात् प्रभाकर राजा बना, जिसकी मुद्राओं पर सिंह के लांछन का प्रयोग किया गया है। सिंह शिव की शक्ति पार्वती का वाहन माना गया है। प्रभाकर ने विंध्यवासिनी का भक्त होने के कारण अपने सेनापति को विंध्यशक्ति नाम दिया होगा। यह घटना सन् 248 ई० के पूर्व की होना चाहिये। इसके समय तक विदिशा से दक्षिण तक बेतवा की समस्त घाटी नागों के राज्य में आ चुकी होगी।

---

1. वही, जर्नल आफ द न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, 15, पृ० 121.
2. द्विवेदी—पूर्व निर्देशित, पृ० 472.
3. त्रिवेदी, एच० व्ही०; केटालाग आफ द काइन्स आफ द नाग किंग्स आफ पद्मावती, (भूमिका)।
4. अंधकार युगीन भारत, पृ० 35.

भवनाग का उल्लेख शिलालेखों में भी मिलता है तथा इसके सिक्कों में अधिराजश्री लिखा गया है। इसके समय तक नाग साम्राज्य दिल्ली से विंध्याचल तक, पश्चिम में लाहोर से पूर्व में प्रयाग तथा बस्तर तक फैल गया था। भवनाग के पहले ही वीरसेन ने कुषाणों से मथुरा लेली थी।

वाकाटक वंश के संस्थापक विंध्यशक्ति[1] तथा उसके राज्यकाल के विषय में कुछ चर्चा अनिवार्य है। जायसवाल ने इसका राज्यकाल 248-284 ई० स० माना है[2] तथा डा० अल्तेकर ने 255-275 ई० स०। जो कुछ भी हो विंध्यशक्ति का उदय भवनाग के पूर्व हो गया था। अल्तेकर के अनुसार, "पुराणों में विंध्यशक्ति को विदिशा और पुरिका का शासक कहा गया है। पुरिका बृहत्संहिता के अनुसार दशार्ण से मिली हुई थी और उसके एक ओर कहीं विदर्भ था और दूसरी ओर मूलक।"[3]

वाकाटक के इस ब्राह्मण सेनापति विंध्यशक्ति ने विंध्य में तथा पश्चिम में नर्मदा के छोर तक नागों की शक्ति को बढ़ाया होगा। इसी के द्वारा अवन्ति से कार्दमक शकों का उन्मूलन किया गया। विंध्यशक्ति के वंश में भगवान ने अपनी पुत्री का विवाह किया था।

भवनाग ने शिव के रूप की परिकल्पना को पूर्ण किया। शिव का नन्दी, पार्वती का वाहन सिंह, स्कंद का वाहन मयूर, शिव का परमास्त्र त्रिशूल और सम्भवतः सातवाहनों द्वारा स्मरण किये गये रुद्र ऋषि परशुराम का परशु इसके समय तक नाग मुद्राओं पर आसीन हो चुके थे।[4]

पद्मावती के नागवंश का अन्तिम राजा गणपतिनाग था, जिसके अनेक सिक्के प्राप्त हो चुके हैं तथा जिन पर केवल महाराज श्री का विरुद रह गया है। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तम्भ लेख में उल्लेख मिलता है कि इसे समुद्रगुप्त ने हरा कर इसके राज्य को गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था।[5]

अल्तेकर[6] का मत है कि कान्तिपुरी के भारशिवो ने कुषाण साम्राज्य को समाप्त नहीं किया था, जबकि जायसवाल[7] का कथन है कि भारशिव नागों के नेतृत्व में कुषाणों के विरुद्ध संघबद्ध प्रयास किया गया था। अल्तेकर लिखते हैं, "यद्यपि यह मत (कि कुषाणों को यौधेयों ने निकाल फेंका) केवल मात्र सिक्कों के साक्ष्य पर आधारित है, तथापि यह

---

1. अजंता की गुफा नं० 16 का शिलालेख।
2. अंधकार युगीन भारत, पृ० 172.
3. ए न्यू हिस्ट्री आफ द इण्डियन प्यूपिल, खण्ड 6, पृ० 96.
4. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 477.
5. इलाहाबाद पिलर इंस्क्रिप्शन, (कोरपस इंस्क्रिप्शनम् इण्डीकैरम ग्रंथ 3, 1-17, 1888).
6. पूर्वनिर्देशित, खण्ड 6, पृ० 27.
7. पूर्वनिर्देशित, पृ० 117,

गुप्तवंश

जिस समय वाकाटक वंश का दक्षिण में उदय हुआ, लगभग उसी समय गुप्त वंश की स्थापना तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में गंगा की घाटी में हुई, जिसका संस्थापक महाराज श्री 'गुप्त' था। इस वंश के मूल स्थान के विषय में इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है।[1] बंगाल, मगध तथा सारनाथ आदि स्थानों को इससे संबद्ध किया गया है। किन्तु गंगाघाटी में ही कहीं इनके मूल स्थान होने की अधिक सम्भावना है। पुराणों में इन्हें 'धारण' गोत्रीय ब्राह्मण कहा है। मालविकाग्निमित्र के अनुसार अग्निमित्र की पट्टमहिषी धारिणीदेवी थी, जो सम्भवतः धारण नगर की थी। हरिहर निवास तथा हरगोविन्द द्विवेदी[2] का मत कि पुष्य-मित्र शुंग के विदिशा में किये गये अश्वमेध में सम्मिलित विष्णुगुप्त धारण नगर का ही रहा होगा तथा पढावली का नाम धारौन, गुप्तकाल के पूर्व ही हो गया होगा, जिसे कनिंघम ने गुप्तकाल में हुआ कहा है। पद्मावती के भवनाग का प्रयाग का यह सामन्त श्रीगुप्त इस धारोन (धारण) का निवासी था। जब आगे उसके वंशज समुद्रगुप्त ने अपने पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह नाग राजकुमार कुवेरनागा से किया, तब इसे कुवेरनागा की राज-कुमारी वाकाटक ललाम प्रभावती गुप्ता ने स्वयं को बड़े गौरव से 'धारण-संगोत्रा' कहा :[3] वह धारण से आने वाले श्रीगुप्त के वंश में उत्पन्न हुई थी और अपनी माता कुवेरनागा के पितृपक्ष के नाग-साम्राज्य की एक प्रमुख नगरी की पावन स्मृति उसके मस्तिष्क में थी। यह स्मरणीय है कि गुप्त सम्राटों ने अपने किसी अभिलेख में अपने आपको धारण नहीं लिखा, मानो उन्होंने उसे छुपाया हो।[4] प्रभावती गुप्ता ने अपने पितृ वंश का प्रारम्भ महाराज श्री घटोत्कच गुप्त से किया है तथा चन्द्रगुप्त प्रथम व समुद्रगुप्त के साथ महाराज के विरुद का प्रयोग किया है, जबकि गुप्त अभिलेखों में इनका क्रम 'महाराज' 'श्रीगुप्त', 'महाराज श्री घटोत्कचगुप्त' और 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (प्रथम)' है। इस अंतर का तात्पर्य द्विवेदी के अनुसार यह है कि धारण के श्री गुप्त केवल मात्र पद्मावती के नागों के सामन्त अथवा सेनापति थे, वास्तव में अपने स्वामी से विद्रोह किया था घटोत्कच गुप्त ने और वह सफल भी हुआ था।

गुप्तों के वंश के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं है।[5] जायसवाल ने कौमुदी-महोत्सव के आधार पर इन्हें शूद्र माना है। विष्णुपुराण के[6] अनुसार 'गुप्त' नामान्तधारी

---

1. राय चौधरी–पूर्वनिर्देशित, पृ० 527-29 ने इसे मगध माना है। डा० स्मिथ ने भी इसी पक्ष का प्रतिपादन किया है। डा० मजूमदार के अनुसार बंगाल है।
2. द्विवेदी–पूर्वनिर्देशित, पृ० 494-495.
3. डा० सरकार, डी० सी०, सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० 411 व 415.
4. डा० जायसवाल : अंधकार युगीन भारत, पृ० 249.
5. राय चौधरी–पूर्वनिर्देशित, पृ० 527, पाद टिप्पणी 2.
   डा० त्रिपाठी: पूर्व निर्देशित, पृ० 232.
6. शर्मादेवश्च विप्रस्यवर्मा ज्ञाता च भूभुजः
   भूतिर्गुप्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत ।। विष्णुपुराण, 3, अध्याय 10, छंद 5.

वैश्य थे । डा० अल्तेकर[1] ने भी उन्हें वैश्य वर्णी कहा है, कतिपय विद्वान[2] इन्हें क्षत्रिय-वंशी मानते हैं । किन्तु गुप्त वंशीय राजाओं को ब्राह्मण मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इनके वैवाहिक सम्बन्ध ब्राह्मण वर्ण में हुये तथा इस वंश के सभी शासक प्रायः वैष्णव धर्मावलम्बी थे ।[3]

जैसा कहा गया है, महाराज श्रीगुप्त ने इस वंश की स्थापना की । इसके राज्य विस्तार के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । कुछ विद्वानों ने इसे सामंत राजा कहा है तथा कतिपय के अनुसार यह स्वतंत्र शासक था । कुछ मुहरों पर गुप्तस्य, श्री गुप्तस्य, श्री गुप्त लिखा पाया गया है, जिन्हें श्री गुप्त से संबद्ध किया गया है ।

इसका उत्तराधिकारी इसका पुत्र घटोत्कच हुआ, जिसका समय 300 ई० सन् से प्रारम्भ हुआ कहा गया है । इसके राज्यकाल में गुप्त राज्य का आंशिक विस्तार हुआ । लगभग 318–319 ई० स० तक इसने शासन किया । "श्री घटोत्कच गुप्तस्य" लेख वैशाली से प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित पढ़ा गया है ।

घटोत्कच का पुत्र चंद्रगुप्त उसका उत्तराधिकारी हुआ । उसका नाम स्वभावतः चन्द्र था और उसके नाम के साथ पितामह का नाम संयुक्त हो जाने से उसका नाम चंद्रगुप्त पड़ा । 'गुप्त' 'चंद्र' का पितामह ही नहीं, गुप्त राजवंश का आदिपुरुष एवं संस्थापक भी था । अतएव यहीं से 'गुप्त' का इस वंश के अन्य सदस्यों के नाम से संयुक्त करने की परम्परा सदैव के लिये स्थायी हो गई ।[4]

विष्णु पुराण के अनुसार :

"नवनागाः पद्मावत्यां कान्ति पुर्यां मधुरायामनुगंगाप्रयागं मागधा गुप्ताश्च मोक्ष्यन्ति" —जब नवनाग पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा में राज्य कर रहे थे, तब मगध के लोगों के साथ गुप्त गंगातट वाले प्रयाग में राज्य कर रहे थे । राजनीति में निपुण, महाराजाधिराज चंद्रगुप्त शक्तिशाली राजा था, जिसने लगभग 30 वर्ष के अपने शासनकाल में गुप्त राज्य का विस्तार किया तथा गुप्त वंश की नींव दृढ़ की ।

चंद्रगुप्त प्रथम का लिच्छवि राजकुमारी कुमार देवी से वैवाहिक सम्बन्ध अत्यन्त ऐतिहासिक महत्व का सिद्ध हुआ । लगभग सभी विद्वानों का मत है कि इस सम्बन्ध से गुप्त तथा लिच्छवि साम्राज्य एक हो गये । लिच्छवि प्रमुख (चंद्रगुप्त के स्वसुर) के पुत्र रहित होने के कारण लिच्छिवि दोहित्र समुद्रगुप्त उस राज्य का अधिकारी हुआ, किन्तु

---

1. डा० अल्तेकर, वाकाटक गुप्ता एज, पृ० 342.
2. ओझा, राजपूताना का इतिहास, पृ० 113–14.
3. राजाओं में सदा असवर्ण विवाह होते आये हैं जैसे आज भी होते हैं–भरतपुर=मैसूर, वड़ौदा=कूचविहार, कूचविहार=जयपुर ।
4. डा० राधेशरण : प्राचीन भारतीय इतिहास का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप, पृ० 265.

समुद्रगुप्त के अल्पवयस्क होने के कारण लिच्छवि राज्य चंद्रगुप्त को ही सम्हालना पड़ा। इसी के उपलक्ष में चंद्रगुप्त व कुमारदेवी के चित्रों वाली मुद्राओं का प्रचलन किया गया, जिनके दूसरी ओर "लिच्छवयः" लिखा हुआ मिलता है। इस कूटनीतिज्ञता के फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य का विस्तार बढ़ गया।

चंद्रगुप्त प्रथम के उपरान्त समुद्रगुप्त राज्य सिहासनारूढ़ हुआ। चंद्रगुप्त द्वारा समुद्रगुप्त का भरी सभा में राज्य का उत्तराधिकारी घोषित करना अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। कवि हरिषेण ने इस घटना का वर्णन अत्यन्त रोचक शब्दों में किया है। चंद्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के उपरान्त जो उत्तराधिकारी के लिये संघर्ष हुआ उससे उत्पन्न अव्यवस्थित स्थिति का लाभ अच्युत व नागसेन ने भी उठाना चाहा, किन्तु सर्वगुणसम्पन्न समुद्रगुप्त ने सभी का दमन कर डाला।

समुद्रगुप्त अत्यन्त ही पराक्रमी सम्राट् था। उसने अपनी सेना को सुदृढ़ करके गणपतिनाग, नागसेन और अच्युत नंदी को परास्त किया, नागदत्त, मत्तिल, रुद्रदेव, चन्द्रवर्मा तथा बलवर्मा के राज्य समाप्त कर दिये, नाग राज्य की सीमा में प्रवेश कर मालव, आमीर, काक, खर्परक तथा आर्यावर्त के अन्य गणराज्यों को अपना अनुगामी बनाया और वाकाटक रुद्रसेन को हराकर वशवर्ती कर लिया। लगभग ई० सन 350 तक समुद्रगुप्त आर्यावर्त्त की यह विजय पूर्ण कर चुका था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उसने नागों के समस्त अधिकार क्षेत्र को अपने साम्राज्य में मिलाकर वीरसेन को पद्मावती का करद शासक नियुक्त कर दिया था। हर्षचरित में बाणभट्ट द्वारा वर्णित घटना से ज्ञात होता है कि वीरसेन की स्वातंत्र्य भावना मिट न सकी अतः सम्भवतः उसने स्वतंत्र होने का प्रयास किया था। नाग कुल में जन्म लेने वाला पद्मावती का नागसेन सारिका द्वारा भेद खोल दिये जाने पर नष्ट हुआ।[1]

युद्ध क्षेत्र में परास्त कर देने मात्र से किसी भी देश पर संपूर्ण विजय नहीं की जा सकती तथा पराजित देश अथवा जाति के आंदोलन करने की अधिक सम्भावना रहती है। यही कारण है कि समुद्रगुप्त ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना अधिक श्रेयकर समझा। उसने वीरसेन की बहिन या पुत्री कुबेरनागा से अपने पुत्र राजकुमार चंद्रगुप्त (द्वितीय) का विवाह किया। इस विवाह को करके उसने अपने वंश की परम्परा को जीवित रखा जिसके अनुसार राजनैतिक दृष्टि से हितकर सिद्ध होने वाले वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये जाते थे।[2] इस विवाह से वह मध्यदेश के नागों को तथा शक्तिशाली नाग दौहित्र वाकाटकों को निकट लाना चाहता था।

रामगुप्त

दो वर्ष पूर्व तक अनेक विद्वानों का मत था कि रामगुप्त नामक गुप्त साम्राज्य का कोई शासक नही था, यद्यपि उसका साक्ष्य देवी चंद्रगुप्तम्, हर्षचरित तथा राजशेखकर की

1. हर्षचरित, षष्ठोच्छ्वास।
2. लिच्छवि दौहित्र होने के कारण समुद्रगुप्त को मगध का राज्य प्राप्त हुआ।

काव्य-मीमांसा, आदि से प्राप्त होता है। प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने प्रारम्भ से ही अत्यंन्त दृढ़तापूर्वक इस मत का खण्डन किया तथा प्रमाण स्वरूप विदिशा क्षेत्र से प्राप्त रामगुप्त की मुद्राओं को पुरातात्विक आधार माना। सन् 1963-65 में लेखक द्वारा किये गये उत्खनन से भी रामगुप्त की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। अभी हाल में विदिशा से तीन जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिन पर उत्कीर्ण लेखों से रामगुप्त का महाराजाधिराज होना निश्चित रूप से सिद्ध होता है। एरण से प्राप्त समुद्रगुप्त के लेख से यह ज्ञात होता है कि उसके अनेक पुत्र व पौत्र थे। सम्भवतः रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का अग्रज था, जिसने एरण में समुद्रगुप्त का प्रतिनिधित्व किया हो, तथा समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त वह इस क्षेत्र का राजा बन बैठा हो। किन्तु मालवा पर किये गये शक आक्रमण ने उसकी कायरता को स्पष्ट कर दिया तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने जो पाटलि पुत्र में समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी था, मालवा से यवनों को खदेड़ कर, रामगुप्त का वध कर उसकी पत्नी से विवाह कर लिया। चंद्रगुप्त द्वितीय की मालवा प्रकार की चाँदी की मुद्राओं का प्रचलन शकों के अनुकरण पर ही किया गया। एरण व विदिशा से प्राप्त इसके ताँबे के सिक्कों पर सिंह तथा गरुड हैं तथा रामगुप्त लिखा हुआ है। किन्ही-किन्ही सिक्कों पर गरुड़ध्वज भी पाया जाता है।

सन् 1969 में दुर्जनपुर नामक ग्राम से, जो प्राचीन विदिशा का एक अंग था, तीन जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ आजकल विदिशा के शासकीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन मूर्तियों की पीठिका पर लेख उत्कीर्ण किये गये हैं। अभाग्यवश इन लेखों में कोई तिथि नहीं दी गई है। फिर भी पुरालिपि तथा विषयवस्तु के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रामगुप्त गुप्तवंश का शासक था तथा 'देवीचंद्रगुप्त' में वर्णित कथा में सत्यता है।

इतना तो एरण से प्राप्त समुद्रगुप्त के लेख से विदित ही होता है कि उसके अनेक पुत्र व पौत्र थे। सम्भवतः रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का अग्रज था, जिसने एरण विदिशा क्षेत्र में उसका प्रतिनिधित्व किया होगा और समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त इस क्षेत्र का शासक बन बैठा हो। किन्तु शक आक्रमण में उसकी कायरता ने उसे राज्य छोड़ने को ही विवश नहीं किया अपितु, जीवन से भी हाथ धोने पड़े।

इन जैन मूर्तियों पर चार-चार पंक्तियों के लेख हैं।[1] तीसरी प्रति का लेख अस्पष्ट है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ प्रतिमा एक व दो के लेखों के समान ही थीं। प्रतिमा एक व दो की इन दो पंक्तियों में केवल मूर्ति के नाम का अन्तर है। प्रथम व द्वितीय लेखों के अनुसार चन्द्रप्रभा तथा पुष्पदत्त की प्रतिमायें महाराजाधिराज रामगुप्त द्वारा बनवाई गई थीं। तृतीय लेख में चन्द्रप्रभा ही लिखा प्रतीत होता है।

इन लेखों में "महाराजाधिराज" शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि रामगुप्त प्रतापी गुप्त वंश का शासक था, जिसका अधिकार विदिशा क्षेत्र पर रहा होगा क्योंकि पुरालिपि के आधार पर इन लेखों की लिपि की साम्यता साँची से प्राप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के

---

1. गाई, जी० एस०; थ्री इंस्क्रिप्शन्स आफ रामगुप्त, जर्नल आफ द ओरियेंटल इंस्टीट्यूट, ग्रंथ 18, मं० 3, मार्च 1963, पृ० 247-250.

लेख से है। यही नहीं, एरण के समुद्रगुप्त लेख की लिपि भी इसी प्रकार की है। मूर्तिकाल की दृष्टि से भी ये तीनों प्रतिमायें चतुर्थ शताब्दी ई० की हैं। इनकी प्रभावली उतनी परिष्कृत नहीं है जितनी साँची की बुद्ध प्रतिमाओं की है। साँची की बुद्ध मूर्तियाँ पाँचवीं शताब्दी ई० की मानी गई है।[1] अपरंच मूर्तियों के आधार मध्यस्थ केवल चक्र चिन्ह हैं, जो जैन प्रतिमा विज्ञान की प्रारंभिक अवस्था के द्योतक हैं।

अतः इन लेखों के आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि महाराज रामगुप्त गुप्तवंश का राजा ही नहीं था वरन् चंद्रगुप्त द्वितीय का अग्रज भी था जिसने कुछ समय के लिए अपने पिता समुद्रगुप्त के पश्चात् इस क्षेत्र में राज्य किया था। यद्यपि रामगुप्त के सिक्कों को पुरालिपि के आधार पर पाँचवीं शताब्दी का अनुमाना गया है, इन पर अंकित तीन चार अक्षरों की बनावट इस विषय के अध्ययन क्षेत्र को सीमित कर देती है। नवीन अन्वेषण के संदर्भ में यदि उनका पुनः अवलोकन किया जाय तो सम्भव है कि रामगुप्त के सिक्कों की तिथि भी चौथी शताब्दी ई० मानी जाय।

शकराज व रामगुप्त के वध के पश्चात् प्रचलित की गई चंद्रगुप्त द्वितीय की मालवा प्रकार की चाँदी की मुद्राएँ, जिन पर गुप्त संवत् 90 (409 ई० स०) अंकित है, शकों के अनुकरण पर ही बनाई गई थीं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय

लगभग 366-367 ई० सन् में वह राज्य सिहासनारूढ़ हुआ। इसके प्राप्त छः अभिलेखों में से तीन विदिशा क्षेत्र से ही प्राप्त हुए हैं। दो लेख उदयगिरि की गुफाओं में उत्कीर्ण हैं, जिनमें से एक तिथि रहित है, तथा एक साँची स्तूप पर है। उदयगिरि की गुफा नं० 20 के लेख मे गुप्त सम्वत् 82 (401-402 ई०स०) है, जिसमें सनकानीक महाराज द्वारा दी गई भेंट का वर्णन किया गया है। उसके सांधिविग्रहिक (युद्ध व शांति मंत्री) वीरसेनशाब के शिलालेख से विदित होता है कि वीरसेन पृथ्वी विजय की कामना करने वाले चंद्रगुप्त द्वितीय के साथ पाटलिपुत्र से यहाँ आया। साँची के लेख से, जो गुप्त सम्वत् 93 (412-413 ई० स०) में उत्कीर्ण किया गया था, चंद्रगुप्त द्वितीय के वरिष्ठ योद्धा आम्रकार्दव द्वारा साँची महाविहार को दिये गये दान का वर्णन है। चंद्रगुप्त की इस विजय का वर्णन कालिदास ने भी किया है।[2]

चंद्रगुप्त द्वितीय के नाग राजकुमारी कुबेरनागा से वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। चंद्रगुप्त ने गणतन्त्री जनराज्यों को परास्त कर उन पर अपना सम्पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् 387-388 में उसने

---

1. मार्शल व मजूमदार द्वारा सम्पादित; मानुमेंट्स आफ साँची, ग्रंथ 2, चित्र 70.
2. परभृतकलव्याहरेषु त्वमान्तरतिर्मवुंनयसि विदिशातीरोद्या ने स्वमंग इवांगवान। विजयकरिणामाला नत्व गतैः प्रवलस्य ते वरद वरदारेघोवृक्षेः सहावनतोरिपु॥ मालविकाग्निमित्रम् (पंचमोऽक)। कतिपय विद्वान इसे चंद्रगुप्त से सम्बन्ध करने में शंका करते हैं।

शक राजा रुद्रसिंह को पराजित कर लगभग तीन सौ वर्षों के शक शासन को सदैव के लिए समाप्त कर दिया। उसने अवन्ति और काठियावाड़ की शक शक्तियों को विनष्ट कर ही विक्रमादित्य का विरुद धारण किया तथा अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से उज्जयनी को अपनी द्वितीय राजधानी बनाया।

चन्द्रगुप्त ने अपनी वंश परम्परानुसार अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता (कुबेरनागा से उत्पन्न) का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन से कर उनसे अपने मैत्री सम्बन्ध सुदृढ़ रखे। अपूर्व प्रतिभा का सम्राट् यद्यपि वैष्णव धर्म का अनुयायी था, वह अन्य धर्मों के प्रति अत्यन्त ही सहिष्णुता का व्यवहार करता था। उसका सांधिविग्रहीक वीरसेन शिवभक्त था तथा सैनिक अधिकारी अर्मकार्दव बौद्ध था। यही कारण है कि फाहियान ने भी चंद्रगुप्त की दानशीलता तथा धर्म सहिष्णुता की प्रशंसा की है। लगभग 414–415 ई० सन् तक उसने राज्य किया।

कुमार गुप्त

अभी तक प्राप्त जानकारी के अनुसार इसके राज्यकाल के नौ अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एक उदयगिरि (106 गुप्त संवत्) तथा दूसरा साँची (131 गुप्त संवत्) से मिला है। लगभग 415 ई० सन् में कुमार गुप्त राजा बना, जिसने चालीस वर्ष की लम्बी अवधि में शांतिपूर्वक राज्य किया। 'अश्वमेध महेन्द्र' नामक विरुद उल्लिखित स्वर्णमुद्राओं से स्पष्ट है कि अपनी वंश परम्परानुसार कुमार गुप्त ने भी अश्वमेध किया था। इसके शासन के अंतिम दिनों में पुष्यमित्र शुंग के वंशज "पुष्यमित्रों" ने संभवतः नर्मदा घाटी में विद्रोह किया था। किन्तु युवराज स्कन्दगुप्त द्वारा उसका दमन कर दिया गया था।

कुमारगुप्त का साम्राज्य हिमालय की तराई से नर्मदा घाटी तथा पूर्व व पश्चिम में समुद्रों तक विस्तीर्ण था। इसके शासन काल में भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्यपाल नियुक्त किये गये थे, जिनमें से बंगाल में चिरातदत्त, दशपुर में बंधुवर्मन् तथा एरण में घटोत्कच गुप्त विशेष उल्लेखनीय है।

स्कन्दगुप्त

लगभग 455 ई० सन् में स्कन्दगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। कुमार की मृत्यु होते ही स्कन्दगुप्त को हूणों का सामना करना पड़ा। किन्तु उसने अपने बाहुबल से विधर्मी हूणों को पराजित कर दिया। इस प्रकार अगले पचास वर्ष तक गुप्त साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने में वह समर्थ हुआ। चंद्रगुप्त मौर्य के समय में निर्मित सुदर्शन झील का पुनः जीर्णोद्धार स्कन्दगुप्त के राज्यकाल ही में हुआ था। यह गुप्तवंश का अंतिम महत्वपूर्ण सम्राट् था जिसने अपने पूर्वजों के साम्राज्य को सुरक्षित ही नहीं बनाया, अपितु अन्य लोकोपकारी कार्यों की प्रथा को भी प्रचलित रखा। इसका राज्यकाल 455 से 467 ई० स० तक रहा।

स्कन्दगुप्त की मृत्यु पर गुप्त राज परिवार के दो भाग हो गये। पुरुगुप्त कुमारगुप्त (प्रथम) का वैधानिक उत्तराधिकारी होते हुए भी स्कन्दगुप्त के पश्चात् ही राजा बनने में सफल हुआ (467 ई० स०)। लगभग इसी समय गोविन्द गुप्त मालवा में स्वतंत्र हो

गया। पुरुगुप्त का उत्तराधिकारी नरसिंह गुप्त बालादित्य हुआ, जिसके पश्चात् कुमारगुप्त (द्वितीय) ने 477 ई० तक शासन किया।

गुप्तवंश का दूसरा परिवार बुधगुप्त का था जिसमें बुधगुप्त, वैन्यगुप्त, भानुगुप्त तथा व्रजगुप्त शासक हुये। बुधगुप्त के विषय में कहा गया है कि वह स्कन्दगुप्त तथा पुरुगुप्त का भाई था। इसके राज्यकाल के अनेक लेख व मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें एरण का स्तम्भलेख गुप्त सम्वत् 165 में उत्कीर्ण हुआ था। बुधगुप्त का शासन काल 477-495 ई० स० तक का निर्धारित किया गया है। उसका राज्य विस्तार बंगाल से मध्यप्रान्त तक था। इसके सामन्त शासकों में ब्रह्मदत्त व जयदत्त (बंगाल में), मातृ विष्णु (पूर्वी मालवा में) तथा सुरश्मिचन्द (मध्य प्रदेश में) के नाम अभिलेखों से ज्ञात हुये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार बुधगुप्त के पश्चात् नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त तथा विष्णुगुप्त राजा हुये।

गुप्त संवत् 191 (510 ई० स०) के एरण स्तम्भलेख से विदित होता है कि इस समय भानुगुप्त एक स्वतंत्र शासक हो चुका था तथा इसने गोपराज के साथ हूणों से युद्ध किया था जिसमें गोपराज दिवंगत हुआ था, तथा गोपराज की पत्नी वहाँ सती हुई थी। हूणों के इस संघर्ष में मालवा के यशोवर्मन् ने भी हाथ बँटाया। यद्यपि इस संघर्ष में विजय गुप्तों की ही हुई, गुप्त सत्ता का अन्त होने में अधिक समय नहीं लगा।

हूण[1]

लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य मध्य एशिया से निकली हुई इस बर्बर व क्रूर जाति के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। ये लगभग पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत की ओर बढ़े किन्तु यद्यपि स्कन्दगुप्त ने इन्हें खदेड़ दिया था, उसकी मृत्यु के उपरान्त गुप्त साम्राज्य के विच्छिन्न होते ही हूणों का आतंक सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर फैल गया।

इस जाति का प्रथम शासक तोरमाण था, जिसके दो अभिलेख—कुर (पंजाब) तथा एरण (म० प्र०) से प्राप्त हुये है। वराह पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि उसने बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् लगभग 510 ई० सन् में एरण पर अधिकार कर लिया था तथा मात्र विष्णु ने, जो बुधगुप्त की ओर से एरण में शासक नियुक्त किया गया था, तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली। इसने जो सिक्के प्रचलित किये वे गुप्तों के मध्य भारतीय ढंग पर ढाले गये थे तथा उन पर 'विजितावनिखनि पति श्री तोरमण' लिखा हुआ है। लेखक को (1952-53) तोरमाण की एक मुद्रा कौशाम्बी उत्खनन से प्राप्त हुई थी।

तोरमाण का उत्तराधिकारी मिहिरकुल था। उसके राज्यकाल के 15वें वर्ष का एक शिलालेख ग्वालियर से प्राप्त हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि उसका आधिपत्य पंजाब से मध्यभारत तक था। इसका राज्यकाल लगभग 518 से 530 ई० स० अनुमाना गया है।

---

1. देखिये—मोदी; अर्ली हिस्ट्री आफ द हूणाज, जर्नल आफ द बोम्बे एशियाटिक सोसायटी, 24, पृ० 589-95.

मालवराज यशोवर्मन द्वारा मिहिरकुल सन् 528 ई० में पराजित हुआ। इसके पश्चात् भी मध्य भारत में 'हूण-मण्डल' का उल्लेख मिलता है, किन्तु शनैः शनैः उनकी सत्ता समाप्त हो गई।

पुष्यभूतिवंश

पुष्यभूति ने इस वंश की स्थापना की थी, जिसमें नरवर्धन, राज्यवर्धन, आदित्य-वर्धन, प्रभाकर वर्धन, राज्यवर्धन तथा हर्ष राजा हुये। इन सबसे प्रथम स्वतंत्र शासक प्रभा-कर वर्धन था, जो एक कुशल सैनिक भी था। हर्षचरित के अनुसार, "वह हूण रूपी हरिण लिये सिंह, सिंधुराज के लिये ज्वर, गंधार राजरूपी मदगन्धी हाथी के लिये घातक महा-कारी, गुर्जरदेश की निद्रा को भंग करने वाला, लाटों की पटुता का अपहरण करने वाला तथा मालव देशरूपी लता की शोभा को नष्ट करने वाला परशु था।[1]" हर्ष चरित से यह भी विदित होता है कि किन परिस्थितियों में राज्यवर्धन ने, मालवा के दुष्ट स्वामी द्वारा गृहवर्मन् का प्राणान्त किये जाने पर, हर्ष को थानेश्वर की राजधानी सौंपकर दस सहस्त्र अश्वारोहियों सहित मालवनरेश पर आक्रमण किया। युद्ध में विजय राज्य वर्धन की हुई, किन्तु गौड़ राजा के झूठे सम्मान को स्वीकार करने पर उसकी हत्या कर दी गई। सोड़स-वर्षीय बालक ने राज्य की इच्छा न करते हुये भी बड़ी पटुता से राज्य भार को सम्हाला।

आसाम के राजा भास्कर वर्मन से मित्रता के उपरान्त अपनी विधवा बहिन को विन्ध्यवन से खोजकर वह कन्नौज पहुँचा। वहाँ की प्रजा तथा राजनीतिज्ञों ने हर्ष को ही निस्सन्तान गृहवर्मन् का उत्तराधिकारी बना दिया।

हर्ष के दक्षिणी अभियान से सम्बन्धित इतिहासकारों के अनेक मत हैं।[2] यदि डा० मुकर्जी पुलकेशिन् के साथ युद्ध का कारण वल्लभी का आक्रमण कहते हैं, तो डा० अल्तेकर इसे मालवा और गुजरात में साम्राज्यवादी योजनाओं का परिणाम कहते हैं। एहोल अभि-लेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन् ने हर्ष को नर्मदा के आगे नहीं बढ़ने दिया। हर्ष-पुल-केशिन् युद्ध लगभग 634 ई० सन् में हुआ था। परिणामस्वरूप इन दोनों राज्यों की सीमा नर्मदा बन गई। इस प्रकार हर्ष का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक तथा गुजरात, सिन्ध व पंजाब से बंगाल, उड़ीसा तथा आसाम तक फैला हुआ था। सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर उसका प्रभाव होने के कारण है उसे 'सकलोतरापनाथ' कहा गया है।[3]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ईसा पूर्व की छठवी-पाँचवीं शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक का विदिशा का इतिहास जितना ही महत्वपूर्ण रहा, कालान्तर में उसका महत्व उतना ही कम होता गया। सातवीं शताब्दी के मध्य में, हर्ष के मरणोपरान्त, इस क्षेत्र के

---

1. हर्षचरित : (कावेल व टामस) पृ० 101.
2. डा० राधेशरण—पूर्वनिर्देशित, पृ० 331.
3. पंथारी : हर्षवर्धन शीलादित्य, पृ० 68-73.
   पणिक्कर—हर्ष, पृ० 22-26.
   मुकर्जी, हर्ष, पृ० 43.

विषय में अधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। लगभग एक शताब्दी के पश्चात् जब त्रिकोणात्मक युद्ध प्रारम्भ हुये, मालवा क्षेत्र पुनः प्रकाश में आने लगा।

राष्ट्रकूट

मान्य खेत शाखा के राष्ट्रकूटों का प्रथम शक्तिशाली शासक दंतिदुर्ग था, जो सन् 733 ई० स० में गद्दी पर बैठा। समनगढ़ तथा एलोरा के अभिलेखों में इसकी विजय के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें मालवा का भी वर्णन है। एक अन्य अभिलेख से विदित होता है कि उसने उज्जैनी पर आक्रमण कर इसके गुर्जर शासक को परास्त किया तथा उसे बन्दी बनाया। अपनी विजय के उपलक्ष में दन्तिदुर्ग ने हिरण्य गर्भ का दान किया। स्पष्ट है कि लगभग 750 ई० स० में मध्यप्रदेश का बड़े भाग पर उसका आधिपत्य हो चुका था। कृष्ण प्रथम, गोविन्द द्वितीय तथा ध्रुव का भी अधिकार इस क्षेत्र पर रहा।

सर्वप्रथम मालवा के गुर्जर प्रतीहार वत्सराज ने कन्नौज पर आक्रमण कर इंद्रायुद्ध को अपने आधीन शासन हेतु बाध्य किया। बंगाल के पाल राजा धर्मपाल का प्रभुत्व इस समय प्रयाग तक फैल चुका था। अतः पाल तथा प्रतीहार वंशों में संघर्ष अनिवार्य हो गया। इस अवसर पर राष्ट्रकूट ध्रुव ने विंध्याचल को पार कर गंगाघाटी मे प्रवेश किया तथा वत्सराज व धर्मपाल को एक-एक करके पराजित किया। भारतीय इतिहास के इस त्रिकोणात्मक युद्ध के प्रथम चरण में ध्रुव की विजय रही।

गोविन्द तृतीय ध्रुव का पुत्र व उत्तराधिकारी था, जिसने 783–814 ई० स० तक राज्य किया। वह महत्वाकांक्षी शासक था। संजन अभिलेख से विदित होता है कि उसने भी अपने पिता के समान गंगा घाटी में प्रवेश किया था। अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर वह हिमालय तक पहुँच गया था। इस अभियान में गोविन्द तृतीय का अनुज इन्द्र जिसे मालवा का शासक नियुक्त किया गया था, ससैन्य मालवा में उसके आवागमन के मार्ग की रक्षा करता रहा।

जब गोविन्द तृतीय को दक्षिण स्थित राज्य को परिस्थितियों वश लौटना पड़ा, प्रतीहार नाग भट्ट ने कन्नौज तथा अपनी राजधानी उज्जैनी से कन्नौज स्थानान्तरित कर दी। कृष्ण द्वितीय को मालवा पर अपना आधिपत्य सुरक्षित रखने के लिए, गुर्जर प्रतीहार भोज से युद्ध करना पड़ा। कृष्ण द्वितीय की मृत्यु सन् 914 ई० के उत्तरार्ध में हुई। कृष्ण तृतीय सन् 939 ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके राज्यकाल की सबसे महत्वपूर्ण घटना उत्तरी भारत पर आक्रमण करना था। इसने बुंदेलखण्ड के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। मालवा पर आक्रमण कर उसने परमार शासक सीमक को परास्त कर उज्जैनी को भी अधिकृत कर लिया। लगभग 975 ई० स० में चालुक्य राजा तैल द्वितीय ने राष्ट्रकूट के अंतिम शासक इन्द्र चतुर्थ से राष्ट्रकूट साम्राज्य के अपने अन्तर्गत कर लिया।

राष्ट्रकूट सामन्तों के अनेक अभिलेखों में से एक लेख पठारी (जिला विदिशा) से उपलब्ध हुआ, जिसकी तिथि संवत् 917 दी गई है। इस लेख के अनुसार परब (परबल) नामक राष्ट्रकूट द्वारा शौरी (विष्णु या कृष्ण) के मंदिर में गरुड़ध्वज के निर्माण का उल्लेख है।

गुर्जर प्रतीहार

इस वंश का प्रथम प्रतिभाशाली शासक नागावलोक या नागभट्ट था जिसने 730-756 ई० स० तक शासन किया। इसे राष्ट्रकूट वंश के दंतिदुर्ग ने पराजित किया था। जो भी हो, नागभट्ट ने अरबों को भड़ौच तक खदेड़ कर अपने प्रभुत्व को बढ़ाया। नागभट्ट के उत्तराधिकारी उसके भतीजे कुक्कुट व देवराज हुये, जिनकी गणना निर्बल शासकों में की जाती है। देवराज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र वत्सराज इस वंश का राजा हुआ, जो अत्यन्त महत्वाकांक्षी शासक था। इसने अपनी विजयों से कीर्ति अर्जित की तथा त्रिकोणीय युद्ध में धर्मपाल को परास्त किया। इसका वर्णन कुवलयमाला नामक जैन ग्रंथ में प्राप्त होता है। हरिवंश पुराण में भी इसका उल्लेख है, जिसके अनुसार वत्सराज का अधिकार मालवा तथा पूर्वी राजपूताना पर था। अन्त में वह स्वयं राष्ट्रकूट राजा ध्रुव द्वारा पराजित हुआ।

वत्सराज का उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय था, जिसने 800–834 के शासन-काल में प्रतीहार सत्ता को कन्नौज में स्थापित किया तथा पूर्वजों के गौरव को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा की। ग्वालियर की भोज-प्रशस्ति[1] से ज्ञात होता है कि उसने आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), मालवा, मत्स्य (पूर्वोत्तर राजस्थान), किरात (हिमालय प्रदेश), तुरुष्क (सिंध के अरब) और वत्स पर विजय प्राप्त की थी।

नागभट्ट के पश्चात् उसका पुत्र रामभद्र सिंहासनारूढ़ हुआ, जिसने सन् 834–836 ई० स० तक ही राज्य किया। वह दुर्बल शासक था। रामभद्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र मिहिर भोज हुआ। उसने लगभग अर्धशताब्दी के अपने शासनकाल में (836–885) राज्य को विस्तृत व सुदृढ़ किया। उसने बुंदेलखण्ड पर पुनः आधिपत्य कर लिया। भोज का साम्राज्य सतलज व सिंघ से नर्मदा तक तथा बिहार व उड़ीसा में पाल सीमा तक फैला था। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष की निर्बलता से भोज ने उज्जैन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके शासनकाल में उज्जैनी के लिए राष्ट्रकूटों से निरन्तर युद्ध होता रहा। अरब यात्री सुलेमान के अतिरिक्त, अभिलेखों तथा सिक्कों से भी भोज के साम्राज्य, शासन तथा व्यक्तित्व आदि पर प्रकाश पड़ता है।

भोज की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल 885 ई० में राजा हुआ, जिसने 910 ई० तक शासन किया। इसका शस्त्र तथा शास्त्र दोनों पर समान अधिकार था। राजशेखर जैसे कवियों को उसने अपने दरबार में प्रश्रय देकर विद्या व कला को प्रोत्साहित किया।

महेन्द्रपाल के पश्चात् उसके दो पुत्र भोज (द्वितीय) तथा महीपाल सिंहासनारूढ़ हुये। महीपाल ने 913-945 ई० तक शासन किया। प्रतापगढ़ अभिलेख से विदित होता है कि उज्जैन महीपाल के अधिकार में था। महीपाल का उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल द्वितीय गद्दी पर बैठा (946-948 ई०), जिसके पश्चात् पन्द्रह वर्ष की अवधि में चार राजा हुये,

---

1 ग्वालियर की भोज प्रशस्ति–एपीग्राफिया इंडिका, ग्रंथ 18, पृ० 107-10.

जिनकी दुर्बलता के कारण सामन्तों ने विद्रोह कर डाला, जिनमें गुजरात के चालुक्य, बुंदेलखण्ड के चंदेल, मालवा के परमार, डाहल के चेदी, शाकम्भरी के चाहमान आदि थे। प्रतीहार वंश के अंतिम तीन राजा राज्यपाल, त्रिलोचनपाल तथा यशपाल हुये, जिनके समय में सामन्तों के उत्पात तथा गज़नी के मुसलमानों ने इस वंश को विनष्ट कर डाला। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रतीहार साम्राज्य का पतन हो गया।

कन्नौज के प्रतीहारों के पतन के पश्चात् भी उनके तीन गौण शाखाओं के राज्य बने रहे, जिन्हें (1) गुनावेश-चंदेरी क्षेत्र, (2) शिवपुरी, (3) जबलपुर तथा दमोह में पाया गया।

चंदेल राजवंश

चंदेल राजाओं की राजधानी खजुराहो थी। नन्नुक (825-840 ई०), वाक्पति (845-865) जयशक्ति व उसका भ्राता विजयशक्ति, राहिल (885-905 ई०) के उपरान्त हर्ष देव ने बीस वर्ष राज्य किया। यह महत्वपूर्ण राजा था। उसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन् ने अपने पच्चीस वर्ष के शासनकाल में (925-950 ए० डी०) साम्राज्य का विस्तार किया। खजुराहो में सन् 954 ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि उसने काश्मीर तक अपनी विजय पताका फहराई थी। इसके राज्य के अन्तर्गत मालवा भी था। यशोवर्मन के उपरान्त धंग राजगद्दी पर बैठा (950-1008 ई०)। उसने क्षीण प्रतीहार सत्ता का बहिष्कार कर दिया तथा अपने राज्य को विस्तृत व सुदृढ़ किया। इसका राज्य विस्तार कालिंजर से मालवनदी (बेतवा), मालव नदी से कालिंदी (यमुना) तथा कालिंदी से चेदि राज्य व चेदि राज्य से गोपाद्रि तक था। धंग का उत्तराधिकारी गंड सन् 1004 ई० में सिंहासनरूढ़ हुआ किन्तु वह अधिक समय तक शासन न कर सका। उसके उत्तराधिकारी विद्याधर ने 1017-1029 ई० तक शासन किया। उसने मालवा के परमार शासक भोज तथा 'कलचुरि चंद' के साथ युद्ध किये, जिनमें उसकी विजय हुई। विद्याधर के पश्चात् विजयपाल (1030-1050 ई०), देव वर्मन् (1050-1060 ई०) तथा कीर्तिवर्मन् (1060-1100 ई०) ने राज्य किया। कीर्तिवर्मन् ने अपने चालीस वर्ष के शासन काल में चंदेल शक्ति का पुनरुत्थान करने में सफलता प्राप्त की। सल्लक्षण वर्मन् ने 1100 से 1115 ई० तक राज्य किया तथा परमार शासक नरवर्मन् को पराजित कर मालवा को लूटा। उसका उत्तराधिकारी पृथ्वीवर्मन् हुआ (1120-1129 ई०)।

सन् 1129 ई० में मदन वर्मन् चंदेल राजा सिंहासन पर आया। यह यशस्वी शासक था, जिसके राज्यकाल में इस वंश का पुनरुत्थान हुआ। उसने मालवा के परमार शासक यशोवर्मन् को पराजित किया तथा विदिशा को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि विदिशा को जीतने के लिए उसे गहड़वाल राजा गोविन्द चंद्र के साथ युद्ध करना पड़ा। उसने चेदि शासक, गयाकर्ण को भी पराजित किया। उसके राज्यकाल में गुजरात के चालुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज ने धार व महोबा को जीतने के पश्चात् उसकी राजधानी पर आक्रमण किया। मदन वर्मन् ने इस आक्रमण से

राजधानी की रक्षा की। किन्तु इस युद्ध के पश्चात् विदिशा का क्षेत्र उसके हाथों से निकल गया। सन् 1163 ई० में उसकी मत्यु हो गयी।

सन् 1165 में मदन वर्मन का पौत्र परमदी देव (परमार्दिदेव) उत्तराधिकारी हुआ। उसने सन् 1203 ई० तक शासन किया। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि परमदीदेव ने गुजरात के समकालीन चालुक्य शासकों को पराजित कर विदिशा क्षेत्र को लगभग 1173 ई० में पुनः अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। सन् 1182 ई० में दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय ने उसके राज्य पर आक्रमण कर उसे परास्त किया।

त्रैलोक्य वर्मन् (1203-1250) का राज्य विस्तार वेतवा नदी के पास ललितपुर के पश्चिम से पूर्व में सोन नदी के प्रारंभिक भाग तक था। इसके उत्तराधिकारी वीर वर्मन्, भोज वर्मन् तथा हम्मीर वर्मन् हुये जिन्होंने क्रमशः 36, 2 तथा 22 वर्ष राज्य किया।

परमार

ई० सन् की नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में परमार शक्ति का अभ्युदय हुआ था। परमारों की गणना अग्निवंशीय राजपूतों में की जाती है। परम्परानुसार इसके आदि पुरुष का नाम परमार अर्थात् शत्रुओं को मारने वाला होने के कारण इस वंश का नाम परमार हुआ।

परमारों का संस्थापक उपेन्द्र था, जो सम्भवतः राष्ट्रकूटों का सामन्त था। इसे गुर्जर प्रतीहारों का भी सामन्त कहा गया है। इतना निश्चित है कि सामन्त के रूप में ही वह शक्तिशाली वन गया था। उपेन्द्र के पश्चात् वैरसिंह प्रथम तथा सियक प्रथम ने सत्ता को सम्हाला। सियक का पुत्र वाक्पति था, जिसने राष्ट्रकूटों की ओर से महीपाल के विरुद्ध युद्ध किया था। वैरसिंह द्वितीय ने कलचुरियों से मालवा छीन ली। इस वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक सियक द्वितीय था जिसने लगभग 948–972 तक शासन किया। इसके शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग को नर्मदा के तट पर पराजित कर ताप्ती तक राज्य सीमा बढ़ाना था।

वाक्पति मुंज सियक द्वितीय का गोद लिया हुआ पुत्र था, जो इस वंश का बड़ा पराक्रमी राजा था। उसने त्रिपुरी के कलचुरियों से युद्ध किया तथा युवराजदेव द्वितीय को पराजित किया। फिर भी वह कलचुरी राज्य का कोई अंश अपने राज्य में मिलाने में असमर्थ रहा। मेवाड़ के गुहिल राजाओं से भी उसने युद्ध किया। तदुपरान्त नड्डुल के चाहमानों पर आक्रमण कर उसने माउन्ट आबू क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। कन्थेरी अभिलेख के अनुसार उसकी मुठभेड़ हूणों से भी हुई। मुंज की सबसे प्रसिद्ध विजय लाट देश के दक्षिण चालुक्य नृपति तैलप् द्वितीय पर थी। छैः वार तैलप को पराजित करने पर भी पूर्ण रूप से उसके राज्य पर वह अधिकार न कर सका। अंत में (सातवीं बार) तैलप पर आक्रमण करने के परिणामस्वरूप मुंज स्वयं पराजित हुआ तथा बन्दी बना लिया गया। लगभग 998 में तैलप के हाथों मुंज की मृत्यु हुई।

---

1. उदयपुर प्रशस्ति–एपिग्राफिया इण्डिया, ग्रंथ I, पृ० 235–237.

मुंज का साम्राज्य पूर्व में विदिशा से पश्चिम में साबरमती तक तथा उत्तर में झालावार से दक्षिण में ताप्ती नदी तक विस्तृत था।

मुंज का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई सिंधुराज हुआ, जिसने अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये अनेक युद्ध लड़े। तैलप द्वितीय पर आक्रमण कर उसने अपने भाई की मृत्यु का बदला लिया तथा जो भाग तैलप के अधिकार में चले गये थे उन्हें वापस जीता। उसने गुजरात पर भी आक्रमण किया था किन्तु चामुण्ड राज के हाथों उसे पराजय मिली। सिंधुराज ने नागदेश की राजकुमारी शशि प्रभा से विवाह किया था। लगभग इसी समय उसने कौशल के सोम वंशियों तथा हूणों को भी पराजित किया। इसके राज्यकाल में वागड के परमार राजाओं ने भी विद्रोह किया था किन्तु उनका दमन कर दिया गया। लगभग 1000 ई० स० में सिंधुराज का देहावसान हो गया।

भोज प्रथम सिंधुराज का उत्तराधिकारी बना, जो इस वंश का सर्व प्रसिद्ध राजा था। यह शस्त्र व शास्त्र दोनों में ही पारंगत था। उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने चेदि, गुजारत, लाट और कर्णाट के राजाओं तथा गुर्जरों और तुरुष्कों आदि से युद्ध किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने परम्परागत शत्रु तैलप पर आक्रमण कर मुंज की मृत्यु का बदला लिया जिसमें तैलप की मृत्यु हुई। तदुपरान्त भोज ने त्रिपुरी के गागेयदेव (कलचुरी) को परास्त किया तथा कन्नौज पर भी कुछ समय के लिये उसका प्रभुत्व रहा। सम्भवतः चंदेल राज विद्याधर ने भोज को पराजित किया था तथा ग्वालियर के कच्छ-पघातों के विरुद्ध भी वह असफल रहा। चित्रकूट का किला भोज के अधीन था। सन् 1008 ई० सन् में महमूद गजनी के विरुद्ध जिन सेनाओं ने युद्ध किया और पराजित हुई, उनमें भोज की सेना भी थी। गुजरात के चालुक्य राजा चामुण्डराज का भोज ने बनारस जाते समय, जबकि वह मालवा से निकल रहा था, बहुत अनादर किया था। निरन्तर युद्ध करते रहने से भोज की शक्ति क्षीण होने लगी। जीवन के अंतिम दिनों में उसके पुराने दो शत्रुओं, कर्ण कलचुरि तथा भीम चालुक्य, ने मिलकर दो सीमाओं पर एक साथ आक्रमण किया तथा सन् 1055 में भोज की मृत्यु हो गई। आक्रमणकारियों के हाथ में मालवा चला गया।

शस्त्र व शास्त्र दोनों में ही समान अधिकार रखने वाला भोज अद्वितीय लेखक भी था जिसने साहित्य, व्याकरण, धर्म, दर्शन, वैद्यक, वास्तु आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। 42 वर्षो के राज्यकाल में भोज ने अनेक नगर, भवनों, सरोवरों व मंदिरों का निर्माण कराया।

भोज की राज्य सीमा के अन्तर्गत चितौड़, बाँसवाड़ा, भिलसा, खानदेश, कोंकण तथा गोदावरी के उत्तरी तट का भाग था। इसकी राजधानी धारा थी।

जयसिंह प्रथम भोज का उत्तराधिकारी हुआ। उसने चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम से संधि कर कर्ण व भीम से मालवा वापस छीन लिया। सोमेश्वर का पुत्र विक्रमादित्य जयसिंह का परम मित्र बन गया, जिसके फलस्वरूप उसने पूर्वी चालुक्यो की राजधानी

वेंगी पर आक्रमण करने में जयसिंह की पूर्णरूप से सहायता की। कुछ समय पश्चात् कल्याणी के चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय ने गुजरात के चालुक्य वंशी कर्ण के सहयोग से जयसिंह पर आक्रमण किया, जिसमें जयसिंह की मृत्यु हो गई तथा मालवा पुनः आक्रमण-कारियों के हाथ में चला गया।

उदयादित्य सम्भवतः भोज का भाई था जिसने शाकम्भरी के चाहमान नरेश विग्रह-राज तृतीय से संधि कर सोमेश्वर द्वितीय व कर्ण पर आक्रमण कर परमार शक्ति का पुनरुद्धार करने का प्रयास किया। इसके राज्यकाल के आठ अभिलेख प्राप्त हुये है। इसका राज्य विस्तार दक्षिण में निमाड़ जिले तक, उत्तर में झालावाड़ तथा पूर्व में विदिशा तक था। उदयपुर स्थित नीलकण्ठेश्वर मंदिर का निर्माण उसी ने करवाया था।

लक्ष्मणदेव के, जिसका दूसरा नाम जगदेव था, राज्यकाल मे मुसलमान गवर्नर महमूद ने उज्जैनी पर आक्रमण किया था, किन्तु लक्ष्मण देव ने उसे खदेड़ कर एक कुशल योद्धा होने का परिचय दिया। सन् 1094 ई० में उसने अपने भाई नरवर्मन् को राजगद्दी सौंप दी, जिसे अपने राज्यकाल में केवल असफलतायें ही हाथ लगीं। उसे शाकम्भरी के चाहमान राजा तथा कलचुरी राजा ने पराजय दी। बारह वर्ष के निरन्तर युद्ध के उपरान्त जयसिंह सिद्धराज द्वारा वह बन्दी बना लिया गया। नरवर्मन् ने सन् 1133 ई० तक राज्य किया।

यशोवर्मन् नरवर्मन् का उत्तराधिकारी हुआ, जिसे अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। उज्जैन से उसका संवत् 1192 का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। चंदेल राजा मदन वर्मन् ने उससे भिलसा क्षेत्र छीन कर अपने अधिकार में कर लिया था। जयसिंह सिद्धराज ने चाहमान राजा आशाराज की सहायता से मालवा पर आक्रमण कर यशोवर्मन् को बन्दी बना लिया तथा सम्पूर्ण मालवा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया जो सन् 1138 ई० तक रहा।[1]

जयवर्मन ने, जो यशोवर्मन् के पश्चात् गद्दी पर बैठा, जयसिह सिद्धराज से पुनः मालवा वापस ले लिया। कुछ दिनों के लिये वल्लाल को मालवा का शासक बना दिया गया था, किन्तु 1143 ई० में गुजरात के चालुक्य राजा कुमारपाल ने मालवा पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। लगभग पच्चीस वर्ष तक यही अवस्था रही, जब परमार राजाओं ने चालुक्यों के अधीन होकर महाकुमार का विरुद धारण किया तथा भोपाल, निमाड़, होशंगाबाद, खानदेश आदि पर शासन किया।

विन्ध्यवर्मन् ने चालुक्य राजा मूलराज द्वितीय को पराजित कर मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। किन्तु वह शांतिपूर्वक उस पर शासन न कर सका क्योंकि होयसल तथा यादव राजा मालवा पर निरन्तर आक्रमण करते रहे। विन्ध्यवर्मन् का 1913 में स्वर्गवास हो गया।

---

1. यशोवर्मन् का सं० 1195 का उज्जयिनी लेख।

शुभातवर्मन् ने गुजरात के चालुक्यों से लाट छीन लिया तथा गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ पर भी अधिकार जमा लिया। किन्तु यादव राजा जयतुंग द्वारा पराजित हुआ। सन् 1210 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। अर्जुनवर्मन् ने जयसिंह तथा यादव राजा सिंहण से युद्ध किये, जिनमें उसकी पराजय हुई। देवपाल सन् 1215-1218 ई० में गद्दी पर बैठा। पश्चिम में इसके राज्य की सीमा भड़ौच तक थी। इसके अभिलेख उज्जैन, उदयपुर, ओखला, कसरावद, मान्धाता तथा हरसौद से प्राप्त हुये हैं। देवपाल के राज्यकाल में मालवा पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ।

सन् 1233 ई० में इल्तुतमिश ने भिल्सा पर अधिकार कर लिया तथा उज्जैन को लूटा था किन्तु यह विजय अधिक दिन तक न रह सकी। जैतुमीदेव सन् 1243 ई० के पूर्व सिंहासन पर बैठा। इसके समय में मालवा पर अनेक आक्रमण हुये। यादव राजा नरेश भी इन आक्रमणकारियों में से एक था। सन् 1250 ई० में जब बलबन ने मालवा पर चढ़ाई की, लगभग उसी समय गुजरात के विसालदेव ने धार को लूटा था।

जयवर्मन् द्वितीय जैतुमीदेव का छोटा भाई था, जो सन् 1256 ई० के पूर्व राजा बना। इसके राज्यकाल के अभिलेख मोदरपुर, मोड़ी तथा राहतगढ़ से प्राप्त हुये है। इसके उपरान्त चार परमार राजाओं के नाम मिलते है। जयसिंह द्वितीय के अभिलेख उदयपुर, बलीपुर तथा पठारी में मिले है। इसके राज्यकाल में रणथम्भौर के जैत्रसिंह ने मालवा पर आक्रमण किया था, जिसके भय से जयसिंह ने मण्डप दुर्ग (माण्डू) में शरण ली थी। इसके पश्चात अर्जुनवर्मन द्वितीय तथा उसके मंत्री ने एक साथ मालवा पर राज्य किया। इन दिनों मालवा पर चाहमान, यादव तथा बघेल राजाओं ने आक्रमण किये। सन् 1283 ई० के पश्चात् भोज द्वितीय राजा हुआ। इसके समय में चाहमानों तथा मुसलमानों ने मालवा पर आक्रमण किये। महालकदेव परमार वंश का अन्तिम शासक था, जिसने सन् 1305 ई० में मालवा पर राज्य किया। इसके शासनकाल में अलाउद्दीन खिल्जी ने मालवा पर आक्रमण किया। जयवर्मन् द्वितीय के समान महालकदेव ने भी माण्डू में शरण ली, जहाँ अलाउद्दीन के सेनापति आइन उलमुल्क द्वारा उसका वध हुआ। इसके उपरान्त मालवा पर मुसलमानो का शासन रहा।

भिल्सा का सर्वप्रथम विवरण अलबरुनी ने महाबलिस्तान के नाम पर किया, जिसे मालवा का एक अंग कहा गया है तथा जो उज्जैन से दस परगनों की दूरी पर स्थित है। सन् 1235 में अल्तमश तथा 1290 में अलाउद्दीन द्वारा इस पर मुस्लिम आधिपत्य स्थापित हुआ। सन् 1532 ई० में गुजरात के बहादुरशाह ने इसे लूटा। अकबर के समय मालवा सूबे के रायसेन सरकार के एक महाल का सदर मुकाम था। औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता से भिलसा के विजय मंदिर आदि जैसे अनेक भव्य मंदिरों को सन् 1682 में विनष्ट किया गया। इसी समय इस नगर का नाम भेलसा के स्थान पर आलमगीरपुर रख दिया गया, किन्तु इस नाम का प्रचलन न हो सका। अठारहवीं शताब्दी में भिलसा मालवा के गवर्नर जयपुर के सवाई जयसिंह द्वारा भोपाल के नवाब को प्रदान किया गया था, जो कुछ ही समय उपरान्त पेशवाओं के अधिकार में चला गया। सन् 1775 ई० से स्वतंत्रता उपरान्त राज्यों के विलीन होने तक वह सिंधिया राज्य का अंग बना रहा।

3

उत्खनन

□

विदिशा का अन्वेषण लगभग सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था। सन् 1875 तथा 1877 में कनिघम[1] ने इस क्षेत्र से अनेक टीले, रेलिंग, मूर्तियाँ, सिक्के, गरुड़ स्तम्भ आदि को खोज निकाला था। इसमें चार वेदिका स्तम्भ तथा दण्डों पर अशोककालीन लिपि में दाताओं के छोटे-छोटे लेख प्राप्त हुए थे। कनिघम ने गरुड़ स्तम्भ पर एक लेख पाये जाने का संदेह किया था, किन्तु उस पर चढ़े गेरु के गहरे लेप के कारण वह उसे न देख सका। उन्होंने इस स्तम्भ की तिथि 200 से 350 ई० सन् अनुमानी थी।

सन् 1908-1909 ई० में लेक ने यहाँ पर उत्खनन किये थे। उस समय उसने सर जान मार्शल, डाइरेक्टर जनरल, का ध्यान स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के कुछ भाग की ओर आकर्षित किया था। मार्शल ने उसके ऊपर लगी हुई गेरु की परतों को निकलवा कर लेख पढ़वाया।[2] तदनुसार डॉ० थ्यो ब्लोख द्वारा उसका प्रारम्भिक अनुवाद किया गया। डॉ० फ्लीट तथा बार्नेट ने भी इस लेख को पढ़ा था।[3] इस लेख के अनुसार तक्ष-शिला के राजा अंताइलकीदस के यवन राजदूत हेलियोदोरस ने भागभद्र शुंग के शासन काल में वैष्णव धर्म का अनुयायी होने के उपलक्ष में इस गरुड़ध्वज की स्थापना की थी, तथा तीन सद्गुणों–स्व नियंत्रण, उदारता तथा विनय–का पालन करने की शपथ ली थी।

सत्रह जनवरी से 24 फरवरी 1910 तक एच० एच० लेक ने बेसनगर में अन्वेषण कर अनेक टीलों का उत्खनन किया।[4] पत्थर तथा ईटों की बनी अनेक इमारतों के अति-

---

1. कनिंघम, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट्स, ग्रंथ 10, पृ० 36-46.
2. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी 1909, 26, पृ० 1053-56.
3. वही, 27, पृ० 1087-1092.
   28, पृ० 1093-1094.
4. जर्नल आफ द बोम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रंथ 23, 1908-13, पृ० 135-46.

रिक्त उन्हें अन्य पुरानी वस्तुएँ भी मिली थीं, जिनमें एक पत्थर पर लेख भी था। एक व दस नम्बर के टीलों पर बौद्ध धर्म के, नं० नौ में जैन मंदिर तथा नं० तीन में वैष्णव मंदिर के अवशेष प्राप्त हुये थे। अन्य टीलों के विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं हुआ है।

हेलियोदोरस के स्तम्भ के समीप पाई गई पत्थर की रेलिंग का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

इसके स्तम्भ मुर्रम के कंकरीट की नींव पर खड़े किये गये थे। इसके नौ स्तम्भ, वेदिका तथा उष्णीष (कोपिंग) सहित एक ही पंक्ति में स्थापित थे। इन स्तम्भों की चौड़ाई 1'.7" तथा मोटाई 10 इंच है। इनमें तीन शलाखों को फँसाने के लिये लेन्स के रूप में छिद्र बनाये गये हैं, जो 1'.10 इंच चौड़े तथा $5\frac{1}{2}$ इंच मध्य में मोटे हैं। उष्णीष, जो सपाट है, 1 फुट 7 इंच ऊँची तथा $12\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी है। इसके किनारे गोल हैं। वेदिका की सम्पूर्ण ऊँचाई 8 फुट 5 इंच है। 36 फीट की लम्बाई तक इसके अवशेष प्राप्त हुये। इसी के निकट से दूसरी वेदिका भी पाई गई थी। किन्तु इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सका। लेक का अनुमान था कि जिस टीले पर पुजारी का मकान था, उस पर एक मठ रहा होगा। लेक ने इसे उत्तर बौद्ध काल का अनुमाना था।

इस स्थान से एक विष्णु की प्रतिमा प्राप्त हुई थी। इस प्रतिमा का साम्य उदयगिरि की गुफा छै के द्वार पर बनी विष्णु-मूर्ति से किया जा सकता है।

टीला क्रमांक 11 के एक चबूतरे से, जिसकी लम्बाई 74 फुट, चौड़ाई 65 फुट तथा गहराई 2 फुट 6 इंच थी, अनेक मात्रिकाओं की मूर्तियाँ तथा एक बोधिसत्व (?) की मूर्ति प्राप्त हुई थी। इस चबूतरे में प्रयुक्त ईंटे 14 इंच × 6 इंच × 3 इंच तथा 16 इंच × $8\frac{1}{2}$ इंच × $3\frac{1}{2}$ इंच थी।

वेस नदी से लगभग 600 फुट की दूरी पर एक नाले के निकट 18 फुट की गहराई से एक बड़ा भारी घाट अनावृत किया गया था। यहाँ से पकी हुई मिट्टी का बना एक कछुआ तथा एक कलश प्राप्त हुआ था। कछुए की पीठ पर आधी मनुष्य तथा आधी मछली की दो आकृतियों की छाप लगी हुई थी।

टीला क्रमांक 12 के उत्तर-पश्चिम में लगभग 350 गज की दूरी पर मिली एक वेदिका उष्णीष पर "असभायदानम्" उत्कीर्ण था। इस लेख की लिपि अशोक मौर्य के समय की अनुमानी गई है। अन्य दो पर "अस दुबस दानम" तथा "वल गुतस दानम्" लेख थे। स्तम्भ के एक टुकड़े पर मौर्यकालीन लिपि का एक अन्य लेख भी लेक को प्राप्त हुआ था।

डॉ० भण्डारकर ने सन् 1913-15 में हेलियोदोरस स्तम्भ के निकट तथा गनेशपुरा में उत्खनन किये थे। हेलियोदोरस के निकटवर्ती टीले पर पुजारी का मकान होने के कारण, उन्होंने टीले के चारों ओर ही उत्खनन कर पाये था। फिर भी उसके परिणाम बहुत ही आशाजनक थे। लेक ने जिन गड्ढों को खोदकर भर दिया था, उन्हीं को उन्होंने पुनः खोदा। इस स्थान पर दो प्रकार की वेदिकायें मिली थीं, 1) एक "खुली हुई" (ओपेन

रेलिंग) तथा दूसरी "ठोस" (सालिड रेलिंग)। इनके अतिरिक्त अनगढ़ पत्थरों की धारक दीवार की तीन भुजायें, पुजारी का प्राचीन निवास तथा ईंट की बनी नहर इस उत्खनन से प्रकाश में लाये गये। धारक दीवार के नीचे एक पतला सा फर्श भी उन्हें मिला था। खुली हुई वेदिका 51 फुट 6 इंच की लम्बाई तक अनावृत की गई थी, जिसकी उत्तर की भुजा की ऊँचाई $9\frac{3}{4}$ फुट रही होगी तथा स्तम्भ धरातल से 8 फुट 9 इंच ऊँचे थे। ठोस वेदिका 28 फुट की लम्बाई तक निकली थी।

भण्डारकर का मत है कि विभिन्न प्रकार की सामग्री को फर्श में प्रयोग करने का तात्पर्य है कि खुली वेदिका के पुनरुद्धार के समय उसे बनाया गया था, जिससे रेलिंग की नींव दृढ़ बनी रहे तथा बाढ़ से भी सुरक्षित रहे। बाढ़ के कारण लगभग सभी वेदिका स्तम्भ अपने मूल स्थान पर नहीं थे, अपितु वहाँ से दूर पड़े पाये गये। बाढ़ के कारण ही ऐसा सम्भव है।

अनगढ़ पत्थर की दीवार को चबूतरे के चारों ओर बनाया गया था, जिसके ऊपर विष्णु का मंदिर था। बिना गारे की बनी इस दीवार को 80 फुट की लम्बाई तक अनावृत किया गया था, जिसकी ऊँचाई 5 फुट 2 इंच तथा मोटाई 10 इंच थी। भण्डारकर के अनुसार यह दीवार कम से कम चार फीट बाहर को झुकी हुई थी।

उन्होने हेलियोदोरस स्तम्भ के विरुद्ध एक अनुभाग भी काटा था। इस स्तम्भ की नीव 5 फुट 9 इंच थी। अनावृत अनुभाग में दो पत्थर तथा दो लोहे के पच्चड़ स्तम्भ के नीचे रखे हुये पाये गये थे। दोनों प्रकार की रेलिंग तथा धारक दीवार की तीनों भुजायें, जिनका वही स्तर था जो हेलियोदोरस स्तम्भ का था, स्तम्भ लेख में उल्लिखित मंदिर से सम्बद्ध थे।

टीले पर बने पुजारी के घर के आँगन में भी भण्डारकर ने एक गड्ढा 15 फुट 4 इंच की गहराई तक खोदा था, जहाँ पीली मिट्टी मिलना प्रारम्भ हो गई थी। "सतह से 8 फुट 6 इंच की गहराई पर पुरानी टूटी हुई खपरैल का बना हुआ तथा अत्यन्त समाहित पतला फर्श मिला था, जिसके ऊपर और भी पतली पीली मिट्टी की एक सतह जमी हुई थी। इसके देखने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह फर्श उसी मंदिर का है जो यहाँ बना हुआ था, किन्तु जैसे ही उसकी पवित्रता बढ़ी, तत्पश्चात् वहीं एक चबूतरा बना दिया गया तथा इष्टदेव के लिये नवीन पूजा गृह का निर्माण किया गया।"

यह स्थान अनेक बार बाढ़ग्रस्त हुआ, जैसा भण्डारकर के कथन से भी स्पष्ट है। "यह निश्चय है कि ठोस वेदिका की नीव पट्टिकाओं तथा ईंट की दीवार के मध्य जो मिट्टी है वह बाढ़ के प्रकार की है।

"धरती का यकायक लगभग आठ फीट ऊँचा हो जाना बाढ़ आने के अनुमान की पुष्टि करता है।

"दूसरी बाढ़ के भी यहाँ निश्चित प्रमाण मिलते हैं, जो उतनी ही विनष्टकारी थी जितनी प्रथम बाढ़।....बाढ़ ने हेलियोदोरस स्तम्भ की नींव को भी ग्रस्त किया। पूर्व की

ओर जमी हुई परतें स्पष्ट हैं, जबकि स्तम्भ के पश्चिम की परतें मिश्रित तथा अव्यवस्थित हैं। बाढ़ के ही कारण यह स्तम्भ एक ओर को झुक गया है। यही नहीं, यहाँ की मिट्टी में दो प्रकार की सीपें पाई गई हैं, जिनसे दूसरी बाढ़ का प्रमाण मिलता है। यह बाढ़ लगभग दूसरी शताब्दी ई० में आई होगी। यहाँ पर बना हुआ मंदिर छठी शताब्दी ई० सन् तक प्रयोग में लाया गया था. इसका प्रमाण कल्चुरी वंश के सात सिक्के हैं, जो एक मिट्टी के बर्तन में यहाँ निकले थे।

भण्डारकर के दोनों वर्षों के उत्खनन से 166 सिक्के प्राप्त हुये, जिनमें से 92 हेलियोदोरस स्तम्भ के क्षेत्र से प्राप्त हुए। खामबाबा के टीले से दो बड़े घटों, जो फर्श में गढ़े हुये पाये गये थे, कुछ मृण्मूर्तियाँ तथा एक टोंटीदार बर्तन के अतिरिक्त टीले के दक्षिणी भाग से गरुड़ (?) मूर्ति का एक भाग भी उपलब्ध हुआ था। भण्डारकर का कथन है "यह कोई आश्चर्य नहीं कि गुप्त सम्राट्. विष्णु के अनन्य भक्त, विदिशा पधारे थे तथा उन्होंने ही सम्भवतः इस (गरुड़ ?) मूर्ति को स्तम्भ के ऊपर स्थापित किया था।

इस टीले के निकट जो नहर निकलती थी उसके माप इस प्रकार हैं :

दक्षिणी दीवार—181 फुट लम्बी अनावृत की गई जिसमें ईंटों के तीन से बीस रद्दे पाये गये।

उत्तरी दीवार—185 फुट की लम्बाई तथा पाँच से दस रद्दे मिले।

पूर्वी दीवार —(उत्तर-दक्षिण दिशा विन्यास में) केवल तेरह फीट ही मिली तथा जिसके अधिक से अधिक आठ रद्दे थे।

पश्चिमी दीवार—92 फुट लम्बाई तथा दस रद्दे—इसकी चौड़ाई 7 फुट तथा ऊँचाई 5 फुट 6 इंच थी।

दक्षिणी दीवार के मध्य सीढ़ियों का आयोजन था, जिसमें थोड़ा सा ढलान था, जिससे वह जल के वेग का अवरोध कर सकें। दीवालों में चूने का अच्छा पलस्तर था। किन्तु बाढ़ के कारण उसमें मिट्टी भर गई थी। इस बाढ की तिथि भण्डारकर ने मौर्य तथा मौर्य काल के पूर्व की निर्धारित की है।

भण्डारकर के उत्खनन का दूसरा स्थान गणेशपुरा था, जहाँ ईंट के बने घरों के अवशेष तथा अनेक लघु पुरावशेष पाये गये थे। दूसरे वर्ष के उत्खनन में यहाँ पर तीन कुण्ड अनावृत किये गये थे, जिनमें ब्राह्मणों द्वारा प्रतिदिन यज्ञादि करने के लिये नालियों की व्यवस्था थी। इन इमारतों की तिथि ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के मध्य से चौथी शताब्दी के प्रारम्भ की मानी गई है। इनमें से एक 117 फुट × 27 फुट 6 इंच तथा दूसरा 61 फुट 3 इंच × 30 फुट 6 इंच माप के थे, जो धार्मिक सभाओं के हेतु बनाये गये थे।

सभा मण्डप के सबसे नीचे की पर्त में कोयला, राख तथा खपरैल के टुकड़े पाये गये थे। कोयला व राख, लकड़ी के घरों के जलने के परिणाम है, तथा उन्हें मौर्यकाल का अनुमाना जा सकता है।

लेक व भण्डारकर के परिणाम किसी सीमा तक संतोषजनक होते हुये भी पर्याप्त नहीं थे, जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है। अतः विधिवत उत्खनन की दृष्टि से, जिसमें भिन्न-भिन्न कालों का स्पष्ट चित्रण प्राप्त हो सके, लेखक ने भारतीय सर्वेक्षण, केन्द्रीय मण्डल की ओर से सन् 1963 में कार्य प्रारम्भ किया था, जिसका उद्देश्य हेलियोदोरस स्तम्भ का समकालीन विष्णु मंदिर अनावृत करना तो था ही, प्राचीन विदिशा के आद्य तथा प्रारंभिक इतिहास के विषय में जानकारी करना भी था। नवीनतम पुरातात्विक विधि से किये गये इस उत्खनन का एक उद्देश्य यह भी था कि कुछ महत्वपूर्ण प्राचीन इमारतों का अनावरण किया जाये, जिनसे विदिशा के प्राचीन वैभव पर प्रकाश डाला जा सके।

इस दृष्टि से 25 नवम्बर, 1963 को प्राचीन विदिशा के सबसे ऊँचे टीले पर, जो वेतवा और वेस के संगम पर तथा त्रिवेनी घाट के निकट वर्तमान मंदिर के सामने है, उत्खनन प्रारम्भ किए गये। इस टीले का नाम वेसनगर एक (वी०एस०एस 1) रखा गया। इसी प्रकार टीले दो तथा तीन पर भी एक साथ कार्य प्रारम्भ किया गया। जब सन् 1965 में कार्य समाप्त हुआ तो उपर्युक्त सभी उद्देश्य पूर्ण हो गये थे। कालक्रमानुसार भिन्न संस्कृतियों का स्तर अनुक्रम प्राप्त हुआ, जिनका प्रारंभ ताम्र पाषाण युग से होकर मौर्यों के पूर्व, मौर्य, शुंग, नाग-कुशान तथा गुप्त काल के पश्चात् मध्य युग का निर्धारित किया जा सका है।

स्तर-अनुक्रम

भिन्न-भिन्न टीलों पर आवास संचय (habitation depsit) चार से आठ मीटर की मोटाई का पाया जाता है, जिसे 7 कालों में विभक्त किया गया है :

ताम्र पाषाण काल-प्रथम : वी०एस०एन०[1] 1 तथा 4 से इस काल के अवशेष प्राप्त हुये हैं, जिनमें क्रमशः एक व दो मीटर की मोटाई का आवास संचय प्राप्त हुआ है। इतने कम संचय तथा उससे उपलब्ध न्यूनतम सामग्री का कारण सम्भवतः इन दोनों टीलों का सरिताओं का अत्यधिक सामीप्य तथा कम क्षेत्र में उत्खनन किया जाना हो सकता है। टीला एक में 3 × 2 मीटर तथा टीला चार में 4 × 2 मीटर की जगह में ही उत्खनन सम्भव हो सका।

ताम्र पाषाण युग के लोग प्राकृतिक मृत्तिका पर ही वस गये थे, जो काले रंग की है। इस समय की संचय परतें विस्तृत अवश्य रही होंगी किन्तु अधिक मोटी नहीं थीं। इन परतों के प्रारम्भ तथा अंत में बहुत ही कम सामग्री पाई गई।

इस काल अच्छे पके हुए, दृढ़ तथा उत्तम लाल रंग के भाण्डे प्रयोग किये जाते थे, जिन पर काले रंग की चित्रकारी की गई थी। काले और लाल भांड भी इसी प्रकार उत्तम तथा पतले होते थे। इनके अतिरिक्त कुछ अनगढ़ लाल भांड भी पाये गये। भाण्डों के साथ छोटे फलक के लघु पाषाण शस्त्र, पहलूदार क्रोड, शल्क तथा एक पकी हुई मिट्टी का मनका भी प्राप्त हुआ था। यद्यपि इस युग की यह सभी सामग्री ताम्र पाषाण सभ्यता की ही है, ताँबे की अनुपस्थिति उल्लेखनीय है।

---

1. आगे वी०एस०एन० 1, 2, 3 को टीला 1, 2, 3 कहना अधिक सुविधाजनक होगा।

टीला चार की इस युग की ऊपरी सतह से कुछ भूरे भाण्ड भी उपलब्ध हुये हैं, जो निश्चित रूप से चित्रित धूसर भाण्ड संस्कृति के कहे जा सकते हैं। इनकी उपलब्धि इस तथ्य की द्योतक है कि धूसर भाण्ड संस्कृति का प्रारंभिक चरण तथा ताम्र पाषाण संस्कृति का अंतिम चरण समकालीन थे। इस युग की किसी इमारत के अवशेष नहीं पाये गये।

काल–द्वितीय : इस काल के संचय को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

चरण (अ) : टीला दो से लोहे के साथ उत्तम गेरुये भाण्ड पाये गये। इन भाण्डों के टुकड़ों को छूने ही हाथ में गेरू लग जाती है। इनके अतिरिक्त लाल, काले, काले ओपदार तथा काले और लाल भाण्ड भी प्राप्त हुये हैं। इस चरण की आहत मुद्रायें, जले हुये गेहूँ के दाने आदि विशेष उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं।

इस काल की समाप्ति के पूर्व ही एक विशाल अग्निकाण्ड के प्रमाण सभी स्थानों पर विद्यमान हैं। अभाग्यवश इस अग्निकाण्ड के कारण पर कुछ प्रकाश नहीं डाला जा सकता है। किन्तु उसके विस्तार तथा एकरूपता से स्पष्ट है कि इसका कारण प्राकृतिक अथवा आकस्मिक प्रकोप नहीं था, अपितु मानवी कृत्य था। ई० पू० छठीं-पाँचवी शताब्दी में हुये किसी युद्ध के परिणामस्वरूप ही ऐसी अवस्था हो गई होगी।

इस चरण के प्रारम्भिक स्तर में टीला चार में पकी हुई मिट्टी की बनी बड़ी-बड़ी ईंटों[1] का एक चूल्हा मिला था, जिस पर बहुत ही महीन राख की एक परत तथा समाहित मुरंक की बनी एक नाली थी। इस नाली में भी राख भरी हुई पाई गई।

चरण (ब) में अनेक आहत मुद्रायें, लोहे की वस्तुयें, एन० बी० पी० भाण्ड[2], मृण्मूर्तियाँ, मनके तथा अन्य विविध प्रकार के छोटे अवशेष प्राप्त हुये। काले ओपदार उत्तरी भाण्डों के छोटे-छोटे टुकड़े ही, जो संख्या में बहुत कम थे, मिले हैं। इस चरण में ईंटों की बनी अनेक इमारतें अनावृत की गई, जिनमें टीला एक में ईंटों की बनी एक बहुत बड़ी नाली थी। इस स्तर में विस्तृत उत्खनन सम्भव न हो सकने के कारण यद्यपि इस नाली का सम्बन्ध किसी इमारत से स्थापित नहीं किया जा सका, इतना निश्चित है कि यह एक भव्य व विशाल वास्तु का अंग थी। इसी टीले से वलय अथवा इष्टिका कूप (ring wells) के दो जोड़े भी अनावृत हुये। टीला तीन में विष्णु का वृत्तायत मंदिर तथा डॉ० भण्डारकर द्वारा अनावृत ईंटों की बनी पानी की नहर भी इसी चरण की हैं।

काल–तृतीय (शुंग काल) : इस काल में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति दर्शनीय है तथा इसका आवास संचय भी अन्य कालों की अपेक्षा अधिक मोटा है। तदनुसार पुरावशेषों तथा भाण्डों की संख्या में आधिक्य है। आहत मुद्रायें, लोहे, पत्थर तथा हड्डियों की वस्तुयें, मृण्मूर्तियाँ, चौपड़ के पाँसे व शतरंज के मुहरे, एक उत्कीर्ण मुहर आदि अनेक वस्तुयें उल्लेखनीय हैं।

---

1. ईंटों का माप 48 × 27 × 7 सेंटीमीटर था।
2. इसका प्रयोग काल पहले 600 से 200 वर्ष ईसा पूर्व माना जाता था। किन्तु अब प्रथम शताब्दी ई० पू० तक का निर्धारित हुआ है।

इस काल की **टीला एक** में एक विशाल दीवाल के अवशेष बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इस दीवाल को 63 मीटर की लम्बाई तक अनावृत किया जा चुका था किन्तु उसका अंत नहीं हुआ था। इसकी चौड़ाई का औसत 3.75 मीटर है। यह दीवाल वेतवा नदी में आने वाली बाढ़ से बचने के लिये ही नहीं बनाई गई थी, वरन् एक राजकीय महल की चहार दीवारी के रूप में भी प्रयुक्त हुई प्रतीत होती है, जिससे सुभेद्य तथा सामरिक महत्व के स्थानों का संरक्षण किया जाता होगा। इस दीवार के समीप पत्थर के अनेक गोले भी पाये गये, जिनसे प्राचीन युग की किलेबन्दी का ज्ञान होता है। यह दीवाल वेत्रवदी नदी की वर्तमान धारा से 40 मीटर की दूरी पर है।

इस टीले पर एक सुव्यवस्थित अपवाह-तंत्र के प्रमाण मिलते है, जिनमें बहुधा अलंगों अथवा ईटों की नालियाँ थीं। एक नाली में पकी हुई मिट्टी के बने निकास-नल का भी आयोजन था।

टीला चार में एक *अत्यन्त सुदृढ़ फर्श को अनावृत किया गया था।* इसके सबसे नीचे पत्थर के रोड़ों का मोटा तल्ला था, जिसके ऊपर ईटों के टुकड़े, तथा ईटों का चूरा व सबसे ऊपर चूने का पलस्तर लगाया गया था। इसकी दृढ़ता से उस युग के निर्माताओं तथा शासकों के स्थायित्व का भी बोध होता है।

हेलियोदोरस स्तम्भ के समकालीन वासुदेव मंदिर की अनगढ़े पत्थर वाली दीवालों से घिरा हुआ चबूतरा भी इसी काल का है। इसके पूर्वी ओर तथा हेलियोदोरस स्तम्भ की उत्तर दक्षिण पंक्ति में, सात स्तम्भों के जो अवशेष प्राप्त हुये वे भी शुंग कालीन हैं।

समय-समय पर बाढ़ के प्रकोप से यहाँ की इमारतें नष्ट होती रहीं। द्वितीय काल में आई हुई बाढ़ के समान, एक बाढ़ इस काल में भी आई, जिससे टीले एक की विशाल दीवार तथा टीले तीन की चबूतरे की दीवारें बाहर की ओर झुक गई। बाढ़ के फलस्वरूप भरी हुई मिट्टी से यह स्पष्ट है।

काल-चतुर्थ : इस काल में अधिक संचय नहीं हुआ, यद्यपि प्रत्येक क्षेत्र में प्राचीन परम्परायें ही प्रचलित रहने के प्रमाण विद्यमान हैं। इस काल में आहत मुद्राओं की संख्या कम हो गई तथा वे नीचे के स्तर तक ही सीमित रहीं। लोहे के शस्त्र, विभिन्न प्रकार के मनके तथा वस्त्रोद्योग में प्रयुक्त किये जाने वाले ठप्पे आदि लगभग तृतीय काल के समान ही हैं। किन्तु भाण्ड संग्रह में परिवर्तन हो जाता है। यद्यपि काले और लाल भाण्ड प्रायः नहीं के बराबर ही हैं, काले से लाल पर की गई चित्रकारी वाले भाण्ड तथा अबरक धूसरित भाण्डों का आधिक्य है। ये भाण्ड तृतीय काल में बहुत ही कम संख्या में प्राप्त हुये। इसी प्रकार अलंकृत भाण्डे भी पिछले कालों की अपेक्षा इस काल में बहुतायत से प्राप्त हुये हैं। इस काल के भाण्डों में घुण्डीदार सेचन करने वाले पात्र विशेष आकर्षक हैं। यह अत्यन्त उत्तम लाल मिट्टी के बने हुये होते हैं जिनका बाह्य रूप चमकदार होता है। इस काल में ही ये पात्र सर्वप्रथम प्रयोग में लाये गये। इनके अतिरिक्त शंखाकार कटोरे भी पहली बार दिखाई देते हैं।

टीला एक की तृतीय काल में निर्मित अनगढ़ पत्थरों की दीवार को इस समय ऊँचा और दृढ़ किया गया था।

काल-पंचम : इस काल में पिछले काल के मृत्तिका शिल्प की प्रथायें प्रचलित रहीं। इनमें विशेष उल्लेखनीय अलंकृत ठीकरे, अबरक मिश्रित भाण्ड, घुण्डीदार तथा ढक्कनदार पात्र हैं। जहाँ काले और लाल भाण्ड ऊपरी सतह तक बिलकुल ही समाप्त होते दिखाई देते हैं, काले भाण्ड यथावत प्रचलित हैं। यही नहीं, उनमें कुछ नये प्रकार भी प्रकट होने लगते हैं। यद्यपि अपरिष्कृत तथा मध्य श्रेणी के लाल भाण्डों का बाहुल्य है, इस काल के ऊपरी संचय में एक प्रकार के अपरिष्कृत भूरे भाण्ड भी प्रयोग में लाये जाने लगे थे। इसी प्रकार पकी हुई मिट्टी के अलंकृत ठप्पों के भी विविध प्रकार दर्शनीय हैं। इस काल की अनुपम कृति एक मृण्मूर्ति है, जिसका धड़मात्र ही अवशेष रहा। इस प्रकार की मूर्तियाँ अहिछत्र आदि स्थानों के उत्खनन में भी गुप्त काल के संग्रह की अनुमानी गई हैं। अब आहत मुद्रा यदाकदा ही मिलती है। उनके स्थान पर क्षत्रपों के चाँदी के सिक्के तथा राम गुप्त के ताँबे के सिक्के उपलब्ध होते हैं।

टीला एक की विशाल दीवार को इस काल में पुनः ऊँचा किया तथा उसके भीतर तथा बाहर की ओर अनगढ़ पत्थर तथा ईंटों की टेक से पुष्ट किया गया। इसे ऊँचा करने के लिये पत्थर के स्थान पर ईंटों का प्रयोग किया गया। टेक देकर पुष्ट करने वाली भीतरी दीवार बाहरी दीवार की अपेक्षा अधिक अक्षत है। टीला दो में पत्थरों से चिना हुआ सुव्यवस्थित फर्श मिला, जिसमें कहीं-कहीं लकड़ गाड़ने के गड्ढे भी दिखाई दिये। इस फर्श के ऊपर ईंटों की दीवार के अवशेष प्राप्त हुये हैं। इसी काल की कुछ टूटी हुई मूर्तियाँ टीलों की ऊपरी सतह से उपलब्ध हुई हैं। पुनः एक बाढ़ के प्रकोप ने इस काल के संचय को क्षति पहुँचाई है।

काल-षष्ठ : गुप्त काल के अंत होते ही प्राचीन विदिशा के वैभव के दिन समाप्त होते प्रतीत होते हैं। इसका प्रमाण काल-6 के संचय में विद्यमान है। यह संचय लगभग सभी टीलों की सबसे ऊपरी सतह में पाया जाता है, जो या तो वर्षा से अथवा खेती के कारण विनष्ट हो गया। इस समय यहां के निवासी अनेक कारणों से प्राचीन विदिशा छोड़ कर वर्तमान विदिशा नगर में जा बसे।

इस काल के अवशेष बहुत ही कम प्राप्त हो सके हैं, जिनमें मिट्टी के भाण्डों का ही बाहुल्य है। अपरिष्कृत लाल भाण्डों के साथ अपरिष्कृत भूरे भाण्डों की संख्या अधिक है। अन्य भाण्डों के प्रकारों की अनुपस्थिति स्पष्ट है। जो भाण्ड इस समय प्रयोग किये जाते थे उनकी संख्या में ही कमी नहीं है, अपितु उनके प्रकार भी पूर्णतया भिन्न हैं। अन्य अवशेषों में तांबे की मोटी मुद्रायें तथा पत्थर की वस्तुयें हैं। इस काल के पश्चात् प्राचीन विदिशा नगर सदैव के लिये निर्वासित कर दिया गया।

काल-सप्तम : इस काल का संचय केवल टीला तीन में मिला है, जिसमें भोपाल के नवाबों और ग्वालियर राज्य के सिक्के थे।

कालानुक्रम

काल-प्रथम (ताम्र पाषाण युग) : जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है कि चित्रित धूसर भाण्ड इस काल की ऊपरी सतह से प्राप्त हुये हैं, जिनके ऊपर काल दो (अ) का लोह-चून प्राप्त हुआ। चित्रित धूसर भाण्डों का समय कार्बन 14 विधि के अनुसार 1000 से 400 वर्ष पूर्व का निर्धारित किया जा चुका है तथा उज्जैन के उत्खनन से प्राप्त लोहे के आधार पर लोहे का प्रयोग लगभग 750 ई० पू० हुआ था। इसके अतिरिक्त यहाँ के भाण्डों के प्रकार, निर्माण तथा चित्रों के आधार पर, जो एरण तथा नागदा से समानता रखते हैं, यह ज्ञात होता है कि विदिशा का ताम्रपाषाण काल इस सभ्यता के अंतिम चरण का द्योतक है। इस काल के पूर्ण संचय को भी दृष्टि में रखते हुये, यही निर्णय किया जा सकता है कि इसकी अवधि 1000 से 800 वर्ष ई० पू० रही होगी। किन्तु इसको दृढ़ रूप देने के लिये विदिशा में इस स्तर पर सविस्तर उत्खनन नितान्त अनिवार्य है। इस अवधि को निर्धारित करने में आने वाली संस्कृतियों के संचय से प्राप्त सामग्री भी सहायक हुई है, जैसा कि हम निम्नलिखित पृष्ठों में देखेंगे।

काल-द्वितीय (अ) : काले व लाल भाण्डों की वर्तमानता, निम्न स्तर में लोह-चून तथा आहत मुद्राओं का ऊपरी स्तर में प्राप्त होना, इस काल की तिथि निर्धारित करने में सहायक होते हैं। पटना में हुई मुद्राओं पर संगोष्ठी में आहत मुद्राओं की तिथि 6-5 वी शताब्दी ई० पू० निश्चित की गई थी। इसके अतिरिक्त चरण दो (ब) की कार्बन 14 तिथि भी, इस चरण की अंतिम अवधि का द्योतक है। इस चरण का आवास संचय 50, 60 से० मी० मोटा है तथा सम्भावित अवधि 800-600 वर्ष ई० पू० रही होगी।

काल-द्वितीय (ब) : अनेक आहत सिक्के, लोहे की वस्तुयें, एन० बी० पी० भाण्ड, उनसे सम्बद्ध भाण्ड तथा कार्बन 14 द्वारा निर्धारित समय इस काल की अवधि निश्चित करने में सहायक हैं। कार्बन 14 जाँच द्वारा इसकी तिथि 470 ± 105 वर्ष ई० पू० निकली है। इस काल के अन्तिम स्तरों से विदिशा नगर राज्य की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं, जिन पर तीसरी-दूसरी शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी में विदिशा लिखा हुआ है। अतः इस काल की अवधि 600 से 200 वर्ष ई० पू० की अनुमानी गई है। इस चरण में आग तथा जल के प्रकोप से इस नगर को अत्यधिक क्षति पहुँची।

काल-तृतीय : दूसरी शताब्दी ई० पू० की लिपि में अंकित एक मुद्रा, शुंग कालीन विशिष्ट मृण्मूर्तियाँ, आहत सिक्के, मनके, शृंगार पदार्थ आदि से इस काल को दूसरी-पहली शताब्दी ई० पू० का माना गया है। इस काल में निर्मित मोटे तथा दृढ़ फर्शों से समकालीन साम्राज्य के लम्बे तथा समृद्धिशाली होने का ज्ञान होता है। लगभग प्रथम शती ई० पू० में इस नगर में पुनः एक बाढ़ आई, जिसके प्रमाण विशेषकर टीला तीन में प्राप्त होते हैं।

काल-चतुर्थ : इस काल की तिथि निर्णायक वस्तुओं में नाग-क्षत्रप सिक्के तथा मृण्मूर्तियाँ हैं। एक बड़ी मृण्मूर्ति का नीचे का भाग इस काल संचय के मध्य से प्राप्त हुआ है, जिसे अन्य स्थानों से प्राप्त मूर्तियों के सादृश्य तथा विशिष्टताओं के आधार पर दूसरी-तीसरी ई० शताब्दी का अनुमाना गया है। इसी प्रकार की अन्य सामग्री में लोहे की

वस्तुयें, पकी मिट्टी तथा अल्प मूल्यवान पत्थरों के मनके और पूर्वकालीन ऐतिहासिक भाण्ड भी हैं। अतः इस काल की अवधि ई० सन् की प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी के मध्य की निर्धारित की जा सकती है।

काल-पंचम : इस काल के महत्वपूर्ण अवशेष रामगुप्त तथा क्षत्रप राजाओं के सिक्के, मृण्मूर्तियाँ, ईटें तथा भाँड़ है। मृण्मूर्तियों में गुप्त काल की विशिष्टतायें लक्षित हैं। भाण्डों पर छापे तथा "एप्लिके" अलंकरणों का इस काल में बहुतायत से प्रचलन था। इसकी अवधि चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से 600 ई० स० की अनुमानी गई है।

काल-षष्ठ—जैसा पहले कहा जा चुका है कि गुप्त काल के अंतिम दिनों में प्राचीन विदिशा नगर वर्तमान नगर के स्थान पर बसने लगा था। यही कारण है कि इस काल के अवशेष बहुत ही कम प्राप्त हुये हैं। टीले एक में कुछ पशुओं के दाह किये जाने के प्रमाण मिले हैं। ताँबे के मोटे सिक्के तथा अपरिष्कृत भूरे भाण्ड इनसे सम्बद्ध पाये गये हैं। इस काल को ई० सन् की आठवीं नवीं शताब्दी का निर्धारित किया गया है।

काल-सप्तम : टीले तीन के सबसे ऊपरी संचय में भोपाल राज्य के नवाबों तथा ग्वालियर महाराजाओं के कुछ असाधारण सिक्के प्राप्त हुये हैं।

उत्खनन स्थल

टीला-प्रथम : प्राचीन बेसनगर के अवशेष 416 से 420 मीटर कण्टूर में विस्तृत है, जिनको कहीं-कहीं प्राकृतिक तथा मानवी कारणों से क्षति पहुँचती रहती है। यह टीला वेत्रवती व बेस नदियों के संगम तट पर स्थित है, जहाँ आजकल विष्णु का एक आधुनिक मंदिर है। जिस स्थल पर दोनों सरिताओं का संगम है, विष्णु मंदिर के समीप तथा अन्य छोटे-छोटे तीर्थ मंदिरों के सान्निध्य में पत्थरों का बना हुआ एक घाट है। इस टीले के पूर्व में बेतवा तथा उत्तर में बेस बहती है। वेत्रवती के दाहिने तट पर (पूर्वी तट पर) एक अन्य टीला है, जो नवलखी टीला के नाम से प्रसिद्ध है। बेस नदी के उत्तरी तट पर कुछ झोंपड़ी बनी हुई हैं, जिसे टीला नामक गाँव की संज्ञा दी गई है। चरणतीर्थ नामक स्थान पर, जो त्रिवेनी मंदिर के दक्षिण पूर्व में वेत्रवती के मध्यस्थ एक चट्टान पर है, मकर संक्रान्ति के अवसर पर बड़ा भारी मेला लगता है। इस क्षेत्र में अनेक छोटे-बड़े मंदिर तथा स्नान हेतु घाट बने हुये है।

प्राकृतिक तथा सामरिक दृष्टि से त्रिवेनी टीले (टीला एक) की आदर्श स्थिति है। सहस्रों वर्षों के निरन्तर उपयोग के कारण इस टीले की ऊँचाई भी अन्य टीलों की अपेक्षा अधिक है। घाट तथा मंदिर के मध्यस्थ यह भाग धार्मिक व सांस्कृतिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। यही कारण है कि यहाँ पर उत्खनन वांछनीय समझा गया।

इस टीले का सम्पूर्ण क्षेत्र अन्य टीलों के समान वृक्षों व झाड़ियों से आच्छादित था। जैसा चित्र से विदित होता है, त्रिवेणी मंदिर के सामने कुछ समतल स्थान है जिसका ढलान पूर्व की ओर है। लगभग 25 मीटर के इस ढलान के पश्चात् ही नदी की खड़ी कगार आ जाती है। यहाँ पर मंदिर के पुजारी की खेती होती है।

टीले पर से जंगल को काटने के उपरान्त प्रारम्भिक अवस्था में 7×7 मी० की पाँच खंतियों (टेंच) ए 1 से ई 1 में उत्खनन किया गया। इनके ऊपरी सतह की मिट्टी पोली थी, जिसमें राख की मात्रा अधिक थी तथा काँच की चूड़ियाँ, लाल व भूरे भाण्डे आदि वस्तुएँ पाई गई, जो प्राचीन नहीं थीं।

वर्तमान सतह के कुछ ही सेंटीमीटर नीचे ईंटों की बनी एक इमारत के अवशेप प्राप्त हुये, जिसकी नींव परत तीन[1] तक जाती हुई पाई गई। नींव में ईंटों के नीचे अनगढ़ पत्थरों का प्रयोग किया गया था, जिसके भीतर लगभग एक ही पंक्ति में मिट्टी के पाँच घट रखे हुए थे, जिनमें पशुओं की हड्डियाँ थीं। इनकी समकालीन सामग्री में लाल व भूरे भाण्ड, जिन पर उकेर कर बनाये गये अलंकरण थे, कुछ पकी मिट्टी के मनके तथा ताँबे के मोटे सिक्के थे। इनमें से एक सिक्के पर एक ओर अनाज के दाने व पौधा तथा दूसरी ओर एक तलवार बनी हुई है।

पशुओं के इन अवशेपों के कारण इस टेंच को अधिक नीचे तक न खोदा जा सका और टेंच बी 1 में ही कार्य जारी रहा। उपर्युक्त, अवशेप निश्चित ही धार्मिक महत्व के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ई० की आठवीं-नवीं शताब्दी में यहाँ के निवासी पशु बलि में विश्वास करते थे, अथवा गाय तथा बैलों की अस्थियाँ दफनाते थे। इस प्रकार की प्रथा का प्रचार कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। लेखक ने कृष्णा नदी के तट पर नागार्जुनाकोंडा के उत्खनन में इस प्रकार के अनेक पशु-शवाधानों का उत्खनन किया था। किन्तु इस विषय पर कुछ भी कहने के पूर्व अन्य स्थानों पर से प्राप्त सामग्री पर विचार करना आवश्यक है।

टेंच बी 1 में एक परीक्षण उत्खनन किया गया था जिसमें लगभग एक सहस्र वर्ष से अधिक के निरन्तर निवास के प्रमाण विद्यमान थे। ज्यों ही परीक्षण उत्खनन को टेंच के शेप भाग को विस्तृत किया गया, सतह से कुछ ही सेंटीमीटर नीचे पकी हुई मिट्टी के बने हुए गोलाकार कुण्ड के अवशेप प्राप्त हुये। किन्तु आश्चर्यवश इस गोल प्रकोष्ठ में राख अथवा कोयला कहीं भी देखने को नहीं मिला। इसके समकालीन जो फर्श था, उस पर प्राप्त अवशेपों के आधार पर इस प्रकोष्ठ को गुप्तकालीन कहा जा सकता है। यद्यपि इसमें ईंटों का एक ही रद्दा प्राप्त हुआ, ऐसा प्रतीत होता है कि मौलिक रचना में एक से अधिक रद्दे रहे होंगे।

इस टेंच में एक विशाल दीवार अनावृत हुई, जो 63 मीटर की लम्बाई तक खोदी जा सकी थी। इसकी चौड़ाई 370 सेंटी मीटर थी। इसके निर्माण तथा परिमाण से ज्ञात होता है कि यह दीवार किसी विशाल भवन अथवा महल का अंग रही होगी, जिसका उद्देश्य भीतर की इमारतों की बाढ़ तथा शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा करना रहा

---

1. परत शब्द के लिये आगे एक गोल चिन्ह बना दिया जायेगा तथा परत संख्या उसके भीतर लिख दी जाया करेगी। इसका तात्पर्य अंग्रेजी में लिखी गई लेयर चिन्ह से समझा जाय जैसे लेयर तीन=3

होगा। इसका निर्माण सर्वप्रथम शुंग काल में हुआ था (लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पू०) जब कि वह पत्थर की सूखी चिनाई करके निर्मित की गई थी। इसके दोनों ओर गढ़े हुये पत्थरों के पाँच रद्दे देखे गये, जिनके क्रोड में छोटे-छोटे अनगढ़ पत्थर भरे हुये थे। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में आई बाढ़ के कारण दीवार पूर्व की ओर थोड़ी सी झुक गई। ईसा की प्रथम शताब्दी में इसके ऊपर पकी हुई ईंटों के पाँच रद्दे लगाये गये, जिनके ऊपर गढ़े पत्थरों का एक समतल रद्दा लगाया गया, जिसका कुछ भाग समकालीन फर्श की ओर बढ़ता हुआ देखा गया। लगभग चौथी पाँचवी शताब्दी में दीवार की ऊँचाई बढ़ाई गई तथा उसको सुदृढ़ भी किया गया। सन् 1964 में इसके पाँच रद्दे अक्षत थे।

इस दीवार को क्षति-ग्रस्त न होने के लिये, उसके दोनों ओर उसे टेक द्वारा दृढ़ किया गया था। इस दीवार के ऊपर तथा निकट से पत्थर के बने भिन्न-भिन्न प्रकार के गोले पाये गये जिनसे इस दीवार की रक्षा हेतु निर्मित किया जाना सिद्ध होता है।

इस सुरक्षा दीवार की भीतरी ओर एक छोटा सा मंदिर बनाया गया था। सुरक्षा दीवार से सटा कर दो छोटी-छोटी दीवारें, जिनमें ईंटों के चार-पाँच रद्दे हैं, बना दी गई तथा भीतर पकी मिट्टी की बनी एक प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई, जिसका केवल निम्न भाग शेष है। यह तीर्थ मंदिर नाग-कुशाण काल में सुधारी गई सुरक्षा दीवार के प्रलंबित भाग पर बनाया गया है, जिससे इसका काल निर्धारण ई० सन् की तीसरी सदी किया जा सकता है। मंदिर के ठीक सामने तथा निकट पकी हुई मिट्टी का एक बड़ा मर्तबान रखा हुआ पाया गया है। लगभग पाँच मीटर की दूरी पर पकी मिट्टी के बने समर्पित कुण्ड (वोटिव टैंक) भी पाये गये थे।

इस प्रकार की पकी मिट्टी की बनी हुई बड़ी-बड़ी प्रतिमायें भारतवर्ष के अन्य स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें अहिच्छत्र की प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय हैं। शैली के आधार पर वहाँ की प्रतिमाओं को ई० सन् की तीसरी चौथी शताब्दी का अनुमाना गया है।

यद्यपि सुरक्षा दीवार के भीतर अधिक उत्खनन नहीं किया जा सका, अनेक प्रकार तथा माप की नालियों से ज्ञात होता है कि निश्चित ही कोई भव्य व विशाल इमारत यहाँ रही होगी। यह नालियाँ कभी पत्थर की बनाई गई तो कभी ईंटों की। सबसे पुराना निकास-नल पकी हुई मिट्टी का बनाया गया था। जितनी भी नालियाँ यहाँ पर अनावृत की गई हैं, उनमें से अधिकांश सुरक्षा दीवार के पूर्व की निर्मित हैं।

सुरक्षा दीवार के बाहर दो नालियाँ पाई गई, जिनमें से एक छोटे-छोटे पत्थरों की बनी थी तथा जिसका पूर्व-पश्चिम दिग् विन्यास था। दूसरी नाली पकी हुई ईंटों की बनी थी तथा इसका दिग् विन्यास उत्तर-दक्षिण था। उसकी ईंटों के माप तथा स्तरित प्रमाणों से विदित होता है कि यह मौर्य काल मे बनाई गई थी। जिस प्रकार सुरक्षा दीवार प्रायः नदी की ओर झुकी हुई पाई गई, यह नाली भी उसी दिशा में झुकी थी। सुरक्षा दीवार के बाहर जो उत्खनन हुये उसमे कम-से-कम दो बाढ़ों के प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से प्रथम बाढ़ मौर्य काल में आई थी जिसके कारण ईंटों की बनी नाली में भी झुकाव आ गया।

साधारणतया बाढ़ पूर्व से आने पर किसी भी निर्माण को पश्चिम की ओर झुकना चाहिये था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाढ़ ने केवल इसकी नींव को ही हिलाया है। नींव के निचले भाग को धक्का लगने से उसका ऊपरी भाग बाहर को झुक गया। इस नाली की अनावृत की गई लम्बाई दो मीटर है तथा ईंटों के सात रद्दों में बनी हुई है। ईंटों की माप 48×24×7 से० मी० तथा भीतरी चौड़ाई 25 से० मी० है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक नगरों की एक विशेषता है वलय-कूपों का प्रयोग। यह वलय-कूप पकी हुई मिट्टी के बनाये जाते थे तथा एक छल्ले को दूसरे के ऊपर अत्यन्त विधिवत रखा जाता था। इनके प्रयोग के विषय में पुरातत्वज्ञों के अनेक मत हैं। विदिशा में पाये गये कूपों के भीतर की सामग्री से स्पष्ट है कि उनमें नालियों के पानी आदि की निकासी की जाती थी। यहाँ पर वलय कूपों के दो जोड़े अनावृत किये गये हैं। एक जोड़ा सुरक्षा-भित्ति के बाहर, ट्रेंच डी 1 तथा ई 1 की "बाक" (Baulk) में मिला था तथा दूसरा सी 4 में था। पहले जोड़े के पहले वलय कूप के छल्लों का औसत माप 68×25×2 से० मी० था। इस कूप में कहीं-कहीं एक दो भाण्डों के टुकड़े पाये गये थे किन्तु वलय-कूप दो के मध्य से एक मध्य माप का लाल मिट्टी का पात्र मिला था। वलय-कूप एक की अपेक्षा दो में अधिक छल्ले रखे गये थे जिनकी संख्या 34 थी। इन कूपों के पास सुरक्षा भित्ति की ओर से आती हुई एक नाली समाप्त होती हुई देखी गई जिसके आस-पास का भाग पानी के भरे रहने के कारण पीला हो चुका था। इसी प्रकार का पीलापन इन कूपों के लिये खोदी गई नींव के गढ़ों में भी देखा गया था। सबसे ऊपरी छल्ले के निकट छटा हुआ पत्थर भी था। यह दोनों वलय-कूप मौर्य काल में निर्मित किये गये थे, जो कि सम्भवतः शुंगकाल के प्रारम्भिक वर्षों में भी प्रयुक्त होते रहे।

वलय कूपों का दूसरा जोड़ा सुरक्षा-भित्ति के नीचे पाया गया। सहज में इन कूपों का पाया जाना असम्भव था, किन्तु सुरक्षा भित्ति का यह भाग नष्ट हो जाने के कारण उत्खनन चलता रहा और इस दीवार के ठीक नीचे दोनों वलयकूप दिखाई देने लगे। इनका सुरक्षा-भित्ति के नीचे पाये जाने का तात्पर्य है कि ये शुंग काल के पूर्व ही निर्मित किये जा चुके थे, जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं। एक कूप में चौबीस तथा दूसरे में चौदह छल्ले हैं। प्रथम कूप (कूप 3) के सबसे नीचे का छल्ला एक आयताकार गड्ढे के ऊपर रखा गया था। इस गड्ढे का माप छल्ले के माप से छोटा था। इस प्रकार के गड्ढे से विदित होता है कि मिट्टी के छल्लों को दृढ़ करने के लिये जो नींव खोदी जाती थी, उसके सबसे नीचे का भाग बहुत सकरा बनाया जाता था, जिसमें केवल एक कारीगर ही खड़ा हो सके किन्तु छल्ला उसके ऊपर रखा जा सके। इनकी निर्माण विधि के लिये इस प्रकार का गड्ढा विशेष पुरातात्विक महत्व का है। इन दोनों कूपों की नींव के लिये जो गड्ढे खोदे गये थे, उनमें भी केवल मिट्टी के बर्तनों के कुछ टुकड़े ही उपलब्ध हुये।

टीला एक के कंटूर को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि शुंग काल में सुरक्षा भित्ति निर्माण करने के पूर्व ही यहाँ एक विशाल टीला बन चुका था, जिसका पूर्वी भाग, जो नदी के तट के निकट था, बाढ़ग्रस्त हो चुका था। भित्ति के बाहर की खंती सी तथा डी 1 में

उतनी क्षति नहीं हुई थी, जितनी ई 1 तथा उसके आगे हो चुकी थी। यही कारण है कि डी 1 में मौर्यकालीन पाकशाला अक्षत बनी रही। यहाँ पर पड़े अस्त व्यस्त मिट्टी के भाण्डों से भी रसोई की सामग्री पर समुचित प्रकाश पड़ता है। अनेक शंकु कटोरे, हंडियाँ, वर्तनों के गोल मुंह, जिनके ऊपर पानी के घड़े रखे जाते होंगे, पत्थर के सिल-वट्टे आदि उपकरण यहाँ से उपलब्ध हुये। रसोई के पीछे फेंके हुये भाण्डों का एक ढेर भी पाया गया था।

टीले के आर पार का सेक्शन :

सुरक्षा भित्ति के भीतर : जैसा कि पहले कहा जा चुका है खाई ए 1 में पशुओं की हड्डियों के कारण अधिक नीचे तक उत्खनन संभव नहीं था। जो इमारत इस खाई में मिली उसकी नींव **3** तक गई थी। यहाँ पर **1** में अवद्ध खाद-मिट्टी थी, जिसमें राख, आधुनिक भाण्ड, काँच की चूड़ियाँ, मनके आदि पाये गये थे। **2** से अवद्ध भूरी मिट्टी थी, जिसमें ईंटों के टुकड़े, भूरे तथा कुछ लाल भाण्ड, काँच की चूड़ियाँ, पकी मिट्टी के मनके, ताँबे के मोटे सिक्के आदि उपलब्ध हुये। यह सामग्री इस खाई में पाई गई इमारत की समकालीन थी। **3** में भूरे भाण्ड कम तथा लाल भाण्ड अधिक पाये गये, जिन पर कुछ अलंकरण भी थे। इमारत के बाहर थोड़े से भाग में **4** तक पहुँचने का प्रयास किया गया था, जिसकी सामग्री, बी 1 खाई के समान थी।

खाई बी 1 : ए 1 से बी 1 तक बहुत ही सहज ढलान होने के कारण यहाँ **1** में पाई जाने वाली अवद्ध राख आदि नहीं थी। सुरक्षा भित्ति तथा उसके भीतर की सहायक दीवार को **4** ने ढक रखा था। गुप्त काल के दो फर्श ब, स यहाँ देखे गये, जिनमें फर्श ब पर साधारण तथा अलंकृत लाल भाण्ड, लोहे की वस्तुयें, मृण्मूर्तियाँ तथा मनके, चूड़ियाँ व सिक्के प्राप्त हुए। लाल भाण्डों पर काले भाण्ड तथा गुप्त काल के विशिष्ट अलंकरण बहुतायत से दर्शनीय हैं। फर्श "स" नाग-कुशाण वंश का समकालीन था, जबकि सुरक्षा भित्ति में कुछ पत्थर समस्तर पर प्रक्षिप्त किये गये थे। इस फर्श की समकालीन सामग्री में मिट्टी के शंकुरूप कटोरे, जो कुषाण युग की विशेषता है, लाल पर काले चित्रित भाण्ड, दवातनुमा ढक्कन, मनके, नाग-क्षत्रप सिक्के आदि उल्लेखनीय है।

शुंग काल के दो फर्श 'द' तथा 'य' बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई दिये; जिनमें से ऊपरी स्तर पर सेलखड़ी अथवा हाथी-दाँत की शृंगार-पेटिकायें, पशु तथा मानुषी मृण्मूर्तियाँ, मिट्टी तथा उपरत्नों के मनके तथा कुछ आहत सिक्के प्राप्त हुये। नीचे के स्तर में ताँबे के आहत सिक्कों की संख्या कुछ अधिक थी, पकी मिट्टी की निकास नाली, मिट्टी के समर्पित तालाब (Votive tanks) तथा 3 परतों के मनके उपलब्ध हुये। इस स्तर से प्राप्त भाण्डों में लाल पर काले भाण्ड लगभग नहीं के बराबर हैं किन्तु काले लेपदार भाण्ड उल्लेखनीय हैं।

इससे नीचे के स्तर में अधिक उत्खनन के लिये स्थान नहीं था, अतः खाई बी का चित्र उतना स्पष्ट नहीं है, जितना खाई सी 4 अथवा डी 1 में प्राप्त होता है। इस मौर्य कालीन स्तर से भी दो फर्श मिले, जिनमें से एक टूटी इटों का बना था तथा दूसरा सुरखी, रेत तथा चूने का। सुरखी-चूने के फर्श मौर्यकालीन स्तर की विशेषता रहे हैं। खामत्रावा

नामक स्थल में अनावृत वृत्तायत मंदिर का फर्श भी इसी प्रकार का था, तथा ई० पू० की तीसरी शताब्दी का अनुमाना गया है। मौर्य कालीन स्तर से जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसमें काले ओपदार उत्तरी भाण्ड, लोहे की वस्तुयें, आहत सिक्के, मानुषी मृण्मूर्तियाँ तथा उपरत्नों के मनके उल्लेखनीय हैं। इस संग्रह के मध्य स्तर में, 21 व 22 में, एक विशाल अग्निकाण्ड के अवशेष प्राप्त हुये हैं। ऐसे ही अवशेष इसी काल व स्तर से, यहाँ के अन्य टीलों में भी देखे गये हैं।

इस खाई की 27 व 28 से ताम्रपाषाणयुगीन आवास के चिन्ह भी प्राप्त हुये है। किन्तु 3 × 3 मीटर के क्षेत्र में उत्खनन किए जाने से विशेष अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी। इन दोनों स्तरों की मिट्टी क्रमशः ठोस व अबद्ध भूरी थी। इनमें लौह पदार्थों की अनुपस्थिति तथा ताम्रपाषाण युगीन दृढ़ भाण्ड, काले और लाल भाण्डों की प्राप्ति सुस्पष्ट है। इन भाण्डों के साथ गेरुये रंग की सतह वाले कुछ टुकड़े भी ऊपरी सहत से प्राप्त हुये हैं। इस प्रकार के भाण्ड, टीला दो के निम्नतम स्तर से भी एकत्र किये गये थे।

सुरक्षाभित्ति के बाहर : *खाई सी 1, डी 1, ई 1, एफ 1, जी 1* : जैसा पहले कहा जा चुका है कि टीला एक में पूर्व की ओर यकायक ढाल आ गया है, जिसके कारण ऊपरी स्तर नष्ट हो गये हैं। जिस प्रकार भीतर के सेक्शन से सुरक्षा भित्ति के विभिन्न कालों के निर्माण का इतिहास ज्ञात होता है, बाहर के सेक्शन से उसके अनेक बार विनष्ट होने के प्रमाण मिलते हैं।

गुप्त काल में सुरक्षा भित्ति की मरम्मत में प्रयुक्त ईंटे 4 में गिरी हुई पाई गई, जिसमें पाँचवी छठीं शताब्दी ई० सन् के पुरावशेष पाये गये। यह मलवा सी 1 टेंच की 5 के ऊपर पड़ा था। 5 में नाग-कुशाण काल के अवशेष पाये गये। ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी तक यह नगर लगभग तीन बार बाढ़ग्रस्त हुआ। सुरक्षा भित्ति के बाहर के सेक्शन में इसके प्रमाण मिलते हैं। मौर्य-काल, शुंग तथा गुप्त काल में क्रमशः तीनों बाढ़ें आई। ई से जी 1 टेंचों में प्रथम बाढ़ के अवशेष हैं, तथा दूसरी व तीसरी बाढ़ो के चिन्ह डी 1 तथा ई 1 टेंचों में पाये गये हैं। यद्यपि यह आवश्यक था कि टेंच सी 1 में सुरक्षा भित्ति के नीचे के स्तरों का भी उत्खनन किया जाता, किन्तु उसके नीचे से आने वाली नाली तथा समयाभाव के कारण वहाँ कार्य स्थगित करना पड़ा।

पुरावशेषों की दृष्टि से टेंच डी 1 तथा ई 1 का उत्खनन विशेष महत्वपूर्ण रहा। 2 के निम्न स्तर तथा 6 से अत्यधिक आहत सिक्के, लौह पदार्थ, भाण्डे आदि बहुतायत से उपलब्ध हुये हैं। इस क्षेत्र में 8 के नीचे काले ओपदार उत्तरी भाण्ड नहीं मिले। 8 तथा उसके नीचे के स्तर अधिक अस्तव्यस्त मिले हैं, क्योंकि नदी का पानी धीरे-धीरे रिसता रहता था। यद्यपि भित्ति के बाहर ताम्रपाषाण युगीन अवशेष प्राप्त नहीं हुये, कुछ लोडित भूरे भाण्ड, एकत्र किये गये है।

सुरक्षा भित्ति के समानान्तर का सेक्शन (उत्तर-दक्षिण) : सर्व प्रथम टेंच बी 1 में सुरक्षा भित्ति अनावृत की गई थी, अतः उसका विस्तार देखने की दृष्टि से दीवार के

दोनों ओर की टेंचों में उत्खनन प्रारम्भ किया गया। यही कारण है कि बी 1 के अतिरिक्त अन्य किसी टेंच में कोरी मिट्टी तक उत्खनन नहीं किया। इसका अपवाद सी 5 टेंच भी है क्योंकि उसमें भी दो वलय कूप निकले थे।

इस टीले पर समतल उत्खनन का अभिप्राय केवल सुरक्षा भित्ति को अनावृत करना ही था, अतः केवल उसके दोनों ओर ही कार्य सीमित रहा। इस सेक्शन के समानान्तर का कण्टूर लगभग समतल होने के कारण स्तरण सम्बद्धता में कोई कठिनाई नहीं हुई।

1 व **2** में प्रायः वही सामग्री प्राप्त हुई जो बी 1 में उपलब्ध हुई थी। किन्तु कहीं-कहीं **3** में अस्तव्यस्त मिली क्योंकि लोग सुरक्षा भित्ति की ईंटों को निकालते रहते थे। फलस्वरूप अनेक स्थानों पर आसपास के **2** की सामग्री उन गढ़ों में पहुँच गई। **3** सुरक्षा भित्ति के ऊपर जमी हुई पाई गई थी। **4** में उसकी गिरी हुई ईंटों का मलवा था। उसके नीचे नाग-कुषाण काल की सामग्री थी।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, सुरक्षा भित्ति के आसपास से पत्थर के गोले पाये गये जो, गुप्त काल के गिरे हुये मलवे के नीचे थे। इस भित्ति का पूर्वी किनारा स्पष्टतया नहीं देखा जा सका क्योंकि प्रथम तो उसका झुकाव तथा गिराव उस ओर था, दूसरे ईंटों की चोरी भी बहुत हुई। टेंच बी 2 तथा सी 2 में इस भित्ति के पूर्वी किनारे को देखा जा सका किन्तु उसका क्रोड ईंट चोरों ने यहाँ पर बहुत ही खोखला कर दिया था।

टेंच सी 5 में भाण्डों का एक बड़ा ढेर अनावृत किया गया था, जो भित्ति के क्रोड के ऊपर तथा उसके पश्चिमी किनारे पर था। भाण्डों के इस ढेर को ई० सन् की छठीं सातवीं शताब्दी का अनुमाना गया है।

टेंच सी 4 में गहरा उत्खनन करना पड़ा था, क्योंकि सुरक्षा भित्ति के पूर्वी किनारे की तलाश में दो वलयकूप अनावृत होने लगे थे। यह दोनों वलयकूप **3अ** से ढके हुये थे तथा यहाँ पर[1] सुरक्षा भित्ति **3बी** में निर्मित हुई थी। **3**, **3ब** तथा **4** से आहत सिक्के प्राप्त हुये। **4** से काले ओपदार उत्तरी भाण्ड तथा इंद्रगोप मनके विशेष उल्लेखनीय हैं। **4** के निम्नस्तर तथा **5** के सम्पूर्ण भाग में भी अग्निकाण्ड के प्रमाण प्राप्त हुये हैं।

6 से प्राप्त पकी हुई मिट्टी का एक वृष विशेष उल्लेखनीय है। इस स्तर के नीचे तथा ऊपर क्रमशः जली हुई मिट्टी तथा राख मिली है। इसके नीचे **7** व **8** समनुबंध भूरी मिट्टी की है, जिसमें ताम्रपाषाण-युगीन पुरावशेष पाये गये। **7** की अपेक्षा **8** में निवास सामग्री अधिक थी। एक लघुपाषाण क्रोड तथा एक दाँत इस स्तर के आकर्षक अवशेष हैं। इस टेंच का सम्पूर्ण संचय 4·90 से० मी० था।

इस टेंच में अनावृत वलय-कूपों के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। इनका निर्माण मौर्य काल के अंतिम दिनों में हुआ प्रतीत होता है।

---

1. सी 4 टेंच का संस्तरण बी 1 से भिन्न है, अतः लेयर्स की संख्या में भी भिन्नता है।

टीला द्वितीय (बी एस एन दो) : विदिशा-अशोकनगर मार्ग पर वेत्रवती तथा बेस नदियों से लगभग 100 मीटर पर मध्यस्थ यह टीला है। यहाँ से उदयगिरि की गुफाओं का मार्ग लगभग 300 मीटर की दूरी पर है। प्राचीन समय में बी एस एन एक तथा दो एक ही थे, किन्तु नदियों में बाढ़ आने पर तथा बरसाती नालों ने काट कर दो भाग कर दिये। लोक-निर्माण विभाग ने इसमें और योगदान दिया है। उन्होंने इसके दक्षिणी भाग को काटकर अशोकनगर के लिये सड़क बनाई। वर्तमान मार्ग के पूर्व जो सड़क बनी थी वह इस टीले के उत्तरी कोने को काटकर निकाली गयी थी। इस टीले के पश्चिम तथा उत्तर में जो गहराई है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे इसके चारो ओर प्राचीन समय में एक बड़ी भारी खाई रही हो। वर्तमान सतह से इस टीले की ऊँचाई पांच से बारह मीटर तक है। इसके दक्षिणी भाग में एक आधुनिक मंदिर है, जिसमें एक साधु निवास करता है। उस टीले का कंटूर 422·44 मी० है।

प्राचीन बेसनगर के अन्य टीलों के समान यह भी वृक्षों तथा झाड़ियों से पूर्ण रूप से आच्छादित था, जिसको स्वच्छ करना नितांत आवश्यक था। निकट में ही जंगली शूकर रहते थे, जिन्हें प्रतिदिन भगाना पड़ता था, अन्यथा यह भय था कि किसी पर वह आक्र-मण न कर दें।

जंगल की सफाई, खूँटी गाड़ने, फोटो कराने आदि की प्रारम्भिक किन्तु आवश्यक औपचारिकताओं के पश्चात् उत्तर-दक्षिण दिशा में चार ट्रेंचों, ए 1 से ए 4 में उत्खनन करने का निश्चय किया गया। सर्वप्रथम ए 4 में कार्य प्रारम्भ किया गया क्योंकि टीले का यह भाग वर्षा के कारण पहले से ही अनावृत था, और यहाँ पर सेक्शन को थोड़ा सा ही काटना था। अतः "स्टेप सिस्टेम" से उत्खनन किया गया। 4·90 मी० गहराई तक उत्खनन किया गया। इस ट्रेंच की सामग्री से यह स्पष्ट हो गया कि यहाँ पर ई० पू० की सातवीं-आठवीं शताब्दी से ई० सन् की चौथी शताब्दी तक आवास रहा।

इस टीले पर अधिक क्षेत्र में उत्खनन सम्भव नहीं हो सका क्योंकि टीले के मध्य में जो क्षेत्र उत्खनन हेतु लिया गया था, उसमें कुछ ही सेंटीमीटर नीचे 1 से ढकी हुई पत्थर की एक इमारत के अवशेष निकल पड़े। यही नहीं, इसी प्रकार की पाँच अन्य इमारतें यहीं पर मिलीं। अनगढ़ पत्थरों की दो दीवारों के समकालीन पत्थर का बना हुआ एक फर्श था। यह सब 3 से ढके हुए थे। इनका सबसे नीचे का रद्दा 6 तक पहुँचता था। फर्श में जिन पत्थरों का प्रयोग हुआ था, उनकी केवल ऊपरी सतह सपाट थी, अन्य भाग अनगढ़ थे। इसी फर्श के बीच में कहीं-कहीं लकड़ी के स्तम्भ गाड़ने के लिए खोदे गये गढ़े भी मिले किन्तु उनका सम्पूर्ण प्लान सामने नहीं लाया जा सका। इन गढ़ों में मिट्टी के साथ लकड़ी के तंतु भी भरे पाये गये। दीवारों का दिग्विन्यास पूर्व-पश्चिम था।

1·40 मीटर की गहराई पर ईंटों की बनी एक इमारत पाई गई। इसका भी दिगविन्यास पूर्व-पश्चिम था। इसका कुछ भाग उपर्युक्त पत्थर की इमारत के नीचे दबा हुआ था। इस इमारत को 6 ने ढक रखा था। उसके नीचे की इमारत पत्थर तथा ईंट की

बनी थी तथा इसकी अनुस्थिति लगभग उत्तर-दक्षिण में थी। इस इमारत के सबसे ऊपर का रद्दा रोड़ों का बना हुआ था। 9 से यह इमारत ढकी हुई इस टीले की सबसे प्राचीन इमारत 11 के नीचे पाई गई। इसकी दीवार अनगढ़ पत्थरों की बनी हुई थी, किन्तु इसका समकालीन फर्श फूट-फूट कर भरी हुई ईंटों का बनाया गया था। 2·45 मीटर नीचे एक अन्य फर्श स्तर अनावृत किया गया, जिसमें राख भरा एक चूल्हा निकला। इस टीले से ताम्रपाषाण कालीन अवशेष प्राप्त नहीं हुये।

काल-प्रथम *(अ)* : इस काल की अवधि में कोई इमारत नहीं पाई गई। गेरुये लाल, भूरे तथा काले और लाल भाण्ड तथा स्फटिक के दो टुकड़े इस संचय से प्राप्त हुये हैं। भूरे भाण्डों के जो छोटे छोटे टुकड़े मिले हैं, चित्रित धूसर भाण्डों के समान है।

काल-द्वितीय : इस काल के निम्नतम स्तरों से काले ओपदार उत्तरी, भाण्डों के दो टुकड़े मिले, जिनके साथ काले और लाल, काले लेपदार तथा लाल भाण्डे भी पाये गये। यदाकदा अबरकदार भाण्ड भी एकत्र किये गये। इस काल की अवधि में भी कोई इमारत यहाँ नहीं पाई गई, यद्यपि जो फर्श मिले हैं उनमें हड्डियाँ तथा ठीकरों की संख्या अधिक थी। काले ओपदार उत्तरी भाण्डों के अतिरिक्त, इस काल सचय से ताँबे की अनन्त शलाकायें, पकी हुई मिट्टी के ठप्पे, लटकन, खेल के मुहरे, मनके, चौपड़ के पाँसे लोहे के बाण आदि वस्तुयें मिली हैं।

काल-तृतीय : धीरे धीरे विशिष्ट भाण्डों की संख्या कम होती गई और उनका स्थान लाल पर काले भाण्डो ने लेना प्रारम्भ कर दिया, काले और लाल तथा काले भाण्डों के कुछ टुकड़ों के अतिरिक्त छिड़काव करने वाले भाण्ड (sprinklers) टोंटी तथा घुण्डीदार बर्तन उल्लेखनीय हैं। अन्य पुरावशेषों में मृण्मय मूर्तियाँ, ठप्पे, खिलौने की गाड़ी, मनके तथा आहत सिक्के पाये गये।

काल-चतुर्थ : विशिष्ट भाण्ड नहीं के बराबर हैं तथा अबरकदार और लाल पर काले भाण्डों की संख्या में आधिक्य है। यहाँ से दो मानुषी मृण्मूर्तियाँ, ठप्पे, सीप की चूड़ियाँ, पत्थर के मनके, छिड़काव करने वाले भाण्ड, हाथी दाँत के मुहरे आदि एकत्र किये गये हैं।

काल-पंचम : इस काल में कुछ अनगढ़ धूसर भाण्ड, अभ्रकदार तथा लाल पर काले भाण्डों का अधिक संख्या में सतत प्रयोग, ठप्पों तथा अलंकृत ठीकरों का बाहुल्य तथा यदा-कदा काले और लाल भाण्ड पाये गये। अनलंकृत लाल भाण्डों की संख्या सर्वाधिक रही, जिसमें उपयोगितावादी प्रकार की विविधता देखी गई। यहाँ से उपलब्ध दो ताँबे के सिक्कों में से एक सम्भवतः राम गुप्त का है। मृण्मयलघुमूर्तियाँ, मनके, मुहरें, ठप्पे आदि भी इस काल संचय में मिले।

गुप्त काल के पश्चात् यह टीला किसी का निवास स्थल रहा, इसका कोई प्रमाण विद्यमान नहीं है। ऐसे भी, गुप्तकाल अथवा उसकी समाप्ति पर बेसनगर के स्थान पर वर्तमान विदिशा बस गया था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस टीले पर ताम्रपाषाण कालीन तथा गुप्त काल के उपरान्त अवशेषों के अतिरिक्त अन्य सामग्री लगभग उसी प्रकार की है जो बी० एस० एन 1 में उपलब्ध हुई। यहाँ के उत्खनन से सामान्य काल संचयों की. विशेषताओं की पुष्टि हो जाती है।

बी एस एन 4[1]

यह स्थान नवलखा टीले के नाम से प्रसिद्ध है, जो वेत्रवती नदी के पूर्वी तट पर स्थित है तथा बी एस एन 1 के ठीक दूसरी ओर है। लगभग प्रति वर्ष नदी में बाढ़ आने पर इसका निरन्तर क्षरण होता जा रहा है। यद्यपि इस टीले का विस्तार अपेक्षाकृत बहुत अधिक है, नदी तट पर ही इसका कंटूर सर्वोच्च है। टीले के धरातल संग्रह से ही स्पष्ट हो गया था कि प्राचीन विदिशा नगर का विस्तार वेत्रवती तथा बेस नदियों के संगम क्षेत्र के त्रिकोण तक ही सीमित नहीं था वरन् प्राचीनतम काल से ही उसके बाहर भी उसी प्रकार का निवास रहा है, जैसा सरिताओं से घिरे हुये भाग में था। इसमें संदेह नहीं कि ज्यों-ज्यों सरिताओं के तट दूर होते हैं, आवास स्तर अदृश्य होते जाते हैं। अतः प्राचीन नगर का मुख्य जनसमुदाय सरिताओं से घिरे हुये क्षेत्र में ही निवास करता था।

इस टीले के धरातल संग्रह में ताम्रपाषाणकालीन सामग्री विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि अन्य टीलों के धरातल से इस प्रकार की सामग्री का सर्वथा अभाव था। अतः सर्व प्रथम सर्वोच्च कंटूर रेखा पर एक टेंच 5 × 5 की परीक्षण उत्खनन हेतु ली गई थी, जिसमें चार कालों के निवास स्तर प्राप्त हुये।

काल प्रथम : इस काल की सामग्री की विशेषताओं में ताम्रपाषाण कालीन भाण्ड विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। यह भाण्ड अच्छी, लाल मिट्टी के बनाये गये थे, जिनका सुदृढ़ तथा सुगठित सेक्शन है तथा आवे में भली भाँति पकाया जाना स्पष्ट है। इनमें यदा कदा लाल पर काले (चित्रित) भाण्ड तो सम्मिलित थे ही। बहुत ही पतले व अच्छे काले व लाल भाण्ड भी थे। इन सबके साथ अनगढ़ लाल भाण्डे भी पाये गये हैं। पहलूदार क्रोड तथा कुछ लघुपाषाण शल्क भी इसी स्तर से एकत्र किये गये।

ताम्रपाषाणकालीन लोग काली मिट्टी पर, जो यहाँ की प्राकृतिक मिट्टी का सबसे ऊपरी अंश है, रहते थे। धरातल से 3,70 से० मी० नीचे दो अनगढ़ पत्थर, जो समतल अवस्था में रखे गये पाये गये थे, उस काल के एक फर्श के द्योतक हैं। इनका निवास संचय 1, 60 से० मी० है, जिसके ऊपरी स्तर में नीचे की अपेक्षा अधिक भाण्ड पाये गये। नीचे के स्तर से उपलब्ध भाण्डों के ठीकरे भी आकार में छोटे हैं। सम्पूर्ण संचय पर पानी के रिसने का प्रभाव स्पष्ट है।

---

1. क्रमानुसार यहाँ पर बी एस एन 3 का विवरण देना चाहिए था, किन्तु उसमें लगभग समतल उत्खनन किया गया था और बी एस एन 1, 2 व 4 में लम्बवान, अतः तारतम्य स्थापित रखने के लिये यही उपयुक्त है कि बी एस एन 4 का वर्णन किया जाये।

यद्यपि 2 × 4 मीटर का क्षेत्र ही अनावृत किया जा सका था, इस संचय के सर्वोच्च स्तर में (320 से० मी० की गहराई पर) ताम्रपाषाणकालीन भाण्डों के साथ प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग के भाण्ड भी पाये गये। स्पष्ट है कि दोनों संस्कृतियों के लोग कुछ समय के लिये समकालीन रहे, भले ही द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों में रहे हों।

काल-द्वितीय : इस काल का संचय 1,70 से० मी० है। प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग के प्रारम्भिक स्तरों से सिद्ध होता है कि उस समय के लोगों का निवास नियमित तथा शान्तिपूर्ण था, किन्तु मध्य स्तर में अग्निकाण्ड के प्रमाण द्रष्टव्य है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इसी प्रकार के प्रमाण बी एस एन एक तथा दो में भी विद्यमान थे। लगभग दस सेंटी-मीटर मोटे संचय में जली हुई मिट्टी तथा लकड़ी के अवशेष एक समान ढंग से पड़े हुये मिले।

इस अग्निकाण्ड के सुस्पष्ट अवशेष इसी टीले की एफ 1 टेंच में फैले पड़े थे। यह विचारणीय है कि इस टेंच में, जिसका धरातल-स्तर उपर्युक्त टेंच से कुछ नीचे था, कोई ताम्रपाषाण कालीन अवशेष उपलब्ध नहीं हुये।

एफ 1 में अनावृत किया हुआ इस काल का क्षेत्र ए 1 से कम था किन्तु काले ओपदार उत्तरी भाण्ड सस्कृति का संचय अधिक था। यहाँ पर पकी हुई ईंटों का (48 × 27 × ·07 से० मी०) बना हुआ एक बड़ा चूल्हा पाया गया, जिसमें अपेक्षाकृत ईंटों का माप बहुत बड़ा था, जिसके कारण उसे चूल्हा न कहकर भट्ठी भी कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इसके भीतर बहुत ही अच्छी राख भरी हुई थी। इसी के निकट जले हुये गेहुओं का एक मोटा स्तर भी पाया गया। इसी संचय में दो बार जले हुये ठीकरे, ताँबे तथा लोहे के टुकड़े भी पाये गये, जिनकी अवस्था अत्यधिक तीव्र आग के कारण विशेप क्षतिग्रस्त हो चुकी थी।

इस काल सचय के ऊपरी स्तरो से ताँबे के आहत सिक्के तथा काले ओपदार उत्तरी भाण्ड मिले। इस टेंच के नीचे से प्राप्त किये गये ठीकरों का रंग भी कुछ पीलापन लिये हुये देखा गया, जिससे भीतर ही भीतर पानी के रिसने का अनुमान लगाया जा सकता है।

काल-तृतीय : इस सचय को देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के निवासी अत्यधिक समृद्धिशाली थे, जिन्होंने समग्र विशाल निर्माण किये। बी एस एन–1 में भी सुरक्षा भित्ति शुंगकाल की ही देन है। इस टीले की मुख्यता ए 1 टेंच में बना हुआ एक बहुत ही सुदृढ़ फर्श मिला, जिसमें क्रमशः नदी तट से लाये गये रोड़ों की नींव, पकी हुई ईंटों के टुकड़े, कुटी हुई ईंटे तथा मोटे तथा दृढ़ चूने के पलस्तर का प्रयोग किया गया। इसका समकालीन एक फर्श एफ 1 टेंच में भी था, किन्तु इतना दृढ़ नहीं था तथा प्राचीन पानी के नाले के कारण वह नष्ट हो चुका था।

काल-चतुर्थ : इस टीले के सबसे ऊपरी स्तरों में इस काल का संचय है, जिसकी मुख्य विशेपता क्षत्रप राजाओं के सिक्के हैं। 1 से भी एक क्षत्रप सिक्कों की प्राप्ति तथा गुप्त काल अथवा तत्पश्चात् की सामग्री का अभाव सिद्ध करता है कि इस टीले पर क्षत्रपों के पश्चात् कोई आवास नहीं था।

वी एस एन 3

यह स्थल बेस नदी तथा विदिशा-अशोकनगर मार्ग से लगभग सौ मी० की दूरी पर स्थित है, जो हेलियोदोरस स्तम्भ अथवा खामबाबा के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसकी पूजा करने के लिये आस पास के लोग आते हैं। इसके निकट ही कुछ झोंपड़ी हैं, जिन्हें यहाँ के निवासी टीला के नाम से जानते हैं। यह स्थल समुद्र सतह से 420 मीटर ऊँचा है, यद्यपि सामान्य धरातल की ऊँचाई 414-415 मीटर ही है। उत्खनन के पूर्व हेलियो-दोरस स्तम्भ के पास जो ऊँचा टीलानुमा स्थल था उसकी ऊँचाई लगभग पाँच मीटर थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि बेसनगर की प्रसिद्धि का श्रेय हेलियोदोरस स्तम्भ को है जिस पर तक्षशिला के यवन राजदूत हेलियोदोरस का वैष्णवधर्म का उपासक होने का वृतान्त उत्कीर्ण है, तथा जिससे विष्णु मन्दिर के समक्ष इस स्तम्भ को स्थापित किये जाने की पूर्ण सम्भावना होने लगी थी। पिछले सौ वर्ष के अनेक प्रयासों द्वारा भी इस मन्दिर के अवशेष नहीं देखे जा सके थे क्योंकि इस टीले पर खामबाबा के पुजारी ने अपना घर बना लिया था।

उत्खनन की इस बाधा को दूर करने का एक ही उपाय था कि पुजारी को उस स्थल का मुआवजा देकर अलग कर दिया जाय। तदनुसार खामबाबा के आस-पास का क्षेत्र केन्द्रीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित कर लिया गया।

प्रथम वर्ष के उत्खनन में इस टीले के ऊपर का मलवा हटाया गया, जिसमें पुजारी के मकान की दीवारें, अनगढ़ धूसर भाण्ड तथा कूड़ा डालने के अनेक गढ़े पाये गये। उत्खनन की समाप्ति तक अनगढ़ पत्थरों का बना हुआ एक बड़ा घेरा (33 × 33 मी०) अनावृत किया जा चुका था, जिसकी दीवारों की चौड़ाई 2,40 सें० मी० थी। इस घेरे की दीवारों के भीतरी भाग में गढ़े हुये पत्थर प्रयोग किये गये थे। किन्तु चारों दीवारें बाहर की ओर झुकी हुई पाई गई थीं।

अगले वर्ष घेरे के भीतरी भाग में उत्खनन किया गया, जिसमें ऊपरी स्तर के मलवे को छोड़कर सम्पूर्ण भाग में काली-पीली मिट्टी भरी हुई थी। इस मिट्टी के बीच में, वर्तमान धरातल से लगभग एक मीटर की गहराई पर ईटों के टुकड़ों के फर्श की एक पतली व अस्तव्यस्त धारी देखी गई थी। इसी गहराई पर तथा घेरे की दक्षिणी दीवार के निकट पूर्व-पश्चिम दिग्-विन्यास में ईटों का एक ढेर सा अनावृत किया गया, जिसकी ईटें पानी की नमी के कारण भुरभुरी होकर नष्टप्राय हो चुकी थीं। इन ईटों तथा फर्श से विदित होता है कि इस स्तर पर कोई इमारत रही होगी, जिसके केवल इतने ही अव-शेष हैं।

इस फर्श के नीचे तथा टीले की ऊपरी सतह से 2,75 सें० मी० की गहराई पर एक दूसरा फर्श भी प्रकाश में आया। यह फर्श टूटी ईटों को ठूंस-ठूंस कर बनाया गया था, जिसके ऊपर चूने का पलस्तर था, और सबसे ऊपर सम्भवतः फर्शी पत्थर बिछाये गये थे। घेरे के उत्तर पूर्वी भाग में कुछ अनगढ़ पत्थर जिनका ऊपरी भाग स्पष्ट था, फर्श के

स्तर पर पड़े हुए पाये गये थे। टूटी हुई ईंटों से बनाया गया यह फर्श घेरे के बाहर तक देखा गया तथा घेरे की दीवारें इसके ऊपर बनाई गई थीं।

इस फर्श की सफाई करते समय 22 से० मी० चौड़ी तथा 15-20 से० मी० गहरी एक खाई मिली, जिसको चारों ओर से अनावृत करने पर दीर्घवृताकार इमारत का प्लान प्रकट हुआ। यह अवशेष विष्णु के प्राचीनतम मन्दिर के थे जो लगभग ई० पू० की तीसरी शताब्दी में बाढ़ग्रस्त हुआ था।

इस मंदिर का वृत्ताकार गर्भगृह 8.10 × 3 मीटर था तथा उसके प्रदक्षिणा पथ की चौड़ाई 2·5 मीटर। प्रदक्षिणा पथ की बाहरी दीवार भी वृत्ताकार थी। वाह्यवृत्त के पूर्वी ओर जो आयताकार सभामण्डप मिला, उसके तथा गर्भगृह के बीच मे एक अन्तराल भी था। सभा मंडप 7 मी० लम्बा तथा 4·85 मी० चौड़ा था, जिसमें पूर्व की ओर एक द्वार था। इसकी नींव के निकट तथा मध्य में लकड़ी के स्तम्भ तो नहीं, उनके गढ़े मिले थे। भिन्न-भिन्न प्रकार तथा माप की लोहे की कीलों व गढों की चौड़ाई से प्रयोग में लाए गये लकड़ी के स्तम्भों के विषय में अनुमान लगाना कठिन नहीं है। सुरखी, चूना और ईंट के बने समकालीन फर्श के ऊपर तांबे के आहत सिक्के तथा मिट्टी के भाण्डे-बर्तन मिले हैं, जिनमें ओपदार काले उत्तरी भाण्ड के कुछ भाग विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार का फर्श तथा दीर्घवृत्ताकार मंदिर, चित्तौरगढ़ के पास, नगरी नामक स्थान पर डॉ० भण्डारकर ने अनावृत किया था, जो बेसनगर के इस मंदिर का समकालीन रहा होगा।

वृत्ताकार मदिर पत्थर के घेरे से पूर्व निर्मित हुआ था इसमें कोई सन्देह नहीं है। पुरातात्विक उत्खनन के विशेषज्ञ सर्वश्री अमलानंद घोष, तत्कालीन डाइरेक्टर जनरल, वृजवासीलाल, वालकृष्ण थापर तथा डॉ० नीलरत्न बनर्जी व श्रीमती देवला मित्रा ने भी बड़ी सावधानी से दोनों के निर्माण तथा उनसे सम्बन्धित स्तरों का निरीक्षण करके मेरे निष्कर्ष की पुष्टि की थी क्योंकि वृत्तायत मदिर प्राकृतिक काली मिट्टी पर निर्मित किया गया था तथा पत्थर का घेरा वृत्तायत मदिर के फर्श के ऊपर था। यह फर्श ही घेरे के भीतर तक सीमित नही था, अपितु उसके बहुत बाहर तक उसका विस्तार था। अनेक कारणों वश फर्श के सम्पूर्ण विस्तार को अनावृत नहीं किया जा सका। इस फर्श पर प्राचीनतम आहत सिक्के तथा ओपदार काले उत्तरी भाण्ड पाये गये, जबकि घेरे के समकालीन संचय से कोई भी ऐसे भाण्ड उपलब्ध नहीं हुये। घेरे की पूर्वी दीवार का संरेखड़ हेलियोदोरस स्तम्भ के साथ है, तथा वह दोनों एक दूसरे के समकालीन है, जैसा कि सेक्शन के अध्ययन से विदित होता है। फर्श तथा पत्थर के घेरे के बीच में पीली मिट्टी की एक पतली परत है, जो वृत्ताकार मंदिर के बाढ़ग्रस्त होने का परिणाम थी।

यहाँ यह कहना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि वृत्ताकार प्लान विष्णु मंदिर का ही था। भारतवर्ष में ही नहीं, वरन् लगभग सम्पूर्ण संसार के प्राचीन देवालयों की निर्माण प्रथा यही रही है कि प्रायः एक मदिर के नष्ट अथवा भग्न होने पर उसी स्थान पर नवीन मंदिर निर्माण किया जाता था। हेलियोदोरस स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख, उदयगिरि की गुफाओं तथा यहाँ से उपलब्ध विष्णु की मूर्तियों से ज्ञात होता है कि विदिशा वैष्णव धर्म

का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। शुंग काल में हेलियोदोरस ने विष्णु मंदिर के निकट ही स्तम्भ स्थापित किया था। ऐसी अवस्था में यह सहज रूप से अनुमान किया जा सकता है कि शुंग-कालीन विष्णु मंदिर मौर्यकालीन विष्णु मंदिर के स्थान पर ही निर्मित किया गया था। अभाग्यवश मौर्यकालीन मंदिर से कोई भी प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई।

जिस स्थान पर वृत्ताकार मंदिर था वह बेस नदी से अधिक दूर न था तथा वह तत्कालीन धरातल पर ही निर्मित किया गया था। परिणाम स्वरूप मौर्यकाल में बाढ़ आते ही सम्पूर्ण मंदिर, जो केवल नींव में प्रयोग की गई ईंटों के कुछ रद्दों को छोड़कर शेष लकड़ी का बना था, ढह गया। उसके अवशेष केवल नींव के लिये खोदी गई वृत्ताकार प्लान के रूप में रह गये। प्रदक्षिणा पथ के उत्तरी भाग में कुछ टूटी हुई ईंटें पाई गई थीं तथा वहाँ से थोड़ी ही दूर पर चार-पाँच फनाकार ईंटों के टुकड़े भी पाये गये थे। बाढ़ के प्रकोप से बचने के लिये वृत्ताकार मंदिर की नींव के ऊपर मिट्टी डालकर एक विशाल चबूतरा बनाया गया तथा उस चबूतरे को चारों ओर से अनगढ़ पत्थरों की दीवारों का आवरण चढ़ा दिया। यह दीवारें बिना चिनाई की हुई बनाई गई थीं। ऐसा करने से न केवल चबूतरा ही सुरक्षित रहा, अपितु उसके ऊपर बनाये गये मंदिर को भी किसी प्रकार की क्षति न पहुँचने की आशा थी।

लगभग ई० पू० की दूसरी शताब्दी में इस चबूतरे पर एक नया विष्णु मंदिर बनाया गया। अभाग्यवश इस मंदिर के कोई अवशेष प्राप्त नहीं हो सके, केवल एक फर्श की पतली परत तथा दक्षिण दीवार की ओर कुछ गली हुई ईंटें ही देखी गई। इससे स्पष्ट है कि पुनः यह स्थल बाढ़ग्रस्त हुआ। यह बाढ़ मौर्यकालीन बाढ़ से भी भयंकर प्रतीत होती है क्योंकि इतनी ऊँचाई पर बना हुआ मंदिर भी उससे नष्ट हुआ। चबूतरे की मिट्टी में पानी भर जाने से केवल उसमें प्रयोग की गई ईंटें ही नहीं गल गई, अपितु घेरे की दीवारें भीतर की मिट्टी के दबाव के कारण चारों ओर बाहर को झुक गई। हेलियोदोरस स्तम्भ इसी मंदिर का समकालीन था।

हेलियोदोरस स्तम्भ के अतिरिक्त इस मंदिर के सामने सात अन्य स्तम्भ भी थे, जो हेलियोदोरस स्तम्भ तथा घेरे की दीवार के समकालीन थे। इस प्रकार इन आठ स्तम्भों में से सात एक पंक्ति में थे, जिनका दिग्विन्यास उत्तर-दक्षिण था तथा मंदिर के पूर्व में स्थापित किये गये थे। हेलियोदोरस स्तम्भ उत्तर दिशा में सबसे प्रथम था। आठवाँ स्तम्भ चौथे स्तम्भ के सामने, पूर्व दिशा में खड़ा था। इन सभी स्तम्भों का ज्ञान उत्खनन से अनावृत गड्ढों से होता है, जिनके भीतर भरी हुई परतों का क्रम हेलियोदोरस स्तम्भ के लिये खोदे गये गढ़े की परतों के समान था। पत्थर के इन स्तम्भों का भार सम्हालने और उनको अधिक समय तक अपने स्थान पर बनाये रखने के लिये वर्तमान सतह से प्राय. दो मीटर से भी अधिक गहरी नींवें खोदी गई। मुरम और काली मिट्टी की कुछ परतें डालने के पश्चात् चौरस एक मोटी या दो कुछ पतली शिलायें रख दी गई। तदुपरान्त स्तम्भ की स्थापना के समय पुरातन विधि के अनुकूल शिला के ऊपर और स्तम्भ के नीचे लोहे और पत्थर के अनेक पच्चड़ रखे गये तथा गड्ढों को पुनः मुरम और काली मिट्टी की तहें देकर बंद कर दिया गया। स्तम्भों

के खण्डित भाग नींव के गड्ढों अथवा उनके आसपास गिरे हुए थे। दो स्तूपों के मध्य की दूरी लगभग 4·25 मी० तथा गढ़ों की. गहराई 2·20 मी० थी। प्रत्येक गड्ढा मौलिक उत्खनन तल पर अधिक चौड़ा था।

गड्ढा एक : होलियोदोरस स्तम्भ के इस गड्ढे के एक भाग को डा० भण्डारकर ने पहले भी खोदा था, किन्तु स्तर प्रमाण देखने के लिये उसका दक्षिण-पश्चिमी चतुर्थांश लेखक ने अनावृत किया था। उसमें भरी हुई परतें, आधार शिला तथा स्तम्भ वही है, जो भण्डारकर ने भी दिया है। वर्तमान उत्खनन में सर्वप्रथम एक वर्तमान चबूतरा तोड़ना पड़ा, जो स्तम्भ के चारों ओर ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग द्वारा बनाया गया था। इसके बाहरी भाग गढ़े हुये सपाट पत्थरों का था, किन्तु कोड में अनगढ पत्थर भरे थे, जिसके नीचे डॉ० भण्डारकर ने कंक्रीट की बनी हुई एक पट्टी स्तम्भ के गढ़े तथा अनगढ़ भाग के संगम स्थान पर टिका रखी थी, जिससे स्तम्भ गिरने न पाये। भण्डारकर ने इस स्तम्भ को एक ओर को झुका हुआ पाया था। हेलियोदोरस स्तम्भ तथा घेरे की दीवार का कार्य स्तर एक ही था। स्तम्भ के मौलिक कार्यस्तर पर उसके चारों ओर एक छोटा सा घेरा था, जो रोड़ी का बना हुआ था। यह सम्भव है कि अन्य स्तम्भों के चारों ओर भी इसी प्रकार का आयोजन रहा होगा, किन्तु जिसके अवशेष अब नहीं है।

गड्ढा द्वितीय : इस गढ़े का केन्द्रीय भाग नहीं खोदा जा सका क्योंकि वह ट्रेंच की मेड़ के नीचे दबा था। यही कारण है कि इस गढ़े में कोई पच्चड़ नहीं प्राप्त हुये।

इस गढ़े के ऊपरी स्तर को हेलियोदोरस स्तम्भ के लिये बनाये गये आधुनिक चबूतरे के चारों ओर की वेदिका के छोटे-छोटे गड्ढों ने, कहीं-कहीं अस्त-व्यस्त कर दिया है। इसके नीचे, मौलिक स्तम्भ (क्रम संख्या दो) के निकल जाने से जो गुहिका थी, उसमें मुरंम तथा काली मिट्टी तो भर दी गई, स्तम्भ के समकालीन संचय की मिट्टी भी पहुँच गई थी। इस गड्ढे मे यह स्पष्ट देखा गया कि आधारशिला के ऊपरी भाग में गड्ढा अधिक चौड़ा था, तथा उसके नीचे सकरा था। तदनुसार मुरंम व काली मिट्टी की परतों की मोटाई में भी अंतर पाया गया। नीचे की परतें दस से० मी० मोटी थी किन्तु ऊपर की केवल तीन से० मी० ही थीं।

यह गड्ढा पश्चिमी भाग में लगभग पूर्ण रूप से सुरक्षित है। 1 अ गड्ढे को बंद करती है, 2 उसके समकालीन तथा 3 जो बहुत पतली है, स्तम्भ से पूर्व की है। यह संचय सुरखी तथा इंटों के बने फर्श के ऊपर पड़ा पाया गया, जिसमें असंबद्ध काली मिट्टी भाण्ड तथा सिक्कों सहित पाई गई। गड्ढा प्राकृतिक काली मिट्टी तक पहुँचा हुआ है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि स्तम्भ के निकल जाने से एकान्तरत: मुरंम व काली मिट्टी की परते स्तम्भ के गढ़े में आधारशिला तक धँस गई है। आधारशिला मुरंम की 25 से० मी० मोटी परत में रखी गई थी। आधार शिला के नीचे गड्ढे की गहराई 120 से० मी० है। पूरा गड्ढा 250 से० मी० गहरा खोदा गया था। काली मिट्टी की परतों में छोटे-छोटे रोड़े तथा पत्थर के टुकड़ों का मिश्रण है। आधारशिला 12-13 से० मी० मोटी तथा 1·42 से० मी० लम्बी व 110 से० मी० चौड़ी है।

गड्ढा-तृतीय : इस गड्ढे का केवल पूर्वी भाग पूर्ण रूप से अनावृत हो सका। इस टेंच की 1 तथा 1अ में लगभग पिछले सौ वर्षों का संचय पाया गया। इस गड्ढे के ऊपर ऐसी ही एक नई दीवार बनी हुई देखी गई थी। 2 में इतनी अधिक रेत मिली, जिससे पानी के बहाव का प्रमाण मिलता है। यह सम्भव है कि इस स्थान पर थोड़ा सा ढलान होने के कारण पानी के बहने के लिए मार्ग मिल गया होगा, जिसके साथ रेत भी बहती आई।

इस गढ़े में भी स्तम्भ निकल जाने से लगभग 30 से० मी० गहरी गुहिका सेक्शन में देखी जा सकती थी, जिसके भीतर एक पत्थर का रोड़ा तथा छिद्रित गोल पत्थर पाये गये। सम्भवतः यह छिद्रित गोल पत्थर मौलिक स्तम्भ के ऊपरी भाग का एक अंग रहा हो। यहाँ पर आधार शिला काली मिट्टी की परत में रखी गई। आधार शिला की मोटाई 18·20 से० मी० थी। इस शिला के नीचे की परतें अपेक्षाकृत पतली थीं, जिनमें रोड़ी व पत्थर मिले हुए थे तथा एक पूरी परत ईंटों के टुकड़ों की थी। इन परतों की संख्या बीस थी, जो 100 से० मी० की गहराई में थीं। इसमें कोई पच्चड़ नहीं मिल सके।

गड्ढा-चतुर्थ : इस गढ़े की दूरी क्रम संख्या 3 से ऊपरी तल पर 1·30 से० मी० थी, किन्तु दोनों गढ़ों के केन्द्र 4,25 से० मी० की दूरी पर थे। इस गढ़े के ऊपर बनाई गई दीवार से इसके ऊपरी भाग की परतों को क्षति पहुँची। यही कारण है कि आधार शिला के ऊपर केवल 10–12 मुर्रम व मिट्टी की परतें देखी जा सकीं। स्तम्भ गुहिका में यहाँ भी परतें वैसी हुई थीं। जिसमें मौलिक स्तम्भ का एक टुकड़ा फँसा हुआ पाया गया था। यह टुकड़ा काली मिट्टी की परत में था, जो आधार शिला पर डाली गई थी, तथा जिसके नीचे लोहे के ग्यारह पच्चड़ भी रखे गये थे। आधार शिला 24 से० मी० मोटी थी, जो टूटी हुई ईंटों की परत पर स्थापित थी। इसके नीचे सोलह एकान्तर परतें डाली गई थीं, जिनमें से परत 1,8 तथा 16 में छोटे-छोटे पत्थर तथा रोड़ी मिली हुई थी और काली मिट्टी की परतों की चौड़ाई मुर्रम की परत से अधिक होने के कारण अधिक सुस्पष्ट थीं।

इस गढ़े के पूर्वी किनारे से अनुपूरक शिला आंशिक रूप में दर्शित थी। शिला के नीचे गढ़ा 100 से० मी० गहरा था, जब कि सम्पूर्ण गढ़ा केवल 1·90 से० मी० गहरा ही पाया गया क्योंकि ऊपरी परतें नष्ट हो चुकी थीं।

गड्ढा-पंचम : बी एस एन तीन के धरातल का ढाल उत्तर दक्षिण दिशा में है, जिसके कारण इस गढ़े की ऊपरी परतें नष्ट हो चुकी हैं। इस विनाश में बाद में बनाई गयी इमारतों का भी हाथ रहा है। आधार शिला के, जो केवल 8 से० मी० मोटी है, ऊपरी भाग में आठ-दस परतों का भराव है। शिला के ऊपर लोहे के छः पच्चड़ पाये गये, जो अपेक्षाकृत, पतले, लम्बे तथा छेनी समान हैं। इसमें परतों की मोटाई अधिक होने के कारण किसी प्रकार की रोड़ी अथवा पत्थर नहीं मिलाये गये। गढ़े की कुल गहराई 1·95 से० मी० थी तथा आधारशिला के नीचे 1·30 से० मी० थी। गढ़ा क्रमांक 4 तथा पाँच के केन्द्र 4.25 से० मी० तथा पाँच व छः के केन्द्र 4·40 से० मी० की दूरी पर थे।

गड्ढा-षष्ठ : इस गढ़े का ऊपरी भाग पूर्णतया नष्ट हो चुका था, जिसके परिणाम स्वरूप आधार शिला पर रखे गये लोहे के आठ पच्चड़ तथा आधुनिक दीवार के पत्थर एक ही सतह पर पाये गये। मुख्य आधार शिला के नीचे एक पूरक शिला भी रखी गई थी, जो मुरम की परत पर स्थापित थी तथा जिसके आवरण के लिए चारों ओर ईंटों के टुकड़े भी लगाये गये थे।

यह गढ़ा 1.25 से० मी० गहरा था, तथा आधार शिला के नीचे की गहराई 90 से० मी० थी।

गड्ढा-सप्तम : उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थापित स्तम्भों की पंक्ति का यह अंतिम गढ़ा था, जहाँ पर धरातल का ढलान और अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस टीले पर रहने वाले पुजारी ने जो अपना मकान बनाया था, उसकी नींव खोदते समय इस गढ़े में रखी गई आधारशिला भी निकाल दी थी। उत्खनन के समय आधार शिला के नीचे की पाँच-छः परतें ही शेष थीं।

इसी गढ़े के निकट से पूर्व कालीन उत्खनन में ताम्र पत्र शीर्ष स्तम्भ पाया गया था।

गड्ढा-अष्टम : जहाँ पर गढ़ा क्रमांक 4 की चौड़ी भुजा समाप्त होती है, लगभग वहीं पर तथा उसके पूर्व में यह गढ़ा है, जिसके ऊपरी भाग में मौलिक स्तम्भ के अनेक छोटे-छोटे टुकड़े फँसे पड़े देखे गये थे। कुछ बड़े माप के टुकड़े तथा एक छिद्रित पत्थर यहाँ की उपलब्धियाँ हैं। इसकी दो आधार-शिलाओं के ऊपरी गढ़े में 16 पतली परतें हैं, तथा 16 पच्चड़, जिनमें से 13 लोहे के तथा तीन पत्थर के हैं।

इस गढ़े की परतों तथा आधारशिलाओं आदि की व्यवस्था देखकर यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि अन्य गढ़ों की अपेक्षा इसे इतना सुदृढ़ क्यों बनाया गया? इसकी आधार शिलायें टूटी पाई गई। ऊपरी शिला का तीसरा भाग टूट कर नीचे धँस गया, जिसके कारण मुरम तथा काली मिट्टी की परतें भी धँसी हुई दिखाई देने लगीं, यद्यपि शिलाओं के नीचे की एकांतर परतें बहुत मोटी थीं तथा उनमें रोड़ों तथा छोटे-छोटे पत्थरों का अपेक्षाकृत अधिक मिश्रण करके और भी दृढ़ बनाया गया था।

इतना निश्चित है कि सात स्तम्भों की पंक्ति के सन्मुख, प्रमुख स्तम्भ होने के कारण, इसकी प्रत्येक व्यवस्था महत्वपूर्ण ढंग से की गई थी। सम्भवतः कल्पद्रुम स्तम्भ शीर्ष इसी स्तम्भ को शोभित करता रहा होगा।

प्रथम शताब्दी में पुनः एक बाढ़ आई प्रतीत होती है, जिसमें इन स्तम्भों का समकालीन विष्णु मंदिर भी ढह गया। उसके अवशेष कुछ गीली भुरभुरी ईंटों के टुकड़े तथा एक पतला फर्श ही थे। मंदिर के सामने स्थापित आठों स्तम्भ अपनी दृढ़ नींव के कारण सुरक्षित रहे। कालान्तर में इस चबूतरे को और अधिक ऊँचा किया गया। इसके ऊपर बनाया गया मंदिर तीसरी चौथी शताब्दी ई० सन् तक प्रयोग में आता रहा, जैसा कि यहाँ के पुरावशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु खामबाबा के पुजारी के पूर्वजों ने यहाँ मकान बनाते समय सबसे ऊपर मंदिर के कोई चिन्ह शेष नहीं छोड़े। एक स्थान

पर काली मिट्टी की परत में एक चौड़ी नींव अवश्य देखी गयी थी। किन्तु इसके विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

हेलियोदोरस स्तम्भ को छोड़ कर शेष सभी स्तम्भों का इस प्रकार से नष्ट किया जाना एक खेदपूर्ण घटना तो है ही, आश्चर्यजनक भी है। जिन्होंने इन्हें विनष्ट किया है, क्या उन्हें इस स्तम्भ के महत्व का ज्ञान था ? यह कहना कठिन है कि किसने इन स्तम्भों का विनाश किया था। इतना निश्चित है कि पुजारी के मकान बनने के बहुत पूर्व तथा ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् यह कुकृत्य किया गया। पुजारी के मकान के मलवे के साथ 19 वीं तथा 20 वीं शताब्दी की सामग्री पाई गई थी।

मृद-भाण्ड : उत्खनन से प्राप्त भाण्डों के विवरण के पूर्व इनके साहित्यिक संदर्भों का अवलोकन करना उचित होगा। सूत्र काल में जिन भाण्डों का वर्णन मिलता है, वे हैं, स्थाली (पकाने के लिये), स्रुव (कलछी), तथा दर्वी (चम्मच)।[1] खराव खाद्य सामग्री को मापने के प्रयोग में आता था। खल-बट्टा बहुत ही आवश्यक समझे जाते थे।[2] मिट्टी के भाण्डों के अतिरिक्त ताँबे, लोहे तथा पत्थर के वर्तनों का भी प्रयोग होता था। यदाकदा स्वर्ण तथा काष्ठ के पात्र भी प्रयुक्त होते थे।[3] "काऊँ से चमसे वा दधिमधुचानीय वर्षीयसा विधायाचमनीय प्रथमैः प्रतिपद्यन्तेः"।[4] टूटे हुए भाण्ड को रोटी सेकने के काम में लाया जाता था।[5] मिट्टी का भाण्ड प्रायः एक ही वार प्रयुक्त होता था। धातु के पात्रों को स्वच्छ करके तथा काष्ठ के तराशने (छीलने) के उपरांत प्रयोग में लाते थे। "अनाप्रीते मृण्मये भोक्तव्यम। आप्रीतं चेदंमिदगधे। परिमृष्टं लौहं प्रयतम्। निर्लिखितम् दारुमयम्"।[6]

बौद्ध तथा जैन साहित्य के अनुसार भिक्षु जल कुंभ, प्याला, डलिया, हण्डी तथा कड़ाही का प्रयोग करते थे। प्रायः ताँबे काष्ठ व मिट्टी के बने होते थे।[7] धनी वर्ग के व्यक्ति स्वर्ण, चाँदी, वहुमूल्य पत्थर के तथा जनसाधारण ताँबे, काष्ठ अथवा चमड़े के पात्रों का प्रयोग करते थे। "कंचन तट्ट के मधुलाजे सक्खरोदकांच दायेत्वा"। आलिंदा तथा गोपिटक के प्रयोग का भी विवरण मिलता है। भिक्षापात्र के ढक्कन को पिंडोपधान कहते थे। जैन साहित्य में चाकू, छलनी, छोटे वड़े कुंभ, केटली ग्लास तथा ऊँट जैसी ग्रीवा के

---

1. स्थाली–आश्वलायन गृहसूत्र, 2. 1–5.
   श्रव–दर्वी–गोभ० गृह सू०, 1, 5.19.
2. खराब–आश्वलायन गृहसूत्र, 1, 15–3.
3. आश्वलायन गृह सूत्र 1, 15–1 : 4, 3.19.
4. मानव गृ० सू० 1. 9–6 (ओमप्रकाश : फुड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंशिएंट इण्डिया, पृ०46)
5. आश्व० गृ० सू० 2, 1.5.
6. आपस्तम्भ धर्म सू० 1, 5.17-9.12.
7. चुल्लवग्ग–5.1.10, 74.

वड़े घट का वर्णन भी प्राप्त होता है।[1] विनय पिटक के महावग्ग से सर्वप्रथम थूकदानी के प्रयोग का ज्ञान होता है।[2]

मौर्य तथा शुंग काल में भोजन पकाने की कला में वहुत दक्षता प्राप्त लोग विद्यमान थे। यही कारण है कि कौटिल्य ने केवल विभिन्न खाद्य पदार्थों के गुणों का वर्णन नहीं किया है अपितु किस खाद्य सामग्री में कितने मसाले के प्रयोग का भी विवरण दिया है। दुकानों पर भी पका हुआ मांस वेचा जाता था। "कणिका दासकर्मकारसूपकाराणामतोन्यदौदंनिकापूपिकेभ्यः प्रयच्छेत।"[3] कौटिल्य का कथन है कि पाकशाला सुरक्षित स्थान पर होना चाहिये तथा उसके अध्यक्ष को परोसने के पूर्व उसका स्वाद ले लेना चाहिये।[4] उसने विषाक्त पदार्थों के लक्षण भी वतलाये हैं। पाकशाला के सामान्य उपकरणों में, तराजू, वाँट, छलनी, झाड़, डलिया तथा मसाले का वक्स कहे गये है।

स्ट्रेवो का कथन है कि यहाँ ताम्रपात्रों के प्रयोग का आधिक्य था तथा काँसे के पात्र भगुरता के कारण कम प्रयुक्त, किये जाते थे।[5] सामान्यतया जल घट, जल पात्र, वड़े घट जिनमें अनाज रखा जाता था, हण्डी, कटोरे, तश्तरी तथा प्याले काम में लाये जाते थे।[6] "वहुक्षीरघृतमोहनकांस्यपात्र्यां भुज्जीरन्निति।"

महाकाव्य तथा मनुस्मृति में वर्णन मिलता है कि दक्ष रसोइयों द्वारा भोजन तैयार किया जाता था तथा सुवस्त्रित परिवेषकों द्वारा परोसा जाता था। "महानसेपु सिद्धेपु संस्कृतेऽतीव भारत। आहार्यमाणे वृष्यो व्यदृश्यन्त सहस्रशः।"[7] गोश्त विविध प्रकार से तैयार करके सँवारा जाता था, राजकुमार आदि भी इस कला में पारंगत होते थे। लक्ष्मण ने राम और सीता का भोजन तैयार किया तथा नील तथा नल भी इससे पूर्ण परिचित थे। अन्य कालों के समान ही धनी व्यक्ति स्वर्ण, चाँदी तथा वहुमूल्य पत्थरों के पात्रों में भोजन करते थे जवकि निर्धन मिट्टी के भाण्डे अथवा पत्तल प्रयोग करते थे।[8] मनु ने पाषाण पात्रों को राख से, स्वर्ण तथा चाँदी के पात्रों को जल से तथा अन्य धातुओं के पात्रों को नमक के खारे द्रव्यों से स्वच्छ करना निर्धारित किया है। काष्ठ पात्रों को गर्म जल से तथा मिट्टी के पात्रों को पुनः आँच पर रखकर स्वच्छ किया जाता था।[9]

---

1. ओमप्रकाश, पूर्वनिर्देशित, पृ० 79.
2. विनयपिटक : एच ओल्डेन वर्ग, 1897, ग्रंथ 1, पृ० 271.
3. कौटिल्य 1, 15.81.
4. वही, 2, 21, 8-9.
5. मैक्रिंडिल।
6. पातंजलि 8, 2.3 पृ० 388-12.
7. महाभारत।
8. रामायण, अयोध्याकाण्ड, 91, 72.
9. मनु० 5, 111-11.5.

कुषाण तथा शक-सातवाहन युग में स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। स्वच्छ परिवेषकों द्वारा स्वच्छ पात्रों में भोजन परोसा जाता था। शुद्ध घी का पका हुआ भोजन दूसरे दिन भी खाया जा सकता था। गेहूँ, जौ तथा दुग्ध के पदार्थ घी में न पके हुये होने पर भी खाये जा सकते थे। ऋतुओं के अनुसार भी भोजन करने का विवरण मिलता है। इसी प्रकार आयु तथा आश्रम की अवस्थानुसार भी धर्मशास्त्रों में भोजन करने पर सविस्तार वर्णन है। कश्यप संहिता में भोजन करते समय मधुर संगीत को सुनने के लिये भी कहा है।[1] इस युग में भोजनोपरान्त ताम्बूल खाने की प्रथा आरंभ हो चुकी थी। विदेशियों का भी भारतीय खान-पान पर अधिक प्रभाव इस युग में पड़ चुका था।

गुप्त काल में भोजन पकाना उस युग की 64 सुस्पष्ट कलाओं में से एक थी। नववधू को इस कला में कुशल होना नितांत आवश्यक था।[2] श्रमसूत्र में कहा है "महानसं च सुगुप्तं स्याद्दर्शनीयं च।" इलाहाबाद प्रशस्ति में भी ऐसे एक वरिष्ठ अधिकारी का वर्णन है (खाद्यत पकक)। धनी तथा निर्धन वर्ग के पात्र यथावत ही थे। लोग चम्मचों का प्रयोग नहीं करते थे।[3] पीने के प्याले शंख के बनाये जाते थे तथा उन पर अलंकरण होते थे।[4] तेल चमड़े के थैलों में रखते थे।

मृदभाण्डों को पुरातत्व का अ, ब, स कहा गया है।[5] यही कारण है कि पुरातात्विक उत्खनन रिपोर्टों में उन्हें सविस्तार वर्णन करने की आवश्यकता होती है। पूर्व पृष्ठों में इस विषय में आवश्यकतानुसार यदा कदा उसकी चर्चा की जा चुकी है। अब भिन्न-भिन्न कालों में प्रयुक्त मृदभाण्डों का विस्तृत विवरण किया जा रहा है।

काल-प्रथम : इस काल में मृदभाण्ड बी एस एन एक तथा चार से उपलब्ध हुये हैं, जो तीन टोकरी से अधिक नहीं थे तथा जिनमें लाल, काले व लाल तथा काले लेपदार भाण्डों के अधिकांशतया छोटे-छोटे ठीकरे थे। सम्पूर्ण भाण्डों में लाल 50 प्रतिशत, काले व लाल 35 प्रतिशत तथा काले लेपदार 15 प्रतिशत थे। इस काल के ऊपरी स्तर से धूसर भाण्ड भी उपलब्ध हुये थे।

सभी भाण्ड बहुत ही अच्छी मिट्टी के बने हुये थे, जिनमें अन्य सामग्री का मिश्रण बहुत ही कम था। इसका अपवाद केवल "वेसिकुलेटेड भाण्ड" थे जो अनगढ़ से मध्यम बनावट के थे तथा जिनकी मिट्टी में पत्थर के कणों का मिश्रण था। परिणामस्वरूप यह भाण्ड समुचित रूप से नहीं पकाये जा सके। अन्यथा लाल भाण्ड बहुत ही अधिक तापक्रम

---

1. छंद 55-56.
2. दशकुमार चरित, 6.
3. बील : इलो-यू-की 1, 39.
4. हर्ष चरित्र, पृ० 156, 207.
5. खरे, एम०डी०; पॉटरी इन एंशियेंट इण्डिया (सं० 370 बी०पी० सिन्हा) पटना, विश्वविद्यालय, 1969, पृ० 27.

में पकाये गये थे, जिन पर समान रूप से आक्सीकरण[1] हुआ था। देखने में यह दृढ़ हैं। स्वाभाविक है कि प्रयोग में भी स्थायित्व रहा होगा। इसमें क्रीम, फीका, भूरा तथा भूरे से भारतीय लाल रंगत देखने को मिलती है। काले और लाल भाण्डों के लाल रंग में भी क्रीम तथा फीकी भूरी रंगत देखी गई है।

काले लेप के प्रमाण बहुत ही स्पष्ट हैं, किन्तु लाल लेप का प्रयोग पतला तथा कम भाण्डों पर किया गया प्रतीत होता है। सम्भवत: अच्छी श्रेणी से भाण्डों को बनाये जाने के कारण उन पर लेप करने की अधिक आवश्यकता न समझी गई हो। जो भी हो, भीतर ही भीतर नदी के पानी के रिसने के कारण भाण्डों के सतह पर चढ़े हुये लेप विलुप्त हो चुके थे। लाल भाण्डों को छूते ही, अनेक ठीकरों के सतह पर भुरभुरापन आ गया था, जो हाथ में लग जाता था।

इन भाण्डों के ठीकरे इतने छोटे होने के कारण काले और लाल तथा काले भाण्डों में अंतर करना प्राय: कठिन हो जाता है, क्योंकि दोनों के प्रकार तथा काले लेप में भी बहुत साम्यता है। अत: प्रतिशतता के जो अंक ऊपर दिये गये हैं उनमें पूर्ण यथार्थता का अभाव होने की भी सम्भावना है। फिर भी अत्यधिक सतर्कता से यह अनुभव किया गया कि प्राय: काले और लाल भाण्ड काले लेपदार भाण्डों की अपेक्षा अधिक पतले है।

इन भाण्डों पर अलंकरणों का अभाव है। लाल पर काले भाण्डों में एक से तीन धारियाँ कंधे अथवा किनारो पर देखी गई हैं। उत्कीर्तित रेखायें, खाँचे तथा एक ग्रेफिटी; तथा एक ठीकरा जिस पर टोकरी के निशान जैसी डिजाइन से इन भाण्डों को यदा कदा अलंकृत किया गया था।

भाण्डों के रूपों में आधिक्य नहीं है तथा जो भी हैं बहुत ही साधारण प्रकार के हैं। छोटे से मँझले माप के लाल भाण्डों की संख्या अधिक है, किन्तु कभी-कभी बड़े माप के मर्तबानों के अंश व चार ढक्कनों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इन भाण्डों में कटोरों के विभिन्न प्रकार है। जिनमें पीछे की ओर झुकी किनारों वाले कटोरों के भीतर नियमित रूप से चित्रकारी मिलती है। बहुधा इन भाण्डों की ग्रीवा बहुत छोटी होती है, जिसके कारण इनका मुँह बड़ा दिखाई देता है। छोटी ग्रीवा तथा कंधे गोलाकार शेषभाग से मिल जाते है। ढक्कनों के समतल फैले किनारों से उन्हें सहज में उठाया जा सकता है तथा वे किसी भी भांडे के ऊपर भी सहज रूप में रखे जा सकते है।

चौड़े मुँह वाले मध्य माप के कटोरे, लाल भाण्डों में कम किन्तु काले और लाल तथा काले लेपदार में अधिक मिलते है। उथले कटोरों का निम्न भाग अधिक चौड़ा है, जिससे वह पेंदेदार दिखाई देते हैं।

---

1. भट्टी में पकाते समय जब भाण्डों को आग की लौ लगती है तथा उसका तापक्रम ऊँचा रहता है, उसके प्रत्यक्ष सम्पर्क से भाण्डों का रंग लाल हो जाता है तथा समुचित रूप से पक जाते हैं।

इन भाण्डों की निकटतम साम्यता एरण, नगदा, महेश्वर तथा नवदा टोली में देखी जा सकती है।

गेरुये तथा धूसर भाण्डों की संख्या लगभग एक दर्जन से अधिक नहीं थी। इनके ठीकरे अन्य भाण्डों के ठीकरों से भी अधिक छोटे हैं, तथा पानी के प्रभाव से अछूते न रहने के कारण उनकी सतह भुरभुरी हो गई है। अन्यथा उनमें प्रयुक्त मिट्टी बहुत अच्छी है तथा उन्हें ऊँचे तापक्रम की भट्टी में जलाया गया था। इस अवस्था में भी कुछ धूसर ठीकरों पर काली धारियों के चित्रण के चिन्ह् देखे गये हैं। यह धूसर भाण्डे, गंगा दोआब में पाये जाने वाले चित्रित धूसर भाण्डों[1] सदृश्य ही हैं। यहाँ यह स्मरण रहे कि इसी प्रकार के दो ठीकरे बी एस एन दो से भी उपलब्ध हुये थे। किन्तु वहाँ से ताम्र-पाषाण कालीन कोई भाण्डे नहीं मिले। चित्रित धूसर भाण्डों की उपस्थिति से इस काल के अंतिम चरण को लगभग 1000-800 ई० पू० अनुमाना जा सकता है।

काल–द्वितीय : यह काल दो चरणों अ तथा ब में विभाजित किया गया है। यद्यपि दोनों चरणों में एक प्रकार तथा रूप के भाण्डे मिलते हैं किन्तु काले ओपदार उत्तरी भाण्ड केवल 'ब' चरण में ही उपलब्ध हुये हैं। इन काले ओपदार उत्तरी भाण्डों की संख्या ही बहुत कम नहीं पाई गई, अपितु उनके ठीकरे भी छोटे-छोटे हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन भाण्डों का प्रयोग विदिशा में बहुत ही सीमित रूप में होता था तथा यह आयात किये गये थे।

अन्य भाण्डों में लाल, काले और लाल तथा काले लेपदार पाये गये, जिनमें लगभग 85 प्रतिशत लाल भाण्ड थे। इस काल के भाण्डों का संचय अन्य सभी कालों से अधिक था। अनलंकृत लाल भाण्डों में अधिकांश अच्छी से मध्यम मिट्टी के बनाये गये थे, जिसमें बहुत कम मिश्रण था। शंकुकटोरों तथा मर्तबानों की मिट्टी अनगढ़ी हुई थी। कुछ बड़े मर्तबानों के अतिरिक्त सभी भाण्ड चाक निर्मित थे। कभी-कभी असमाकृति के भाण्डों को देखने से ज्ञात होता है कि उन्हें पकाने के पूर्व ठीक से सुखाया नहीं गया था। यद्यपि सामान्यतया भाण्डों को एक समान पकाया गया था; अनगढ़ भाण्डों में कुछ उदाहरण अनियमित रूप से पकाये जाने के भी थे।

विभिन्न भाण्डों पर विभिन्न प्रकार के लेपों का प्रयोग उल्लेखनीय है। शंकु कटोरों तथा दीपकों के अतिरिक्त लगभग सभी भाण्डों पर लेप किया जाता था। यह लेप बहुधा भाण्ड के दोनों ओर किया जाता था तथा कभी-कभी बाहरी भाग के साथ ग्रीवा के भीतर तक ही सीमित था। कुछ प्रकार, जो प्रयोगात्मक दृष्टि से भिन्न होते थे, उनमें लेपन की विधि भी आवश्यकतानुसार ही की गई। उदाहरणार्थ, कमरखी भाण्ड तथा ढक्कन कटोरे हैं। कमरखी भाण्ड केवल बाहर की ओर कमरखी तक ही लेपित है तथा ढक्कन कटोरे भीतर तथा बाहर "फ्लेंज" तक। इन लेपों को देखकर यह विदित होता है कि भाण्डाकार अपनी सामग्री तथा भाण्डों का समुचित प्रयोग करता और समझता था।

---

1. चित्रित धूसर भाण्ड संस्कृति का समय लाल, बी बी ने 1000-800 ई० पू० निधारित किया था, किन्तु अब इसकी अंतिम अवधि 500 ई० पू० मानी जाती है।

इस काल में अलंकृत भाण्डों की न्यूनता रही है किन्तु जितने भी मिले हैं, वहुत ही साधारण प्रकार के हैं, जैसे उत्कीलित, दाँतेदार, बिन्दुकृत तथा आसंजन विधि से वनाई गई रस्से की डिजाइन।

काले और लाल भाण्ड प्राय: अच्छे से मध्यम वनावट के हैं, यद्यपि अनगढ़ प्रकार के भी कुछ भाण्ड प्राप्त हुये हैं, जिनकी मिट्टी में रेत का मिश्रण पाया जाता है। अधिकांशत: यह भाण्डे दोनों ओर चमकदार है तथा अंतर्नत ढंग से पकाये गये है।[1] इस काल के इन भाण्डों को प्रथम काल के भाण्डों को सहजरूप मे पहिचाना जा सकता है। गहरे कटोरे, छोटे से मध्यम माप के वर्तन तथा कुछ घुण्डीदार ढक्कन इस संग्रह में प्राप्त हुये हैं।

यह वड़े आश्चर्य का विषय है कि केवल ढक्कन कटोरे के एक विशिष्ट प्रकार में ही अभ्रकी मिट्टी का प्रयोग किया गया है। अभ्रक का अत्यधिक मिश्रण अन्य किसी प्रकार में नहीं देखा गया।

सम्पूर्ण मृदभाण्ड संग्रह उपयोगितावादी है। धार्मिक कृत्यों के लिये विशेष भाण्डों का प्रयोग अवश्य किया जाता होगा। किन्तु कुछ अलकृत ठीकरो तथा लघुवर्तनों के अतिरिक्त निश्चित रूप से उनके प्रयोग के विषय में धारणा नही वनाई जा सकती। लघु भाण्डों का प्रयोग वच्चों के खिलौनों तथा माप के लिए भी किया जाता रहा होगा।

गृहस्थी के प्रयोग के वर्तनों की संख्या अधिक है। शंकु कटोरों, दीपकों, लघुवर्तनों के अतिरिक्त कमरखी वर्तन, जिनमें खाना पकाया जाता था, लोटा तथा मध्य माप के वर्तन, जिनमें नरम पदार्थ रखे जाते थे, पानी भरने तथा भरकर रखने के लिये वड़े तथा मर्तवान आदि इस काल के दोनों चरणों से एकत्र किये गये हैं।

स्याही की दवात प्रकार के ढक्कनों का विशेष रूप से वर्णन करना आवश्यक है। इनमें वाहर की ओर "फ्लेंज" वनी हुई है, जिससे पकाने वाले वर्तन को ढका जा सके, आवश्यकतानुसार सहज ही में उसे हंडी पर से उठाया जा सके तथा उसके सँकरे मुँह में कल्छी रखी जा सके। इसी प्रकार के एक विचित्रता ढक्कन-कड़ाही मे भी पाई गई, जिसमे अंवठ पर टाँगने के प्रयोजन से कुछ सुराख भी देखे गये। इनका क्या उद्देश्य रहा होगा, कहना कठिन है। सम्भव है कोई खाद्य पदार्थ रखकर उसे कहीं सुरक्षित स्थान पर टाँग दिया जाता होगा, जिससे विल्ली, चूहों आदि से वचाव हो सके।

शंकु कटोरों का प्रयोग ढक्कन के रूप में तो किया ही जाता होगा, उनका मौलिक प्रयोग पानी पीने के लिये रहा होगा। इसके अतिरिक्त एक लंबमान भुजाओं वाला ग्लास का प्रकार भी उपलब्ध हुआ है जिसका चपटा तला है। किन्तु इस प्ररूप के उदाहरण कम प्राप्त हुये है।

---

1. काले और लाल भाण्ड वनाने के लिये पकाते समय उन्हें आवा में अंतर्नत ढंग से रखा जाता है। इस विधि से भाण्ड के जितने भाग का आक्सीकरण होता है, वह लाल हो जाता है, शेष भाग काला रहता है। इस विधि को अंग्रेजी में "इन्वर्टेड फाइरिंग" कहते हैं।

टोंटी तथा हत्थेदार बर्तन भी उपलब्ध हुये हैं, जिन्हें अँवठ, ऊपरी तथा निम्न, तीन भागों में बनाया जाता था। जब उनका भारी अँवठ बर्तन के शेष भाग से टूट कर अलग हो जाता था, उनके गोल अँवठ को उलटा रखकर भाण्डाधार के रूप में प्रयुक्त किया जाता था।

बेसनगर में जो मृद्भाण्ड द्वितीय काल से एकत्र किये गये हैं उनकी तुल्य रूपता भारतवर्ष के लगभग सभी प्रारंभिक ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त भाण्डों में देखी जा सकती है, निकटतम साम्यता मध्यप्रदेश स्थित एरण, नगदा, उज्जैन, कायथा, त्रिपुरी आदि के भाण्डों में है।

काल-तृतीय : द्वितीय काल की मृत्तिका-शिल्प प्रथाये इस काल में भी प्रचलित रही हैं। किन्तु मृद्भाण्डों की संख्या पिछले काल की अपेक्षा कम हैं। इस काल की मुख्य विशेषतायें हैं, दवात प्रकार के ढक्कन तथा अभ्रकी भाण्डों की निरन्तरता, ओपदार काले उत्तरी भाण्डों की पूर्ण अनुपस्थिति, काले और लाल व काले लेपदार भाण्डों की संख्या में कमी तथा लाल पर काले भाण्डों का आविर्भाव। इस काल में बनाये गये बर्तनों का प्रकार प्रथम काल के समान ही है, जिनमें कमरखी, मध्यम माप के घड़े तथा मर्तबान के रूपान्तर उल्लेखनीय हैं। यदि शंकु कटोरों तथा मर्तबानों की संख्या में अपेक्षाकृत कमी है, तो टोंटीदार तथा हत्थेदार बर्तनों की संख्या में आधिक्य है। शंकु कटोरों के अंतर्वलित अँवठ बनाये जाने लगे। पकी हुई मिट्टी के बने निकासनल भी इसी काल के हैं।

स्कन्ध तथा ग्रीवा पर लाल पर काले रंग की धारियाँ देखी गई है। इनके अतिरिक्त लाल भाण्डों पर उत्कीर्तित तथा अंकपत्रित अलंकरण भी विद्यमान हैं। लाल भाण्डों पर अधिक चटकीले लाल रंग का लेप किया गया है।

काल–चतुर्थ : अंतर्वलित अँवठ कटोरों के स्थान पर क्षुर-धार अँवठ वाले शंकु कटोरे इस काल का प्रारम्भ करते हैं। मध्यम रूप तथा भोजन पकाने के कुछ प्रकार पिछले काल के समान ही हैं। इसी प्रकार अभ्रकी तथा दवात प्रकार के ढक्कन भी अवस्थित हैं। लाल के अतिरिक्त काले और लाल तथा काले भाण्ड भी इस समूह में हैं किन्तु पिछले दोनों प्रकार की संख्या में कमी है तथा ये केवल अनगढ़ बनावट के हैं। लाल भाण्डों में बहुत ही परिष्कृत मिट्टी के बने घुण्डीदार 'स्प्रिंकलर' प्रकार इस काल की विशेष देन है। यदि लाल लेप 50 प्रतिशत से कम भाण्डों पर किया गया है तो लाल पर काले भाण्डों की संख्या अधिक है। इनमें उत्कीर्तित तथा अंकपत्रित अलंकरण भी पाये जाते हैं।

लाल भाण्डों में शंकु कटोरों का बाहुल्य है तथा उन पर कोई लेप नहीं है। टोंटी तथा हत्थेदार पात्रों के साथ मर्तबान तथा द्रोणी प्रकार भी एकत्र किये गये है।

काल–पंचम : इस काल संचय से बहुत संख्या में मृदभाण्ड एकत्र किये गये हैं, जिनमें अधिकांश लाल भाण्ड हैं। काले और लाल का इस समय सर्वथा अभाव है तथा काले लेपदार में भी

केवल कुछ छोटे-छोटे ठीकरे ही प्राप्त हुये हैं, जो मोटी भुजाओं के हैं। इसी प्रकार अभ्रकी भाण्डों में छोटे ठीकरे ही दिखाई दिये हैं।

बी एस एन 1 में सुरक्षा भित्ति के भीतर से प्राप्त बर्तनों के अतिरिक्त इस काल के सभी भाण्डे लगभग धुली हुई अवस्था का आभास देते हैं। इस काल में भी एक बाढ़ आई थी जिसकी काली मिट्टी की सीलन में दबे रहने से इनका ऐसा रूप देखने को मिला है। यद्यपि अधिकांश पात्र मध्यम बनावट के हैं, परिष्कृत, चमक तथा ओपदार लाल भाण्ड तथा अपरिष्कृत भाण्ड भी पाये जाते हैं। सामान्यतया सभी भाण्डे चाकनिर्मित तथा अच्छी तरह पकाये गये हैं, किन्तु अपरिष्कृत भाण्डों में रेत के कणों तथा घास फूस का मिश्रण है और क्रोड सेक्शन में भूसर से काले रंग के पके हुये हैं। कमरखी प्रकार में बाह्य भाग कज्जलित है, क्योंकि उसे प्रायः भोजन पकाने के प्रयोग में लाने के लिए चूल्हे पर रखा जाता था। आधे से अधिक भाण्डों पर लेपन किया मिलता है।

लाल पर काले, उत्कीर्तित, अंकपत्रित, आमंजी डिजाइनें रोचक हैं। मत्स्य शल्क प्रकार का अलंकरण विशेष आकर्षक हैं।

गत काल के अनेक प्रकारों में विविधता दर्शनीय है। शंकु कटोरे चौड़े मुँह के गहरे कटोरे, कमरखी बर्तन, मध्यम माप के पात्र, दोणी, टोंटी तथा हत्थेदार, दवात तथा घुण्डीदार ढक्कन जैसे प्रकारों से भाण्डों की विविधता का अनुमान लगता है। हत्थेदार बर्तनों के कुछ हत्थे भी विचित्र प्रकार के हैं, जिनमें से एक दीर्घ-अँवठ वाला मुँह है तथा दूसरे में बटननुमा घुण्डी अँवठ के पास बनी हुई है।

काल-षष्ठ : इस काल में केवल लाल तथा धूसर भाण्ड मिलते हैं जो क्रमशः 60 व 40 प्रतिशत हैं। यहाँ गत कालों के प्रकारों का अभाव है, यद्यपि यदाकदा अभ्रकी भाण्ड मिल जाते हैं। इस काल के ऊपरी संचय में लाल पर लाल तथा लाल पर स्वेत अलंकार दर्शित होते हैं। अंकपत्रित तथा उत्कीर्तन डिजाइनों का भी अभाव स्पष्ट है। लेप किये हुये भाण्डों की संख्या में कमी है तथा धूसर भाण्डों के प्रकार लाल भाण्डों से भिन्न हैं।

शकुकटोरों का सर्वथा अभाव है। भूसर भाण्ड में कमरखी प्रकार बहुत प्रचलित है। इस समय दवात प्रकार के ढक्कनों के स्थान पर घुण्डीदार ढक्कन बनाये जाने लगे।

काल-सप्तम : इस काल संचय में उन्नीसवीं तथा बीसवी शताब्दी ई० सन् के ठीकरे प्राप्त हुए हैं।

पकी मिट्टी के ठप्पे

वस्त्रों को रंगना और उनपर विभिन्न प्रकार की डिजाइनें अंकित करना भारतवर्ष में ही नहीं, अपरंच संसार के सभी देशों व कालों में अत्यन्त लोक प्रिय रहा है। भारतीय सुन्दर वस्त्रों के सदैव शौकीन रहे है। सुवसस, सवसना आदि वैदिक काल में प्रयुक्त, शब्द इसके द्योतक हैं। महावग्ग में वर्णित भिक्षुओं को अलंकृत व रंगे वस्त्रों के प्रयोग का वर्जित होना, समकालीन अलंकृत वस्त्रों के प्रयोग का परिचायक है। इस समय जन साधारण के

वस्त्र नीले, पीले, कृमिज, हल्दी आदि रंगों से रंगे हुये होते थे।[1] ग्रीक लेखक स्ट्रेबो ने लिखा है कि भारतीय लोगों के वस्त्रों पर स्वर्ण तथा अमूल्य पत्थरों का काम होता था और अत्यन्त सूक्ष्म मलमल के फूलदार वस्त्र भी धारण करते थे।[2] भरहुत की मूर्तियों में महिलाओं के अलंकृत पटके के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं।[3] अजंता के चित्रों में स्त्रियों की ओढ़नी के अलंकृत किनारों का प्रयोग दर्शनीय है।[4] बाघ के चित्रों में भी रंगीन वस्त्रों को विशेष सावधानी से चित्रित किया गया है।[5] दिव्यावदान में प्रयुक्त 'फूट्टक वस्त्रावारी' के विषय में मोतीचन्द्र स्वयं ही उसके छपे हुये केलिको होने की संभावना करते हैं।[6] पुष्पपट्ट शब्द का तात्पर्य फुलकारी किया हुआ वस्त्र है।[7] किन्तु इसके विषय में भी डॉ० मोती चंद का विचार है कि फुलकारी डिजाइन छपी हुई होती थी अथवा बुनी या कढ़ी हुई। हर्ष चरित में हर्ष का दुपट्टा हंस पैटर्न से अलंकृत कहा गया है।[8] इस प्रकार प्राचीन मूर्तियों तथा चित्रों में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

विदिशा से वस्त्रों को विभिन्न डिजाइनों से अलंकृत करने के पकी हुई मिट्टी के बने एक दर्जन से भी अधिक ठप्पे उपलब्ध हुये हैं। इनमें से तीन ठप्पे भण्डारकर को भी प्राप्त हुये थे।[9] इन सब पर अनेक प्रकार के रूपांकन दर्शनीय हैं यह ठप्पे ठोस मिट्टी के बनाये गये हैं, प्रायः जिनके ऊपरी भाग में पकड़ने के लिए एक घुण्डी बनी होती है। ठप्पा लगाने वाले गोल तथा सपाट भाग पर पकने के पूर्व ही किसी नुकीली वस्तु अथवा साँचे से इन पर रूपांकन कर दिये जाते थे। अभाग्यवश कोई भी ठप्पा पूर्णरूप से संरक्षित प्राप्त नहीं हुआ।

इनमें आठ ठप्पे गुप्तकाल तथा पाँच नाग-कुशाण संचय से उपलब्ध हुये हैं। छोटा सा एक टुकड़ा, जो ठप्पे का ही भाग प्रतीत होता है, मौर्यकालीन संचय से मिला है। जिस प्रकार ई० सदी की प्रारंभिक शताब्दियों में पाये गये मृदभाण्डों पर विभिन्न तथा रोचक अलंकारों का आधिक्य है, उसी प्रकार इन ठप्पों पर भी रूपांकन में विविधता दर्शनीय है। सभी ठप्पे लाल मिट्टी के बने हुये हैं। इनमें से किन्हीं-किन्हीं पर काली मिट्टी का लेप भी चढ़ा हुआ है।

---

1. महावग्ग, 8, 29, 1.
2. मैक्क्रिडल, ऐंशिएण्ट इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन, पृ० 70.
3. बरुआ, भरहुत–आस्पेक्ट्स आफ लाइफ एण्ड आर्ट।
4. मोतीचन्द्र : (जनरल एडीटर, ए० पी० गुप्त), कस्ट्यूम्स, टेक्सटाइल, कोस्मेटिक्स एण्ड कोइफर इन ऐशिएण्ट एण्ड मेडिकल इण्डिया, 1973, पृ० 21.
5. खरे, बाघ की गुफायें।
6. मोतीचन्द्र, पूर्वनिर्देशित, पृ० 32.
7. ललित विस्तार, पृ० 141, 20 तथा 368, 14.
8. हर्ष चरित, पृ० 198.
9. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट 1913-14, चित्र 60.

इनके रूपांकन में सूर्य, कमल, वृत्त अत्यधिक प्रिय डिजाइने हैं, जिनके साथ पत्तियाँ, स्पोक आदि भी अंकित हैं। यदाकदा केन्द्र के मध्य में एक छिद्र भी देखा गया है। अजन्ता गुफा 17 के एक चित्र में, जहाँ बनारस के राजा स्वर्णिम हंस का आदर करते हुये दिखाये गये है, एक पर्दे पर इस प्रकार का एक रूपांकन है।[1]

□

1. मोतीचन्द्र, पूर्वनिर्देशित, पृ० 98, चित्र 168 अ।

4

उत्खनन से प्राप्त पुरावशेष

□

अन्य पुरावशेष

उपरत्नों तथा पकी हुई मिट्टी के मनके, चूडियाँ, कर्णफूल, हाथीदाँत के कघे, हड्डी व ताँवे की अंजन शलाकायें, शैलखड़ी की शृंगार पेटिकायें, झामक, वाणाग्र, तावीज, पाँसे, मुहरे, तोलने के बाँट, सिल-वट्टे, वोतलों के काग, लोहे की वस्तुएँ, मृण्मूर्तियाँ, सिक्के आदि अवशेप विदिशा के प्राचीन वैभव के स्मृति चिह्न है।

मूर्ति नायिकाओं के चित्रण में नर-नारियों के आभूपणों को देखकर उत्खनन से उपलब्ध सामग्री का प्रयोग समझ में आने लगता है। उपरत्नों तथा मिट्टी के मनकों की संख्या तथा विविधता से स्पप्ट है कि नर-नारी, धनी, निर्धन सभी इनके उपयोग में रुचि रखते थे। पकी हुई मिट्टी के वने वड़े-वड़े मनके पशुओं के गले में भी डाले जाते रहे होंगे। पशुओं को अलंकृत व चित्रित करने की प्रथा अभी तक प्रचलित है। स्फटिक, गोमेद, सूर्यकान्त आदि के मनकों में उतनी ही विविधता है जितनी कि पकी मिट्टी के मनकों में। उपरत्नों के मनकों में अतीव लघु आकार उस समय के कला कौशल का द्योतक है। रंग-बिरंगे, रेखित इन मनकों में गोल, अण्डाकार, गोलार्ध तथा गोल रूप अत्यन्त मोहक हैं। मिट्टी के मनके, सख्या, भार तथा आकार में उपरत्नों के मनकों से वड़े हैं। वेलनाकार मनकों की संख्या उपरत्नों में अधिक है, जिनका विशेप आकर्पण मेंढक रूप का एक मनका है। इसके मुँह से एक छिद्र पेट को पार करता हुआ पृष्ठभाग से निकलता है। सम्भवत. यह मनका तावीज के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा होगा। मिट्टी के कुछ मनकों के बाह्य भाग में समतल व लम्बमान खाँचे वने हैं। यदा कदा किन्ही मनकों पर लाल रंग का लेप भी है। छोटे और छिद्रित होने के कारण प्रायः भली भाँति पके हुये हैं, किन्तु इनमें एक दो अपवाद भी है। गोलार्ध, अण्डाभ व गोल आकार सामान्य है, किन्तु चक्रवत, घण्टी रूप तथा चपटे मनके भी उपलब्ध हैं।

अधिकाश चूड़ियाँ शंख व पकी मिट्टी की तथा कुछ हाथी दाँत की वनी हुई प्राप्त हुई हैं। सभी टीलों में से टीला एक के काल दो (व) से ताँवे की भी एक चूड़ी मिली है।

काल सप्तम से काँच की चूड़ियों का बाहुल्य है। प्रायः सभी चूड़ियाँ अनलंकृत हैं, किन्तु मिट्टी की कुछ चूड़ियों पर साधारण डिजाइनें देखी जा सकती है। यदाकदा शंख की चूड़ियों पर कतिपय उत्कर्तित रेखायें भी दर्शित हैं। मिट्टी के एक कंगन के टुकड़े पर बहुत ही सुंदर 'स्टाम्प्ड' डिजाइन में कमल बना हुआ है। सभी चूड़ियाँ सेक्शन में प्रायः वर्गाकार अथवा आयताकार हैं किन्तु गोल चूड़ियों का भी अभाव नहीं है, विशेषकर ऊपरी स्तर की काँच की चूड़ियाँ गोल सेक्शन की हैं।

पाँसे तथा मुहरें प्रायः पकी हुई मिट्टी के ही प्राप्त हुये हैं, किन्तु हाथीदाँत के बने और अलंकृत पाँसे हाथीदाँत के प्रयोग के प्रमाण हैं। विदिशा हाथीदाँत के काम के लिये प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध रहा है।[1]

स्त्रियों के आभूषणों में गोमेद तथा सूर्यकांत के बने बड़े-बड़े गोल कर्णफूल अतीव सुंदर हैं। इनमें से एक ताँबे का कर्णफूल समकालीन परिष्कृत कला का ज्वलंत उदाहरण है, जिसके दोनों ओर बारीक डिजाइनें बनी हैं। प्रयोग के लिये उसकी परिधि में अन्य कर्णफूलों के सदृश्य एक गहरा खाँचा तो है ही, उसके केन्द्र में एक छिद्र भी है।

कंघों, अंजन शलाकाओं तथा श्रृंगार पेटिकाओं का विदिशा उत्खनन से उपलब्ध होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। साहित्य में ऐसे अनेक संदर्भ विद्यमान हैं जहाँ विदिशा की युवतियों के सौन्दर्य के साथ उनकी अलंकृत वेश-भूषा का भी विवरण अत्यन्त रोचकता से किया गया है।[2]

श्रृंगार उपादान

विदिशा से प्राप्त स्त्रियों के श्रृंगार की सामग्री के विषय में जितना कहा जाये उतना ही कम प्रतीत होगा। धन-धान्य पूर्ण प्राचीन नगर के निवासियों का स्त्रियों के श्रृंगार उपादानों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। साहित्य में आये अनेक उल्लेख इसके साक्षी हैं तथा पुरातात्विक उपलब्धियाँ इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। इनमें से अनेक पुरावशेषों के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। सेलखड़ी की श्रृंगार पेटियों के ढक्कन भी अलंकृत होते थे। सेलखड़ी का ही बना एक लम्बा आधान देखने में भी अतीव आकर्षक है। इसमें सम्भवतः अंजन शलाकाओं आदि को रखा जाता होगा। शेलखडी के आधानों के साथ हाथीदाँत की बनी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से कंघे, दर्पण के हत्थे आदि के अवशेष विशेष रूप से अलंकृत किये जाते थे। भण्डारकर के उत्खनन से प्राप्त हाथीदाँत की सामग्री पर उत्कीर्ण डिजाइनें भी बहुत सुंदर हैं। इनमें एक गोलाकार तथा छिद्रित टुकड़ा भी है, जो सम्भवतः कान में लटकाया जाता होगा। ताँबे

---

1. साँची महास्तूप के दक्षिण तोरण द्वार पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार वह स्तम्भ विदिशा के हाथीदाँत के कारीगरों द्वारा निर्मित किया गया था।
2. तेषां दिक्षु प्रथित विदिशा लक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा। मेघदूत—पूर्व मेघ, 26.

तथा हाथीदाँत की अंजन शलाकाओं का आधिक्य उनके प्रचुर प्रयोग का द्योतक है। नहाने के लिये पकी हुई मिट्टी के झामक बहुत उपयोगी होते थे।

पत्थर के पुरावशेषों में सिल-बट्टों की संख्या अधिक है। इनके अतिरिक्त तौलने के लिये विभिन्न प्रकार के बाँट भी उल्लेखनीय हैं। यदाकदा पकी मिट्टी के गोल आकार के टुकड़ों का प्रयोग भी इसी कार्य के लिए किया गया प्रतीत होता है किन्तु मिट्टी के इन गोल टुकड़ों से बच्चों का खेलना भी संभावित है। पत्थर के बड़े-बड़े गोलों का प्रयोग सुरक्षा दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

साँचे

सेलखड़ी पत्थर के एक साँचे में, जिससे पदक बनाये जाते थे, एक मुकुटधारी राजा का वक्ष बना है तथा वह दक्षिणाभिमुख है। इसके मुख्यभाग को देखकर वैक्ट्रियन दिरहम द्रख्म (ड्राक्मा) का आभास होता है। पृष्ठ भाग पर हरमीज का पातुक भी एक छड़ से लटकता हुआ दिखाई देता है। साँचे की कारीगरी, वक्ष का उत्कीर्णन तथा पातुक में यूनानी प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। एक अन्य साँचे पर भण्डारकर ही को मिला था, दो शीर्ष तथा एक पशु शरीर बना था। एक शीर्ष किसी काल्पनिक पशु का है, जिसमें सींग तथा खुला हुआ जबड़ा तथा एक दाढ़ीदार मानव का है। इसके पृष्ठ भाग पर हुविलस्य उत्कीर्ण है।[1]

मुहरें[2]

भण्डारकर को बेसनगर के मध्य में किये गये उत्खनन से अनावृत सभा व भोजन मण्डपों अथवा उनके समीप से मिट्टी की बनी 31 छापें प्राप्त हुई थीं। इनमें पाँच अस्पष्ट हैं, 17 पर विभिन्न मुद्रायें तथा उनकी पुनरावृतियाँ हैं। उनके रूप तथा चिन्हों से स्पष्ट है कि एक के अतिरिक्त, अन्य सभी छोटे काष्ठ पटों के पत्रों तथा प्रलेखों से संलग्न की गई थीं। इनके पीछे पट्टी पर चिपकाने के चिन्ह हैं और एक ओर मुद्रा-चिन्ह तथा लिखावट है। इनसे यह ज्ञात होता है कि पहले संदेश काष्ठ पट्टी पर लिखा जाता था, उसके ऊपर दूसरी पट्टी रखकर उन्हें बाँधकर गाँठ पर दोनों पट्टियों को जोड़ती हुई गीली मिट्टी लगाकर उस पर मुद्रा लगा दी जाती थी। कभी-कभी मिट्टी इस बंधन से दूर लगाई जाती थी। इनमें जिस टुकड़े के पीछे पट्टी पर चिपकाने का चिन्ह नहीं है, वह प्रवेश पाने के लिये अधिकार देने का पासपोर्ट (प्रवेशपत्र) विदित होता है।[3]

अधिकांश मुहरों पर अशासकीय व्यक्तियों के नाम है, किन्तु एक पर राजकीय पद 'हय-हस्ती' अधिकारी लेख है, जिसका तात्पर्य है कि अश्व तथा गज के अधीक्षण का कार्य

---

1. कनिंघम, आवर्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 1914, 15, पृ० 20.
2. खरे, एम० डी०, जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 1964, दिसम्बर, 126 (मुहरों के प्रयोग तथा विकास के लिये)।
3. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृ० 11-12.

इस अधिकारी द्वारा किया जाता था। एक अन्य मुहर पर 'महाराज विशमित्र स्वामिन' पढ़ा गया है, जो किसी शासक से सम्बन्धित है। इस पर नंदी एवं त्रिशूल के चिन्ह हैं। इन सब में जो मुहर अपवाद है (क्योंकि उस पर रस्सी अथवा काष्ठ पट्ट के चिन्ह नहीं हैं), उस पर "तिमित्रदत्रिस्य (स) हो (ता) प (ो) ता मंत्र-सजन (ो)" लेख है। अक्षरों की छाप स्पष्ट न होने पर भी भण्डारकर ने उन्हें होत, पोत तथा मंत्र के आधार पर यज्ञ साहित्य के तकनीकी शब्द मानते हुये यज्ञ शाला से संबद्ध किया है। उनके अनुसार मुहर का आशय इस प्रकार है : दानी तिमित्र होत, पोत, स्तोत्रज्ञाति सहित........यदि मुहर लेख का पठन तथा मेरे द्वारा उसकी की गई व्याख्या उचित है तो तिमित्र यवन नाम दिमित्रयस के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है तथा यह यवन यजमान था, जिसने यह यज्ञ प्रारम्भ किया था। इसी यज्ञ के लिये इन कुण्डों तथा मण्डपों का निर्माण किया गया था।[1]

दो दण्डनायकों की मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें से एक पर दो पंक्तियों में लेख है :
"............पर नुगु—
दण्डनायक विलु "तथा दूसरी पर"
"चेतागिरिक पुत्र
(द) (ड) नायक श्री सेन"। चेतगिरिक का पुत्र 'सेन' और 'विल............' दो दण्डनायक (पुलिस अधिकारी) एवं हय हस्त्याधिकारियों के संदेश प्रबन्ध के सम्बन्ध में ही आये होंगे।

12 टुकड़ो पर साधारण नागरिकों की मुद्राओं के चिन्ह हैं। इनमें से कुछ पर निम्न लिखित नाम अंकित हैं :

1. सूर्य भर्तृवर पुत्रस्य
   (त्र) स्य विष्णु गुप्तस्य "(सूर्य भर्तृ वर पुत्र विष्णुगुप्त का)। इस प्रकार के चार टुकड़े प्राप्त हुये हैं।
2. (ऐ) कन्द घोष पु (त्र)
   स्य भवघोषस्य "(स्कंदघोष के पुत्र भवघोष की)। इस प्रकार के दो टुकड़े उपलब्ध हुये हैं।
3. श्री विजय-तीन टुकड़े
4. कुमार वर्मन्
5. विष्णुप्रिय। इन नागरिकों ने संभवतः अपनी भेंट भेजी होंगी।[2]

लेखक को पत्थर की एक मुहर मिली है, जिस पर शुंगकालीन ब्राह्मी में "निकुंभ रागस्य" उत्कीर्ण है।[3] निकुंभ के विषय में विचार व्यक्त करते हुये कनिंघम ने कहा है कि अलवर के निकटवर्ती क्षेत्र के प्राचीन निवासी 'निकुंब' कहलाते है, जो सूर्यवंशी निकुंभ के वंशज हो सकते हैं।[4]

---

1. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट 1914-15, भाग 1, पृ० 20.
2. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 12-13.
3. इण्डियन आर्क्योलॉजी, 1963-64, ए रिव्यू, पृ० 17.
4. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 6, 1871-72, पृ० 85.

मृण्मूर्तियाँ[1]

मिट्टी की मूर्तियों को निर्धन लोगों की कला कहा जाता है, किन्तु उनमें व्यक्त भाव तथा सुन्दरता को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कला मूर्तिकला से किसी प्रकार भी कम प्रभावशाली नहीं है। भिन्न-भिन्न युगों में इसके विकास का इतिहास भी अतीव रोचक है।

मृण्मूर्तियों के उल्लेख महाभारत व उत्तरकालीन साहित्य में मिलते हैं। ऋग्वेद में दिये गये महीमाता के वर्णन से भी स्पष्ट है कि उत्तर पाषाण कालीन मातृदेवी की प्रथा प्रचलित रही आई। यूरोपीय उत्तर पाषाण युगीन संकलन में पत्थर, हाथीदाँत तथा मिट्टी की अनेक स्त्री-मूर्तियाँ प्राप्त हुई है, जिनके स्तन, नितम्ब आदि अतिरंजित बनाये जाते थे। इन आदि मूर्तियों का उद्देश्य जननोपासना से संबद्ध था।[2] एकलव्य द्वारा गुरु की मृण्मूर्ति की पूजा की गई थी। मृण्मूर्तियों का खिलौने के रूप में प्रयोग अनेक संदर्भों में प्राप्त होता है। प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक का नाम इसकी पुष्टि करता है। बाण ने लेप्यकार और पुस्तकृत नाम से मिट्टी और गचकारी के खिलौने बनाने वाले दो कारीगरों का उल्लेख किया है। बुद्ध घोष ने मिट्टी की इस कला को 'पोत्थक रूप' कहा है।[3]

सिंधु सभ्यता के खिलौनों में साँचों का प्रयोग नहीं किया गया था, किन्तु जो स्त्री तथा पशु-पक्षियों के रूप इस युग में बनाये जाते थे, उनका नैरन्तर्य ऐतिहासिक काल की मृण्मूर्तियों में देखा जा सकता है। साँचे का, प्रयोग जिसे 'संचक' या मात्रका भी कहते हैं, सर्व प्रथम शुंगकाल में किया गया प्रतीत होता है। मौर्यकाल की मृण्मूर्तियाँ हाथ से बनाई जाती थीं। मौर्यकालीन मूर्तियों की निम्नलिखित मुख्य विशेषतायें हैं :

1. स्त्रियों की नाट्य-मुद्रायें, जिनकी सिरो भूषा अतीव भारी होती है तथा घाघरा चौड़ा होता है।

2. अनन्त प्रकार (एजलैस) की मात्रिकायें। इन मूर्तियों को हाथ से बनाने के उपरान्त आसंजन विधि से भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिट्टी के टुकड़ों को संलग्न कर दिया जाता था। विदिशा से प्राप्त मात्रिका प्रकार की मूर्तियों में इस प्रकार की आसंजन विधि का प्रयोग देखा जा सकता है।

पटना, बुलन्दीबाग, कुमराहार, कौशाम्बी, अहिच्छत्र, मथुरा आदि अनेक स्थानों के उत्खनन से प्राप्त मृण्मूर्तियों में विभिन्न कालों की विशेषतायें सुस्पष्ट हैं। शुंग कालीन कृतियों में जो एक साँचे में बनाई जाती थी, समकालीन मूर्तिकला के समान ही पुरातनता की

---

1. खरे, एम० डी०..................मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, विशेष अंक।
2. हाइमन, एरिक, मदरगोडेस : देखिये, डान आफ सिव्लीजेशन।
3. अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला (प्रारम्भिक युग से तीसरी शती तक) पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी-5, 1966, पृ० 376.

झलक मिलती है, जिनकी प्रतिरूप वास्तविक न होकर प्रत्ययात्मक अधिक है।[1] वस्त्र, आभूषण तथा अन्य समकालीन अलंकारों का चित्रण भी इन मृण्मूर्तियों में यथावत दर्शनीय है।

कौशाम्बी की मृण्मूर्तियाँ तीन समूहों में विभाजित की गई हैं।[2] प्रथम वर्ग में हाथ की बनी, द्वितीय में साँचे में ढली तथा तृतीय में भी हाथ की बनी किन्तु प्रथम वर्ग से भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ थी।

अहिच्छत्र की मिथुन मूर्तियों के सम्बन्ध में लिखते हुये वासुदेव शरण अग्रवाल ने मिथुन तथा कालान्तर में परिवर्तित स्त्री पुरुष के अंकन के निम्नलिखित भेद बतलाये हैं :[3]

1. मिथुन प्रकार के टिकरों में स्त्री-मूर्ति पुरुष के दाहिनी ओर है और दम्पत्ति टिकरों में वह बाँयी ओर है।
2. मिथुन टिकरों के किनारे टेढ़े मेढ़े हैं किन्तु दम्पति टिकरे एकदम सीधे, सच्चे और फूलों की गोट और पृष्ठभूमि से युक्त हैं।
3. मिथुन मूर्तियाँ दम्पति की अपेक्षा अधिक गहनों से लदी हैं।
4. दम्पत्ति टिकरों पर शुंगकालीन भरहुत की पाषाण मूर्तियों के सदृश्य ही वस्त्र, आभूषण, केश-विन्यास, भारी उष्णीष, गोल मुख और दबकी उकेरी हैं।

अहिच्छत्र के उत्खनन में मिथुन मूर्तियां दम्पति मूर्तियों से अधिक गहराई में प्राप्त हुई हैं।

इसी प्रकार मथुरा की मूर्तियों के लक्षण निम्नलिखित कहे गये हैं :

1. मस्तक साँचे में ढाला गया है और शरीर का शेष भाग हाथ से डोलिया कर बनाया गया है।
2. ऊपर से चिपकाये हुये अंगीय या अलंकार।
3. खचित वृत्तों से आभूषणों का संकेत।
4. खड़ी मुद्रा जिसमें टाँगें ठिगनी और एक दूसरे से अलग हटी हुई हैं। अथवा कुछ मूर्तियाँ टाँग लटकाये हुये 'यूरोपीय' ढंग या ललित-पर्यक आसन में बैठी हैं।
5. आँखें छीमी के कटाव की लंबोतरी हैं जिनमें पुतलियाँ दिखाई गई हैं, जिनसे मुख का भावपूर्ण आकर्षण बढ़ गया है।

---

1. रोलॉ, बेन्जामिन : द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, पृ० 55.
2. शर्मा, गोवर्धनराय : द एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी 1957–59 (इंस्टीट्यूट आफ आर्क्योलॉजी, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नं०1) इलाहाबाद 1960, पृ० 74 प्लेट 44–46, पृ० 381–382.
3. अग्रवाल, वासुदेवशरण; भारतीय कला, पृ० 381–382.

पाषाण काल में प्रारंभ हुई मातृ देवी की प्रथा सिंधु तथा उसकी समकालीन सभ्यताओं में भी पाई जाती है। अतः प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग के अनेक भारतीय स्थलों पर इनका मिलना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। शुंगकालीन मृण्मूर्तियों का सौन्दर्य तथा उनकी प्रचुरता कुशाणकाल में नहीं मिलती, यद्यपि गुप्तकाल में पुनः इन मूर्तियों में विविधता तथा आधिक्य है क्योंकि इनसे सम्भवतः निर्धन लोग भी धर्म के साथ ही साथ मनोरजन की पूर्ति सहज रूप से कर सकते थे। गुप्तकाल में प्रायः तीन प्रकार की मृण्मूर्तियाँ मिलती हैं :

1. धार्मिक
2. सुन्दर स्त्री और पुरुष मूर्तियाँ तथा
3. पार्थिव मूर्तियों के फलक जो वास्तु-शिल्प में प्रयुक्त होते थे इनमें पौराणिक आख्यानों और अलंकरण के विषय हैं।[1]

विदिशा में शुंगवंश का सर्वाधिक प्रभाव होने के कारण यह आशा की जाती थी कि अन्य स्थलों की अपेक्षा यहाँ के उत्खनन से इस काल की मृण्मूर्तियाँ अधिक उपलब्ध होंगी। किन्तु अभाग्यवश इनकी संख्या बहुत ही कम है। फिर भी शुंगकालीन साँचे की प्रथा तथा गुप्तकालीन अलंकरणशैली के नमूनों की यहाँ भी कमी नहीं है। यहाँ पर स्त्री मूर्तियों का आधिक्य, पुरुष मूर्तियों की कमी तथा युगल का सर्वथा अभाव है। इसका कारण सीमित उत्खनन ही हो सकता है। वी एस एन एक में अन्य टीलों की अपेक्षा अधिक क्षेत्र में उत्खनन किया गया किन्तु यह राजमहल से संबद्ध इमारत का भाग होने के कारण यहाँ जन साधारण के प्रयोग में लाई जाने वाली मृण्मूर्तियों का अभाव रहा प्रतीत होता है।

भण्डारकर के उत्खनन से प्राप्त मृणमय मूर्तियों की संख्या भी अधिक थी। मानव मूर्तियों में लगभग 50 प्रतिशत मनुष्य तथा 50 प्रतिशत स्त्री मूर्तियाँ थीं। अधिकांश मूर्तियाँ उत्तर गुप्त काल की थीं। वर्तमान उत्खनन के समान इन मूर्तियों का पृष्ठभाग भी सपाट था। अन्य मृण्मूर्तियों में बतख, तोता, हाथी, घोड़ा, मेंढा, वृषभ, कछुआ तथा मछली उल्लेखनीय है। कछुये की ग्रीवा तथा घोड़े के मुँह में एक आर पार छिद्र बनाया जाता था, जिसके भीतर एक डोरी डालकर उसे खींचने में सुविधा होती है। जितने वृषभ मिले हैं, वह प्रायः बैठे हुये बनाये गये तथा आगे की टाँगों में भी आर पार छिद्र देखे गये है, जिनका अभिप्राय बच्चों द्वारा उन्हें डोरी से खींचे जाने का ही था। गाड़ी के छोटे-छोटे पाँच पहिये भी भण्डारकर को प्राप्त हुये थे। इन मिट्टी की गाड़ियों का प्रयोग भी खिलौने के रूप में ही होता था।

वर्तमान उत्खनन में सबसे निम्न स्तर से चिर नूतन प्रकार (अनंत प्रकार) की मातृदेवियों की मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। शुंगकालीन मूर्तियों में साँचे की प्रथा उनके सपाट पृष्ठभाग के उदाहरण भी दर्शनीय हैं। गुप्तकालीन एक शीर्ष भाग तथा मातृदेवी के

---

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण, पूर्वनिर्देशित, पृ० 388–389.

चित्रण सहित छिद्रित तावीज यहाँ की आकर्षक मृण्मूर्तियों में से हैं। अन्य मृण्मूर्तियों में हाथी, घोड़ा, वृषभ, कुत्ता, मुर्गा, कछुआ आदि पाये गये हैं। मृण्मूर्तियों की कुल संख्या 89 है, जिसमें से 42 भण्डारकर को मिली थीं और 47 लेखक को। इनमें से 20, 18, 6 व 1 क्रमशः टीला एक, दो, 4 व 3 से प्राप्त हुईं। टीला 2 पर एक की अपेक्षा बहुत ही कम क्षेत्र में उत्खनन किया गया था फिर भी मृण्मूर्तियों की संख्या लगभग टीला एक के ही समान हैं। इससे स्पष्ट है कि टीला दो में जनसाधारण का निवास था, जहाँ इनका आधिक्य है।

सिक्के[1]

विदिशा से प्राप्त सिक्कों की संख्या लगभग 500 है, जिनमें से 90 कनिंघम को, 100 भण्डारकर को तथा शेष लेखक को मिले थे। अन्य पुरावशेषों की अपेक्षा यहाँ सिक्कों की संख्या अधिक है, जिससे इस नगर की धनधान्यपूर्ण स्थिति का ज्ञान होता है। सिक्कों को व्यापार तथा संस्कृति का अभिसूचक कहा गया है।

इन सिक्कों में लगभग 250 आहत मुद्रायें हैं, जो अधिकांशतया ताँबे की हैं। चाँदी की मुद्राओं की संख्या बहुत कम है।

इन सिक्कों का सविस्तार वर्णन करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के प्राचीनतम सिक्कों के विषय में कुछ चर्चा कर ली जाये।

मुद्राओं के प्रयोग के पूर्व सामान्य. वस्तुओं के आदान प्रदान का माध्यम गायें हुआ करती थी। ऋग्वेद में हिरण्यपिण्ड अथवा निष्क शब्दों का प्रयोग किया गया है। अनेक विद्वानों का मत है[2] कि निष्क* का अर्थ सिक्का है। तैतरीय संहिता में सर्व प्रथम 'शतमान' शब्द मुद्रा के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। पाणिनि व पातंजलि के समय में भी शतमान का प्रयोग होता था। उन्होंने कार्षापण तथा उसके विभिन्न अंशों का भी विवरण दिया है। कौटिल्य ने चाँदी के पण तथा ताँबे के माशक एवं उनके विभिन्न अंशों के विषय में लिखा है। जातकों में कहपण, शब्द कार्षापण के लिए प्रयुक्त हुआ है। विनयपिटक, अंगुत्तर निकाय, मझिझम निकाय आदि में भी मुद्राओं के प्रयोग के प्रमाण हैं।

---

1. कृपया देखिये—(1) खरे, एम० डी०, ए नोट आन द पंच मार्क्ड काइन्स फ्रोम द रिसेंट एक्सकेवेशन्स (क्रोनोलाजी आफ द पंच-मार्क्ड काइन्स-बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1966).
   (2) द बियरिंग आफ एक्सकेवेशन्स आन द क्रोनोलाजी आफ द लोकल कोइन्स आफ सेन्ट्रल इण्डिया मेमोइर्स आफ द डिपार्टमेण्ट आफ ऐंशिएण्ट इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्क्योलॉजी, नं०2,1968.
2. ई० थोमस, भण्डारकर, अल्तेकर आदि।

* ऋग्वेद में गले में पहनने के एक प्रकार के हार को निष्क कहा गया है। सम्भवतः इसमें पिटे सोने के टुकड़े हुआ करते थे। देखिए म० श० उपाध्याय की विमेन इन ऋग्वेद, अडोर्नमेण्ट का अध्याय।

इन कार्षापणों को ही 'पंचमार्क' अथवा आहत मुद्रायें कहते हैं जो भारतवर्ष की 'प्राचीनतम मुद्रायें हैं, जिनके लिए "रूपम् छिदित्वा कत-मासको" या "रूपम् समुत्थापेत्वा कत मास को" जैसी अभिव्यक्ति सामन्त पासादिका में प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि कार्षापण के लिये रूप आवश्यक है जो उसमें बनाया जाता था। इन रूपों में मानवी तथा पशु आकृतियाँ होती थीं। भण्डारकर का मत है[1] कि राजा अथवा उसके द्वारा अनुवत व्यक्ति या गण ही इन मुद्राओं को प्रचलित कर सकता था। पालि साहित्य में सम्राट् के सात रत्नों[2] के विषय में अनेक उल्लेख विद्यमान हैं। इन सात चिन्हों में से चक्र, हस्तिन् तथा अश्व इन मुद्राओं पर अंकित मिलते हैं। इसी प्रकार स्त्री, गृहपति तथा परिनायक भी यदाकदा अंकित किये गये हैं।

कार्षापणों पर पाये गये दो चिन्ह पश्चिमी क्षत्रपों के चाँदी के सिक्कों के पृष्ठभाग पर भी मिलते हैं। इन्हें चैत्य तथा नदी का चिन्ह माना गया है। चैत्य चिन्ह को मेरु पर्वत तथा नदी चिन्ह को गंगा समझा जाना चाहिए। प्राचीन समय में राजाओं की प्रशस्ति गाते समय यही कामना की जाती थी कि जब तक गंगा यमुना में पानी है, हिमालय खड़ा हुआ है तथा चंद्रमा व सूर्य हैं, राजा का यश और प्रताप जीवित रहे। यही कारण है कि पर्वत तथा नदी के साथ चन्द्र और सूर्य के चिन्ह भी इन मुद्राओं में विद्यमान हैं।

भण्डारकर[3] ने विसुदिमग्ग से एक लेखांश उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि जहाँ कहीं से भी मुद्रायें निकलती थीं, उस स्थान के अपने-अपने चिन्ह विशेष होते थे, जिन्हें देखकर इनका पारखी मुद्राओं के विषय में कह सकता था। यही कारण है कि बेसनगर से उपलब्ध आहत मुद्राओं पर नदी चिन्ह को भण्डारकर ने वेत्रवती का निर्देशक कहा है। थियोबाल्ड ने कार्षापणों पर मुद्रित भिन्न-भिन्न पर्वतों की पहचान के विषय में जो मत व्यक्त किये हैं वे विचारणीय हैं।*

इन सिक्कों को बनाने की तकनीक के कारण इन्हें "पंचमार्क्ड" अथवा आहत सिक्कों का नाम दिया गया है। इनके मुख्य भाग पर पाँच चिन्ह बनाये जाते थे तथा इनका वजन 56 ग्रेन होता था। स्थानीय सिक्कों पर प्रायः चार चिन्ह देखे गये हैं। मुद्रा विशेषज्ञों ने इनके आधार पर इन्हें सामाजिक तथा स्थानीय कहा है। दुर्गाप्रसाद ने स्थानीय सिक्कों पर अनेक चिन्ह पहचाने हैं।[4] स्थानीय आहत मुद्राओं में 'बेंट-बार' विशेष उल्लेखनीय है।[5]

---

1. भण्डारकर : आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1913–14, पृ०299.
2. चक्र, हस्तिन्-अश्व, मणि, स्त्री, गृहपति तथा परिनायक।
3. भण्डारकर, एपेडिक्स, विसुदिमग्ग, 14 वाँ परिच्छेद, पृ० 212 व 226.
   *यावत्स्यास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
4. न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेंट, 47, पृ० 74-79.
5. जे० एन० एस० आई० 3, पृ० 15.

चित्रण सहित छिद्रित तावीज यहाँ की आकर्षक मृण्मूर्तियों में से हैं। अन्य मृण्मूर्तियों में हाथी, घोड़ा, वृषभ, कुत्ता, मुर्गा, कछुआ आदि पाये गये हैं। मृण्मूर्तियों की कुल संख्या 89 है, जिसमें से 42 भण्डारकर को मिली थीं और 47 लेखक को। इनमें से 20, 18, 6 व 1 क्रमशः टीला एक, दो, 4 व 3 से प्राप्त हुई। टीला 2 पर एक की अपेक्षा बहुत ही कम क्षेत्र में उत्खनन किया गया था फिर भी मृण्मूर्तियों की संख्या लगभग टीला एक के ही समान है। इससे स्पष्ट है कि टीला दो में जनसाधारण का निवास था, जहाँ इनका आधिक्य है।

सिक्के[1]

विदिशा से प्राप्त सिक्कों की संख्या लगभग 500 है, जिनमें से 90 कनिंघम को, 100 भण्डारकर को तथा शेष लेखक को मिले थे। अन्य पुरावशेषों की अपेक्षा यहाँ सिक्कों की संख्या अधिक है, जिससे इस नगर की धनधान्यपूर्ण स्थिति का ज्ञान होता है। सिक्कों को व्यापार तथा संस्कृति का अभिसूचक कहा गया है।

इन सिक्कों में लगभग 250 आहत मुद्रायें हैं, जो अधिकांशतया ताँबे की हैं। चाँदी की मुद्राओं की संख्या बहुत कम है।

इन सिक्कों का सविस्तार वर्णन करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के प्राचीनतम सिक्कों के विषय में कुछ चर्चा कर ली जाये।

मुद्राओं के प्रयोग के पूर्व सामान्य वस्तुओं के आदान प्रदान का माध्यम गायें हुआ करती थी। ऋग्वेद में हिरण्यपिण्ड अथवा निष्क शब्दों का प्रयोग किया गया है। अनेक विद्वानों का मत है[2] कि निष्क* का अर्थ सिक्का है। तैतरीय संहिता में सर्व प्रथम 'शात-मान' शब्द मुद्रा के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। पाणिनि व पातंजलि के समय में भी शतमान का प्रयोग होता था। उन्होंने कार्षापण तथा उसके विभिन्न अंशों का भी विवरण दिया है। कौटिल्य ने चाँदी के पण तथा ताँबे के माशक एवं उनके विभिन्न अंशों के विषय में लिखा है। जातकों में कहपण, शब्द कार्षापण के लिए प्रयुक्त हुआ है। विनय-पिटक, अंगुत्तर निकाय, मज्झिम निकाय आदि में भी मुद्राओं के प्रयोग के प्रमाण है।

---

1. कृपया देखिये—(1) खरे, एम० डी०, ए नोट आन द पंच मार्क्ड काइन्स फ्रोम द रिसेंट एक्सकेवेशन्स (क्रोनोलाजी आफ द पंच-मार्क्ड काइन्स-बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1966).
   (2) द बियरिंग आफ एक्सकेवेशन्स आन द क्रोनोलाजी आफ द लोकल कोइन्स आफ सेन्ट्रल इण्डिया मेमोइर्स आफ द डिपार्टमेण्ट आफ ऐंशिएण्ट इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्क्योलॉजी, नं०2, 1968.
2. ई० थोमस, भण्डारकर, अल्तेकर आदि।

* ऋग्वेद में गले में पहनने के एक प्रकार के हार को निष्क कहा गया है। सम्भवतः इसमें पिटे सोने के टुकड़े हुआ करते थे। देखिए म० श० उपाध्याय की विमेन इन ऋग्वेद, अडोर्नमेण्ट का अध्याय।

इन कार्षापणों को ही 'पंचमार्क' अथवा आहत मुद्रायें कहते हैं जो भारतवर्ष की प्राचीनतम मुद्रायें हैं, जिनके लिए "रूपम् छिदित्वा कत-मासको" या "रूपम् समुत्थापेत्वा कत मास को" जैसी अभिव्यक्ति सामन्त पासादिका में प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि कार्षापण के लिये रूप आवश्यक है जो उसमें बनाया जाता था। इन रूपों में मानवी तथा पशु आकृतियाँ होती थीं। भण्डारकर का मत है[1] कि राजा अथवा उसके द्वारा अनुवत व्यक्ति या गण ही इन मुद्राओं को प्रचलित कर सकता था। पालि साहित्य में सम्राट् के सात रत्नों[2] के विषय में अनेक उल्लेख विद्यमान हैं। इन सात चिन्हों में से चक्र, हस्तिन् तथा अश्व इन मुद्राओं पर अंकित मिलते हैं। इसी प्रकार स्त्री, गृहपति तथा परिनायक भी यदाकदा अंकित किये गये हैं।

कार्षापणों पर पाये गये दो चिन्ह पश्चिमी क्षत्रपों के चाँदी के सिक्कों के पृष्ठभाग पर भी मिलते हैं। इन्हें चैत्य तथा नदी का चिन्ह माना गया है। चैत्य चिन्ह को मेरु पर्वत तथा नदी चिन्ह को गंगा समझा जाना चाहिए। प्राचीन समय में राजाओं की प्रशस्ति गाते समय यही कामना की जाती थी कि जब तक गंगा यमुना में पानी है, हिमालय खड़ा हुआ है तथा चंद्रमा व सूर्य हैं, राजा का यश और प्रताप जीवित रहे। यही कारण है कि पर्वत तथा नदी के साथ चन्द्र और सूर्य के चिन्ह भी इन मुद्राओं में विद्यमान हैं।

भण्डारकर[3] ने विसुद्धिमग्ग से एक लेखांश उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि जहाँ कहीं से भी मुद्रायें निकलती थीं, उस स्थान के अपने-अपने चिन्ह विशेष होते थे, जिन्हें देखकर इनका पारखी मुद्राओं के विषय में कह सकता था। यही कारण है कि बेसनगर से उपलब्ध आहत मुद्राओं पर नदी चिन्ह को भण्डारकर ने वेत्रवती का निर्देशक कहा है। थियोबाल्ड ने कार्षापणों पर मुद्रित भिन्न-भिन्न पर्वतों की पहचान के विषय में जो मत व्यक्त किये हैं वे विचारणीय हैं।*

इन सिक्कों को बनाने की तकनीक के कारण इन्हें "पंचमार्क्ड" अथवा आहत सिक्कों का नाम दिया गया है। इनके मुख्य भाग पर पाँच चिन्ह बनाये जाते थे तथा इनका वजन 56 ग्रेन होता था। स्थानीय सिक्कों पर प्रायः चार चिन्ह देखे गये हैं। मुद्रा विशेषज्ञों ने इनके आधार पर इन्हें सामाजिक तथा स्थानीय कहा है। दुर्गाप्रसाद ने स्थानीय सिक्कों पर अनेक चिन्ह पहचाने हैं।[4] स्थानीय आहत मुद्राओं में 'वेंट-वार' विशेष उल्लेखनीय है।[5]

---

1. भण्डारकर : आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1913–14, पृ०299.
2. चक्र, हस्तिन्-अश्व, मणि, स्त्री, गृहपति तथा परिनायक।
3. भण्डारकर, एपेंडिक्स, विसुद्धिमग्ग, 14 वाँ परिच्छेद, पृ० 212 व 226.
   *यावत्स्यास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
4. न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेंट, 47, पृ० 74-79.
5. जे० एन० एस० आई० 3, पृ० 15.

इन ताँबे की आहत मुद्राओं को पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है। प्रथम वर्ग में चाँदी की आहत मुद्राओं के अनुकरण पर बनी मुद्रायें हैं। दूसरा वर्ग कनिंघम की प्रकार संख्या 20 के समान है जिन्हें उन्होंने एरण (सागर) से प्राप्त किया था।[1] तीसरे वर्ग के सिक्कों में एक ओर केवल एक ही चिन्ह बना है।[2] चौथा वर्ग ठप्पे में ढाले गये सिक्कों का है, जिन्हें 'कास्ट काइन्स' कहते हैं। पाँचवें वर्ग के सिक्कों को बेसनगर का देशज सिक्का कहा गया है। इनकी विशेषता है नदी का चिन्ह, जिसमें मगरमच्छ, कछुआ, मछली आदि भी दिखाये गये हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, कि आहत सिक्के भारतवर्ष के प्राचीनतम सिक्के हैं, विद्वानों में इनकी तिथि के विषय में मतैक्य नहीं है। कनिंघम[3] ने इनकी तिथि लगभग 1000 ई० पूर्व निर्धारित की है। अल्तेकर 800 ई० पू० से पूर्व मानने को सहमत नहीं हैं। केनेडी का मत है कि छठी शताब्दी ई० पू० मे बेबीलोनियन सिक्कों के अनुकरण पर ये बनाये गये। स्मिथ ने 600-500 ई० पू० तथा एलन ने तृतीय-द्वितीय शताब्दी ई० पू० इनकी तिथि अनुमानी है। सन् 1969 मे पटना में हुई आहत सिक्कों की सेमिनार में यह निश्चय किया गया था कि इन सिक्कों की प्राचीनतम तिथि पाँचवी शताब्दी ई० पू० मानी जानी चाहिए।

विदिशा से प्राप्त आहत मुद्राओं की प्राचीनतम तिथि भी ई० पू० पाँचवीं शताब्दी मानी जा सकती है। अन्य स्थलों के उत्खननों से भी स्पष्ट है कि काले ओपदार उत्तरी भाण्ड तथा आहत मुद्रायें लगभग समकालीन हैं। यहाँ से 'कार्बन 14' परीक्षण के लिये भेजे गये दो नमूनों की तिथियाँ 470 ± 150 और 295 ± 110 ई० पू० निकलती हैं, जो काले ओपदार उत्तरी भाण्डों के विभिन्न स्तरों मे लिये गये थे।

भण्डारकर को चाँदी के आहत सिक्के नहीं मिले थे। वर्तमान उत्खनन में भी इन सिक्कों की संख्या बहुत सीमित है। इनमें से एक 'बार-काइन' है तथा एक दीर्घायात है। बार के ऊपर के चिन्ह दूसरे सिक्के की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हैं। इनके पृष्ठ-भाग पर केवल एक-एक छोटा सा चिन्ह है, जो अस्पष्ट है। सूर्य चिन्ह, जो लगभग सभी प्रकार की आहत मुद्राओं पर देखा गया है, बार के ऊपर भी अंकित है। कुछ सिक्कों पर चाँदी का पानी चढ़ा है।

कनिंघम को 5 प्राचीन आहत तथा 50 उज्जैन और एरण प्रकार की मुद्रायें मिली थीं। भण्डारकर के 81 ताँबे के आहत सिक्कों में 49 खामबाबा के क्षेत्र तथा 32 गणेश मन्दिर से प्राप्त हुये थे। विदिशा से प्राप्त कुछ ढले आहत सिक्के रायपुर संग्रहालय[4]

---

1. काइन्स आफ ऐंशिएण्ट इंडिया, फलक 11.
2. आर्क्योलॉजिक रिपोर्ट, 1913-14, फलक 66, सं० 12.
3. कनिंघम : काइन्स आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया (रिप्रिंट), पृ० 43.
4. जर्नल आफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, 1, 23, पृष्ठ 303, 306.

में, लगभग 10,000 मड़वैया तथा 100 डॉ० नागू, इन्दौर के संग्रह में हैं। डॉ० नागू के संग्रह में एक विचित्र सिक्का है, जिसके पृष्ठ भाग पर हाथी है तथा उसके सम्मुख एक व्यक्ति पुष्पहार लिये खड़ा है।[1]

वर्तमान उत्खनन में 28 सिक्के टीला तीन से, तीन, टीला दो से तथा लगभग 100 सिक्के टीला एक से उपलब्ध हुये हैं। इन सिक्कों पर भी उपर्युक्त चिन्ह हैं तथा जो एरण, उज्जैन, कायथा, त्रिपुरी आदि से उपलब्ध सिक्कों पर अंकित है। भिलसा से एक दुर्लभ एरण-चिन्हांकित ताँबे का सिक्का भी प्रकाशित हो चुका है।[2]

आहत मुद्राओं के लगभग सभी प्रकार यहाँ से प्राप्त हुये हैं। प्रायः सभी सिक्के वर्गाकार हैं। भण्डारकर के द्वितीय वर्ग के सिक्कों में कुछ आयताकार भी हैं। इस वर्ग के सिक्कों पर स्वस्तिक चिन्ह प्रधान है। 'कास्ट-काइन्स' पर अधिकांशतया दोनों ओर चिन्ह हैं। इनमें कहीं-कहीं लेख भी है। सिक्का क्रमांक 1033 पर क म र लिखा है। एक अन्य सिक्के के मुख्यभाग पर एक चक्र है तथा पृष्ठभाग पर द घ र है। इन कास्ट सिक्कों के एक ओर कभी-कभी पशु आकृति है तथा दूसरी ओर वेदिका के भीतर वृक्ष, खोखला, 'क्रास' आदि चिन्ह है। उत्खनन के सबसे नीचे के स्तर में, जहाँ सिक्के मिलना प्रारम्भ होते हैं, सर्वप्रथम कास्ट काइन मिले, जो पंच-मार्क्ड सिक्कों के साथ भी प्रचलित रहे।

विदिशा के आहत सिक्कों की सर्वाधिक संख्या भण्डारकर के पंचम वर्ग के अंतर्गत आती है। ये सिक्के बहुधा पृष्ठभाग पर चिन्ह रहित है। इनके मुख्य भाग पर वेदिका के भीतर वृक्ष के अतिरिक्त घोड़ा, हाथी, क्रास, नदी आदि अंकित हैं।

इन मुद्राओं के विभिन्न भाग, इनके आकार व वजन देखकर स्पष्ट हो जाते हैं। बहुधा इनके अर्ध व चतुर्थ भाग मिलते हैं किन्तु 1/8 तथा 1/16 भाग भी यदा कदा प्रयोग में लाये गये प्रतीत होते हैं। एक सिक्का विशेष उल्लेखनीय है। इसके मुख्य भाग पर कूबड़दार वृषभ तथा त्रिशूल है और पृष्ठभाग पर नंदिपद है। इसके ऊपरी भाग में एक छिद्र है, जिससे स्पष्ट है कि किसी शैव मतावलम्बी के बच्चे के गले में यह लटकाया जाता होगा। आज भी गाँवों में छोटे-छोटे बच्चों के गले में ताँबे के सिक्के लटकते देखे जा सकते हैं।

आहत मुद्राओं की संख्या कालक्रम दो तथा तीन से अधिक प्राप्त हुई है, यद्यपि इनका प्रयोग पंचम काल तक होता रहा।

विदिशा नगर राज्य[3] के कुछ सिक्के भी यहाँ उपलब्ध हुये हैं। वर्तमान उत्खनन से प्राप्त एक सिक्के पर मौर्यकालीन ब्राह्मी में वेदम लेख है तथा इसके पृष्ठ भाग पर एक

---

1. श्री वाकणकर, व्ही० एस० के सौजन्य से।
2. जर्नल आफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, 17, पृ० 46.
3. प्रो० वाजपेयी, के० डी० तथा श्री जैन, बालचन्द को भी यहाँ से इस प्रकार के सिक्के मिले हैं।

चक्र है। गोल आकार का यह पतला सिक्का वजन में एक ग्राम है तथा इसका व्यास 1.4 सेंटीमीटर है। यह सिक्का द्वितीय तथा तृतीय कालों के मध्यवर्ती संचय से प्राप्त हुआ है। इस प्रकार के सिक्के मध्यप्रदेश के अन्य नगरों के नाम से भी ई० पू० तीसरी-दूसरी शताब्दियों में प्रचलित किये गये थे। ई० पू० की द्वितीय-प्रथम शताब्दियों में इनका प्रचलन समाप्त हो गया था। इन सिक्कों की विशेषता यह है कि जिस नगर राज्य में जो सिक्के बनाये जाते थे, वे उस नगर के भीतर ही प्रचलित होते थे।[1] इस प्रदेश के अन्य ऐसे नगर-राज्य एरण, उज्जैन, त्रिपुरी और माहिष्मती थे। यह सभी सिक्के आहत सिक्कों के साथ पाये जाते हैं।

यहाँ पर आंध्र भृत्यों का केवल एक ही सिक्का मिला है, जो गौतमी पुत्र यज्ञ श्रीशातकर्णी का है। यह सुराष्ट्र प्रकार की क्षत्रप शैली में बनाया गया था। उज्जैन तथा विदिशा से कुछ ताँबे के सिक्के मिले हैं, जिन पर ब्लक तथा दनु नाम है, जो शक राजाओं के प्रतीत होते है, जिन्होंने ई० पू० की दूसरी-प्रथम शताब्दी में मालवा में राज्य किया होगा।[2] रायपुर संग्रहालय में संरक्षित विदिशा नगर राज्य के सिक्कों पर वेदिसा तथा वेद्स लेख हैं।[3]

यहाँ व्यापारी गिल्ड (संघ) का एक सिक्का मिला कहा गया है, जिस पर ब्राह्मी अक्षर क न म है।[4] शिवगुप्त का भी एक ताँबे का सिक्का द्वितीय शताब्दी ई० पू० का अनुमाना गया है, जो यहीं से प्राप्त हुआ था (जे० एन० एस० आई० भाग 15, पृ० 104-105)। प्रथम शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी में एक ढले हुये ताँबे के सिक्के पर शिव मितस लिखा है। (इण्डियन आर्क्योलॉजी 1967-68-ए रिव्यू, पृ० 63)। डॉ० नागू, इन्दौर के व्यक्तिगत संग्रह में, विदिशा से प्राप्त सिक्का पुष्यमित्र शुंग का कहा गया है। किन्तु इस वंश के शासकों के सिक्कों के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० जायसवाल, प्रोफेसर तारापद भट्टाचार्य आदि का मत है[5] कि अनेक शुंग राजाओं ने सिक्के प्रचलित किये थे, जिनमें शुंग राज (सुगराजस), पुष्यमित्र (व्य मितस), अग्निमित्र, सुमित्र, ओद्रक, पुलिंदक, आदि विशेष उल्लेखनीय है। लेकिन मैं हरिकिशोर प्रसाद से सहमत हूँ कि यदि शुंग राजाओं ने कोई सिक्के प्रचलित किये होते तो मगध तथा विदिशा में इनके प्रमाण मिलने चाहिये थे।[6] यहाँ अभी तक उत्खनन से ऐसा कोई सिक्का प्राप्त नहीं हुआ है।

---

1. खरे, एम० डी०, मेमोइर्स आफ द डिपार्टमेंट आफ द ऐंशिएण्ट, इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्क्योलॉजी, बनारस, क्रमांक 2, 1968, पृ० 157-60.
2. इंडियन आर्क्योलॉजी—1963-64, ए रिव्यू, पृ० 84.
3. जर्नल आफ द न्यूमिस्मैटिक सोसायटी आफ इण्डिया, 23, पृ० 307, 308 और 505.
4. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1962-63, ए रिव्यू, पृ० 63.
5. जे० बी० ओ० आर० एस०, 1934, 20, पृ० 293, 294, 295, 309.
6. जर्नल आफ द न्यू० सो० आफ इण्डिया, 17, भाग 1, 1955, पृ० 24.

प्रो० वाजपेयी को विदिशा से जिन चार शासकों के सिक्के प्राप्त हुये हैं, उनके नाम हैं, शिवगुप्त, वलाक, प मु ग म तथा विशाखदत्त। प्रथम तीन सिक्के, सिक्का-लेखों के आधार पर द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई० पू० के अनुमाने गये हैं, चौथा सिक्का तृतीय शताब्दी ई० सन् का है।[1]

शक क्षत्रपों के सिक्कों में चाँदी के अधिक तथा ताँबे के कम मिले हैं। कनिंघम को यहाँ से इनके आठ सिक्के मिले थे। महाक्षत्रप वीरदाम व रुद्रसेन द्वितीय (तिथि 177) के सिक्के भण्डारकर को उपलब्ध हुये थे। वर्तमान उत्खनन से प्राप्त क्षत्रप के सिक्कों पर निम्नलिखित सिक्का-लेख पढ़े गये हैं :

1. राज्ञोमहाक्षत्रपस स्वाम (सहसन पुत्रस राज्ञो महा) क्षत्रपम स्वाम रुद्र सेनम। (रेप्सन, कोइंस आफ द आन्ध्र डाइनेस्टी, पृ० 191, फलक 17)। यह सिक्का रुद्रसेन चतुर्थ (304–310 ई० सन्) का है, जो टीला एक से उपलब्ध हुआ था।
2. राज्ञो महाक्षत्रपस (रु) द्र दाम पुत्रस राज्ञो महाक्षत्रपस रुद्रसिंहस....। (रेप्सन, केटालाग आफ द कोइंस आफ द आंध्र डाइनेस्टी, पृ० 92, क्र०सं० 317, फलक 11ए)। यह सिक्का टीला एक से उपलब्ध हुआ।
3. राज्ञो महा (क्ष त्र प स रुद्र दा) म्न पुत्रस राज्ञो महाक्षत्रपस रुद्रसिंहस। (रेप्सन, पृ०13, क्र०सं० 322, फलक 11)। यह सिक्का टीला 4 से मिला है तथा रुद्रसिंह का है।
4. राज्ञोक्षत्रपस रुद्रसिंह पु (त्रस) राज्ञोक्षत्रपस यशोदाम्न (रेप्सन, पृ० 175, क्र०सं० 794–811 फलक 17, 18) यह सिक्का यशोदामा द्वितीय का है तथा टीला एक से मिला।

अन्य सिक्कों पर लेख स्पष्ट नहीं हैं। यहाँ पर उज्जैन शाखा के शक शासक हमुगम तथा एक वलाक का सिक्का भी मिला है, जिनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। वीमाकेडफीस का एक सिक्का विदिशा से प्राप्त हुआ कहा गया है।[2] डॉ० नागू तथा मड़वैया के व्यक्तिगत संग्रहों में क्रमशः 200 और 25 क्षत्रप सिक्के यहीं से प्राप्त किये कहे गये हैं।

नागवंशीय सिक्कों में गनपतिनाग, भीमनाग तथा भवनाग के सिक्के यहाँ मिले हैं। गनपति तथा भीमनाग के सिक्के भण्डारकर को भी मिल चुके थे। नागवंशी सिक्के, वृपनाग के सिक्कों के आकार में गोल तथा छोटे और ताँबे के हैं। इनके सोने तथा चाँदी के सिक्के अभी तक कहीं नहीं मिले हैं।

नागवंश के संस्थापक वृपनाग के सिक्के ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनकी मुद्राओं पर नंदी का लांछन अन्य नाग मुद्राओं से भिन्न है, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, इनमें नंदीवामाभिमुख अथवा दक्षिणाभिमुख है। वृपनाग की मुद्राओं के दोनों पृष्ठों पर

1. जर्नल आफ द मध्यप्रदेश इतिहास परिपद, ग्रंथ 2, 1960, पृ० 21.
2. इण्डियन आर्क्योलॉजी—1967-68, ए रिव्यू, पृ० 63.

ने विदिशा कैम्प से बड़नेर अनुदान प्रचलित किया था। अतः इसमें कोई संदेह नही कि एक समय बेसनगर पर कलचुरियों का आधिपत्य था"।[1]

छठी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के कोई सिक्के यहाँ से प्राप्त नहीं हुये। हिज्री 1068 (1657-58) की एक मुहर मिली है जो नवरंग राय की है। यह मुगल दरबार (शाहजहाँ अथवा औरंगजेब) का कर्मचारी था।

मुगलों तथा भोपाल राज्य के पंद्रह सिक्कों का उद्वाचन डॉ० जेड० ए० देसाई अधीक्षक पुरातत्व (मुस्लिम पुरालेखवेत्ता) द्वारा किया गया था जिनके अनुसार तीन सिक्कों की मोटाई अकबर के सिक्कों के समान है किन्तु वे पूर्ण रूप से विरूपित है अतः उनकी पहचान कठिन है।[2]

दो सिक्कों पर अपूर्ण लेख है। वे अकबर (1556-1605) मालवा प्रकार के ताँबे के सिक्के प्रतीत होते है। उनमें से एक सम्भवतः सिरोंज की टकसाल का बना है, जहाँ अकबर की ताँबे की टकसाल थी। इस टकसाल के सिक्के अपेक्षाकृत कम पाये जाते हैं। तीसरा सिक्का भी अत्यधिक विरूपित है किन्तु दो अक्षरों फुल तथा मोटाई के आधार पर इसे भी अकबर का ही माना जा सकता है।

एक ताम्रिका सिक्का मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय (1759-1806) का है, जिस पर द्विपद-लेख है। यह सिक्का शाहआलम द्वितीय की प्रसिद्ध टकसाल ग्वालियर का बना है। किन्तु इस शासक के यहाँ पर बने ताँबे के सिक्कों का सर्वथा अभाव नहीं तो विरले अवश्य है। इनमें कुछ सिक्के दौलतराव सिंधिया (1794-1824) के है, जो ग्वालियर टकसाल के बने है। यदि यह पहचान सही मानी जाय तो ये ताँबे के सिक्के भी सुलेखन की दृष्टि से अतीव विरले हैं।

एक सिक्के के पृष्ठ भाग पर बने दो चिन्हों से प्रतीत होता है कि यह भोपाल की कुदसिया बेगम (1819-37) का है। इस प्रकार के सिक्कों के मुख्य भाग पर भोपाल की टकसाल का नाम लिखा रहता है, जो इस पर विरूपित है। पृष्ठभाग पर लिखे 16 के अंक बेगम के शासन वर्ष के हो सकते है। यह सिक्का असामान्य प्रकार का है। एक अन्य सिक्का सिकन्दर बेगम (1847-64) के शासन काल का पाव आना है, जो भोपाल टकसाल में 1269 हिज्री (1852-53 ई० स०) में बनाया गया था। इस प्रकार के सिक्के पहले भी मिल चुके है।

ग्वालियर राज्य के लगभग 22 सिक्के मिले है, जिनमें 14 सिक्के सं० 1926, एक सं० 1958, एक संवत 1961, पाँच सं० 1986 तथा एक सं० 1999 के हैं। इसी प्रकार 1/4 आना 1920 तथा 1936, 1/12 आना 1923 व 1926 के ब्रिटिश साम्राज्य के सिक्के है।

---

1. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1913-14, पृ० 214.
2. लेखक डॉ० देसाई के प्रति आभार प्रदर्शित करता है।

यहाँ यह स्मरण रहे कि गुप्तकाल के पश्चात् के सिक्के प्राय: हेलियोदोरस स्तंभ के क्षेत्र से ही उपलब्ध हुये है। साँची संग्रहालय में भी कुछ आहत, क्षत्रप व मुसलमान राजाओं के सिक्के सुरक्षित हैं।

लोहे की वस्तुएँ

उज्जैन, अतरंजीखेड़ा आदि के उत्खनन में जो लौह वस्तुएँ निम्नतम स्तरों से उपलब्ध हुई है उनके आधार पर लोहे के प्रयोग का प्रारम्भ 1100-1000 वर्ष ई० पू० का निर्धारित किया गया है। किन्तु इसके प्रयोग के प्रमाण वैदिक साहित्य में अनेक स्थानो पर प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में लोहे तथा हिरन के सींगों के बाणाग्र का वर्णन मिलता है।[1] अंकुश[2] व चाकू[3] का प्रयोग भी उस काल में होता था। यजुर्वेद में अनेक व्यवसायों के नामों में लौह प्रगालक, खड्ग तथा बाण बनाने वालों का भी नाम है।[4] संहिताओं में बाण, शर,[5] शायक[6] आदि का भी वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने पाँच प्रकार के बाणों के विषय में लिखा है[7]।

विदिशा से प्राप्त लोहे की वस्तुओं की संख्या दो सौ से भी अधिक है जिनमें कीलें, धुरियाँ, हँसिये, छड़ें, बाणाग्र, कुल्हाड़ी, छैनी, पच्चड़ आदि उल्लेखनीय हैं। बाणाग्रों की न्यूनता तथा कीलों व छुरियों के आधिक्य से स्पष्ट है कि विदिशा निवासी प्रारम्भ से ही शांतिप्रिय थे। भण्डारकर ने भी केवल तीन बाणाग्रों के चित्र दिये है।[8]

वर्तमान उत्खनन से काल दो (अ) के संचय में सत्रह लोहे की वस्तुये मिली है, जिनमें सबसे निम्नतम स्तर से ही लोहे के तीन ढेले पाये गये, दो ढेले बी० एस० एन० एक तथा एक बी० एस० एन० चार से। इस काल में एक भी बाणाग्र नहीं मिला। एक छड़, अंगूठी, छुरी व कीलें ही एकत्र किये गये।

लौह-चून की सर्वप्रथम उपलब्धि यहाँ पर लगभग आठवीं-सातवीं शताब्दी ई० पू० की मानी जानी चाहिये। काल दो (ब) में सबसे अधिक लोहे की वस्तुएँ प्राप्त हुई है तथा टीला चार से प्राप्त बाणाग्रों की संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक है। इससे यह अनुमान लगाया

---

1. ऋग्वेद, 6, 75, 14-17–देखिये शर्मा, गोवर्धनराय, एक्सकेवेशन्स एट कोशाम्बी, 1957-59, पृ० 67.
2. ,, 8, 17. 10.
3. ,, 10, 86. 18.
4. डॉ० जग्गी, ओ० पी०, डॉन आफ इण्डियन साइंस, पृ० 231-232, आत्माराम एण्ड सन्स 1969.
5. ऋग्वेद, 1, 119, 10; 10, 178.3; अथर्ववेद 1 3. 1; 8. 8. 4.
6. ऋग्वेद 2, 33.10
7. शाम शास्त्री, अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य पृ० 102.
8. भण्डारकर, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, फलक 63, 1913-14.

जा सकता है कि विदिशा के बाहर नदियों के उस पार भी जो आबादी कुछ दूर तक थी उसके लिये यह वांछित था कि वह वाणाग्रों का प्रयोग करें। यही नहीं, नवलखा टीला (वी० एस० एन० चार) के निवासियों को ही उत्तर पूर्व से आने वाले आक्रमणकारियों से सर्वप्रथम मुठभेड़ करनी पड़ती रही होगी।[1] तथा इनकी सहायता हेतु वी० एस० एन० एक स्थिति सुरक्षा दीवार से पत्थर के बड़े-बड़े गोले बरसाये जाते रहे होंगे। अन्य स्थलों से कीलों की संख्या सर्वाधिक रही तथा उनसे कुछ ही कम चाकू, छुरी की धारों की उपलब्धि है, जो अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में भी लोहे के व्यवसाय की उत्कर्षता का द्योतक हैं।

तृतीय काल में द्वितीय काल से अधिक वाणाग्र प्रयुक्त किये गये, यद्यपि अन्य वस्तुओं की भी संख्या में कोई विशेष कमी नहीं आई। इस कालकी विशेष उपलब्धियाँ एक हँसिया, एक कुल्हाड़ी, एक द्वार साकेट तथा एक भाला है। एक गोल वस्तु भी विशेष उल्लेखनीय है, जिसके प्रयोग के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कठिन है।

वी० एस० एन० तीन से लोहे के पच्चड़ों की संख्या सर्वाधिक हे। क्योंकि हेलियोदोरस मंदिर के सामने स्थापित आठ स्तम्भों के नीचे प्रायः लोहे के पच्चड़ों का ही प्रयोग किया गया था। सात गढ़ो में 47 पच्चड़ मिले है।

इसी प्रकार के दो पच्चड़ो को भण्डारकर ने हेलियोदारस स्तम्भ के नीचे से प्राप्त किया था। इनमें से एक सर रोबर्ट हैडफील्ड के पास परीक्षण हेतु भेजा गया था। उनके कथनानुसार इस नमूने पर इतनी जंग लगी हुई थी कि उसका उपयुक्त परीक्षण असम्भव सा ही था। किन्तु जव उन्होंने उसे आरी से काटा तो मौलिक धातु का अधिकांश भाग सुरक्षित था। उसमें 7 प्रतिशत कार्वन पाया गया जिससे स्पष्ट है कि यह निस्संदेह स्टील है जिसे गर्म करके पानी में डुबोने से दृढ़ किया जा सकता है। "यह प्रथम नमूना है, जो मुझे वास्तव में वहुत ही प्राचीन समय का प्राप्त हुआ है नथा जिसमें इतनी अधिक मात्रा में कार्बन है।"

इस स्थल से विभिन्न आकार तथा भार के पच्चड़ प्राप्त हुए है। सबसे बड़े पच्चड़ का भार लगभग एक किलोग्राम से कम नहीं है। दूसरी शताब्दी ई० पू० में इतना दृढ़ स्टील का वनाया जाना भारतीय तकनीकी ज्ञान का एक प्रशसनीय उदाहरण है।

लोहे के प्रयोग से शस्त्रों में भी दृढता आने लगी। महाभारत में इन शस्त्रों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है।[2] भारतवर्ष में आने के पूर्व आर्य लोग वाणों का प्रयोग करते थे। वाण के लिए विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्द इसकी पुष्टि करते हैं (संस्कृत—इसुः, अवेस्ता, इसु, ग्रीक-इओस)।

---

1. अथर्ववेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण में वाणाग्र के विभिन्न भागों के नाम दिये गये हैं, जिनमें पंख भी हैं। इसी प्रकार वाणाग्रों को विपाक्त बनाने की प्रथा ऋग्वेद के समय से प्रचलित रही है। विपाक्त वाणों को निष्फल बनाने की अनेक विधियाँ अथर्ववेद में दी गई है।
2. वन पर्व, 308, 11.

अग्नि पुराण के अनुसार बाण-धातु, सींग तथा काष्ठ के बनाये जाते थे। एरियन का मत है कि बाण तथा बाण-धारी समान लम्बाई के होते थे। शिव धनुर्वेद में बाणाग्रों के विभिन्न प्रकार दिये गये हैं, यथा आरामुख, गोपुच्छ, अर्धचन्द्र, सूचीमुख, मल्ल, वत्सदन्त, कर्णिका, काकटुण्ड आदि।[1] लोहे के बाण को नाराच कहते थे।[2] इन बाणों का प्रयोग विशेष रूप से हाथियों पर प्रहार करने के लिये होता था।[3] कनिंघम का मत है कि साँची उद्भृतों में बनाये बाणों की लम्बाई तीन से पाँच फीट होती थी।[4] लोहे के बाणों की 90 गज तथा अन्य बाणों की 120 गज की परिधि होती थी।

इसी प्रकार खड्ग के प्रयोग के प्रमाण महाभारत, अर्थशास्त्र आदि में विद्यमान हैं। एरियन ने कहा है कि भारतवर्ष में ई० पू० चौथी शताब्दी में छोटे और चौड़े खड्ग प्रयुक्त होते थे। कौटिल्य ने इसके तीन प्रकार बतलाये हैं। खड्ग को प्रायः वाम भाग में लटकाया जाता था, किन्तु भरहुत तथा साँची में वाम भुजा पर लटका हुआ देखा जाता है।

विदिशा के सामरिक महत्व के सम्बन्ध में तत्कालीन किले वन्दी पर भी कुछ चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा।

प्रागैतिहासिक युग में आदि मानव जंगली पशुओं से सुरक्षित रहने की आवश्यकता अनुभव करना सीख गया था। यही कारण है यूरोप की 'पीक सेंचुरीज' उसने बनाई। दो प्रकार के निवासों में से एक में वह प्राकृतिक गुहाओं के सम्मुख एक सुरक्षा भित्ति का निर्माण करने लगा था। ताम्र पाषाण कालीन युग में सुरक्षा हेतु अत्यन्त दृढ़ दुर्ग बनाये जाने लगे थे, जिनका लघु रूप उस काल के मंदिर समूह में देखा जा सकता था। मार्शल का मत है कि मोहनजोदड़ो की नगर दीवारें आप्लावित मिट्टी के नीचे दबी होंगी।[5] मजूमदार[6] ने सिंधु नदी तथा बलूचिस्तान की सीमा के मध्य में कुछ स्थानों पर विशाल दीवारे तथा बुर्जे देखकर यही अनुमान लगाया है कि वहाँ पर किले बनाये गये थे। इन सब प्रमाणों के आधार पर चक्रवर्ती का कथन है कि ताम्रपाषाण युगीन लोगों की किला-बन्दी के आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान था।

ऋग्वेद के विवरण से विदित होता है कि किलेबन्दी की कला का प्रादुर्भाव आर्यों के भारत में आने के पूर्व ही हो चुका था। दस्यु लोग दुर्ग रचना में अत्यन्त प्रवीण कहे

---

1. चक्रवर्ती, पी० सी० : द आर्ट आफ वार इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, ओरिएण्टल पब्लिशर्स, देहली 1972.
2. नाराच शब्द का प्रयोग जातक, महाभारत, अर्थशास्त्र, अग्निपुराण में मिलता है।
3. भीष्मपर्व, 57, 13; कर्ण पर्व, 22, 5.
4. भिलसा टोप्स; पृ० 216.
5. मार्शल, सर जान : मोहेनजोदारो एण्ड इण्डस सिविलीजेशन, ग्रंथ 1.
6. मेमोइर्स आफ द आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया न० 48, पृ० 89-90.

गये हैं।[1] उनके पास लौह की गढ़ी भी होती थी।[2] इसमें प्राय. काष्ठ तथा दृढ़ीभूत मिट्टी का प्रयोग होता था, जिसके चारों ओर एक खाई रहती थी।[3]

उत्तर वैदिक काल में यह कला और भी सुस्पष्ट हो गई। जातकों में नगरों को विशाल दीवारों तथा परकोटे के साथ पुश्ता (बट्रेस), बुर्ज तथा अतिविशाल द्वारों से सुरक्षित रखा जाता था। उदाहरणार्थ वैशाली, मिथिला व पोताली नगरों का उल्लेख मिलता है।[4] महा उम्मग जातक में परकोटे तथा बुर्जों के अतिरिक्त 3 खाइयों का विवरण है। एक खाई मे पानी, दूसरी में कीचड होता था तथा तीसरी सूखी बनाई जाती थी।[5]

लगभग छठी शताब्दी ईसा पू० की किलेबंदी में जो राजगिर नगर के लिये की गई थी, दो विशाल दीवारे बनाई गई थी।[6] दीवारों के अग्र भाग में अनगढ़ पत्थर लगाये जाते थे, जिनकी लम्बाई तीन से पाँच फीट होती थी तथा उनके क्रोड़ में गढ़े हुये छोटे पत्थरों को दृढ़तापूर्वक लगाया गया था। कहीं भी गारे के प्रयोग के प्रमाण नहीं मिले।[7]

चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के किलों के विषय में कर्टियस का विवरण मिलता है। एरियन[8] भी अनेक सुरक्षित नगरों का वर्णन करता है। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखा है कि वहाँ काष्ठ प्राचीर में 64 द्वार तथा 570 मीनारें थीं। इस काष्ठ प्राचीर में धनुष चलाने के लिये अनेक विवरों का भी आयोजन था। बाहर की खाई में सोन नदी का पानी भरा रहता था।

एरियन का कथन है कि जो नगर सरिताओं अथवा समुद्र के निकट थे, वे लकड़ी के बनाये जाते थे। किन्तु जो नगर इनसे दूर होते थे उन्हें ईंट तथा चूने से बनाया जाता था। इन दिनों दुर्ग नगर के एक ऐसे कोने में होता था, जो विशेष रूप से सुरक्षित हो तथा नगर की चहारदीवारी और दुर्ग के बाहरी भाग की दीवार एक ही होती थी।[9] विदिशा में टीले एक पर अनावृत दीवार इसी प्रकार दुर्ग का एक अंग प्रतीत होती है।

अर्थशास्त्र में दुर्ग को राज्य के सात अंगीभूत तत्वों में से एक कहा गया है। यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण न होने पर भी, कोष, सेना आदि से महत्वपूर्ण है।[10] कौटिल्य ने

---

1. ऋग्वेद 1, 130, 7, 2, 19 : 6 : 2, 14, 6, 6, 26, 5.
2. ,, 2, 205.
3. वैदिक इंडेक्स 1,539.
4. कावेल, दजातक, 1, 316.
5 रीस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 63.
6 देखिये, घोष, ए०; द० सिटी इन अर्ली हिस्टोरिकल इण्डिया।
7. रिपोर्ट आफ द आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1909–10, पृ० 88–89.
8. मैक्रिंडल : इण्डिया एण्ड इट्स इनवेजन वाई अलेक्जेंडर, पृ० 62.
9. चक्रवर्ती, पूर्वनिर्देशित।
10. कौटिल्य : ग्रंथ 6, अध्याय 1.

दुर्गों के चार मुख्य प्रकार पार्वत, औदक, धान्वन तथा वन दुर्ग किये हैं, जिनमें पार्वत को सबसे अधिक अविजेय कहा है। उसने शासक से यह अपेक्षा की है कि वह अपने राज्य की सीमा के चारों ओर सुरक्षात्मक प्रबन्ध करे, जिसमें सरिता के तट अथवा संगम पर, या निरंतर प्रवाह से पूर्ण तालाब के समीपवर्ती स्थान का विशेष उल्लेख है। दुर्ग के चारों ओर तीन खाइयों का निर्माण करना सुरक्षा का एक आवश्यक अंग माना गया है। दुर्ग के भीतर मार्ग तथा इमारतों के अतिरिक्त शस्त्रों के लिये कुल्य की व्यवस्था का विवरण भी मिलता है।[1]

यद्यपि बहुत समय के लिये दुर्ग निर्माण कला में कोई विशेष अंतर नहीं आया, शासकों की प्रवृत्ति पहाड़ों पर दुर्ग बनाने की (पार्वत) बलिष्ठ होती गई।

युद्ध के समय प्रहार कौशल में अग्नि के प्रयोग का विशेष स्थान था।[2] किन्तु अन्य साधनों की अपेक्षा अग्नि के इस प्रयोग को हेय कहा गया है, क्योंकि इसके द्वारा सभी कुछ विनष्ट हो जाने की संभावना रही है।

शत्रु के आक्रमण का सामना करने के लिये भी अनेक सम्भव प्रयत्न करने का विवरण कौटिल्य ने किया है।

1. अग्नि से बचने के लिये छप्पर के ऊपर गारे का पलस्तर लगाना उपयुक्त होता है।
2. पानी की नहरों को नष्ट या दूषित कर देना चाहिये।
3. दुर्ग के चारों ओर गुप्त दीवारें, गड्ढे तथा "वार्ब्ड वाइर" का प्रयोग आवश्यक है।
4. भारी अचल मशीनें, जो यांत्रिक शक्ति से कार्य करने वाली है, द्वारों तथा दीवारों के ऊपर स्थित करना चाहिये।[3]

उपर्युक्त सदर्भ मे विदिशा नगर की सुरक्षा के उपयुक्त उपाय तत्कालीन दुर्ग कला को दृष्टि में रखते हुये किये गये प्रतीत होते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, इसके तीन ओर सरिताओं से प्राकृतिक संरक्षण था। संगम स्थित विशाल दीवार का निर्माण सुरक्षा पंक्ति को और अधिक दृढ़ करने के प्रयोजन से ही किया गया था, जिसके भीतर राजमहल, सेना, खाद्य सामग्री आदि की व्यवस्था थी। इस दीवार पर पत्थर के बड़े-बड़े गोलों की उपलब्धि अचल मशीनों के प्रयोग का प्रमाण है। जिस ओर सरितायें नहीं है वहाँ दुर्ग की दीवार के अतिरिक्त, उसके बाहरी ओर बड़ी भारी खाई के प्रमाण विद्यमान हैं। उत्खनन अधिक समय तक न चल सकने के कारण इस नगर के प्रवेश द्वारों के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है, यद्यपि सम्भावना है कि एक द्वार विदिशा-उदयगिरि मार्ग

---

1. चक्रवर्ती, पूर्वनिर्देशित, पृ० 137.
2. कौटिल्य (अनुवाद), पृ० 474.
3. कनिंघम : आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, ग्रंथ 10, पृ० 36.

द्वारा काटी गई दुर्ग की दीवार के समीप ही होना चाहिए। कनिंघम के शब्दों में "यह स्थान बहुत ही दृढ़ था क्योंकि वेत्रवती नदी केवल एक ही स्थान पर सुगाध है, जहाँ विदिशा-ग्वालियर मार्ग है। पश्चिम की ओर भी, विशाल प्राचीर भित्ति जिसे एक खाई द्वारा दृढ़ किया गया है, दोनों सरिताओं की मध्यस्थ भूमि पर है। यह प्राचीर भित्ति बाहरी भाग से प्रायः तीस फीट ऊँचाई पर है, किन्तु उत्तर-पश्चिमी बुर्ज 45 से 50 फीट ऊँची है, जहाँ से उर्ध्वगामी वेसनदी को शहर के ऊपर लगभग आधे मील की दूरी तक नियंत्रित रखा जा सकता है।

यदि ईसा पूर्व की चौथी-तीसरी शताब्दी में ही इतनी दृढ़ सुरक्षा के उपाय कर लिये गये होते तो अग्नि का प्रकोप, जो संभवतः किसी आक्रमण का ही परिणाम था, अवरुद्ध किया जा सकता था। इस अग्निकाण्ड के होते ही शुंग काल में सुरक्षा-भित्ति का निर्माण किया गया।

□

5

अभिलेख

विदिशा, साँची, सुनारी, भोजपुर, अंधेर, बदोह-पठारी, ग्यारसपुर, उदयपुर आदि स्थानों पर जो वर्तमान विदिशा तथा रायसेन जिलों के अंतर्गत है और प्राचीन विदिशा के अंग थे, पाये गये शिलालेखों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

साँची

साँची में पाये गये सभी अभिलेखों की चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है,[1] क्योंकि इनकी संख्या सैकड़ों में है। 827 वृतानुष्ठित अभिलेख मार्शल ने ही लिपिबद्ध किये हैं। अतः विशेष महत्वपूर्ण अभिलेखों का उल्लेख वांछनीय है।

1. अशोक स्तम्भ अभिलेख : अशोक के छै लघु स्तम्भ लेखों में तीन पर, जिनमें एक यह स्तम्भ भी है, संघ भेद सम्बन्धी दण्ड का आदेश दिया गया है। जो संघ को भंग करेगा, चाहे भिक्षु हो या भिक्षुणी उसे श्वेत वस्त्र पहिनाये जायेंगे तथा संघ से निष्कासित किया जायेगा। अशोक ने अपनी इच्छा की कि संघ समग्र तथा चिर स्थायी हो।[2]

2. स्तूप एक के दक्षिण तोरण द्वार पर एक लेख से ज्ञात होता है कि विदिशा के हाथी-दाँत के कारीगरों द्वारा यह स्तम्भ बनाया गया था।[3]

3. इसी द्वार पर एक अन्य लेख है, जिसे सातवाहन शासक सातकर्णी के शासनकाल में उत्कीर्ण किया गया था। इसमें सातकर्णी के एक अध्यक्ष आनंद द्वारा दान देने का उल्लेख है

---

1. देखिये, साँची संग्रहालय का केटालाग, पृ० 7-13। कनिंघम, भिलसाटोप्स, पृ० 150-172, 180-183, 191-192। मार्शल, सर जान, द मान्युमेंट्स आफ साँची, ग्रंथ 3, फलक 128.
2. डॉ० पाण्डे, राजबली, अशोक कालीन अभिलेख--डॉ० बरुआ, बेनीमाधव, अशोक एण्ड हिज इंस्क्रिप्शन्स।
3. कनिंघम, भिलसा टोप्स, फलक 12.

4. वशिष्ख का 106 ई० सन् में उत्कीर्ण लेख (सक 28) धर्म देव विहार में मधुरिका द्वारा भगवत शाक्य मुनि की मूर्ति प्रतिष्ठापन का वर्णन करता है।[1]
5. महाराजाधिराज चंद्रगुप्त के राज्यकाल (गुप्त संवत 93) का एक लेख है, जिसमें एक ईश्वरवासक ग्राम तथा 25 दीनारों का काकनाद बोट (साँची) के बौद्ध संघ को दान दिये जाने का विवरण है। उन्दान के पुत्र आम्रकार्दव द्वारा, जो कि अनेक युद्धों की विजय से प्रसिद्धि पा चुका था तथा चंद्रगुप्त का अनुजीवी था, यह दान दिया गया था[2]। अंधेर-विदिशा से $10\frac{1}{2}$ मील दक्षिण पूर्व में स्थित है, जहाँ से दो मील की दूरी पर बौद्ध अवशेष पाये गये हैं। 500 फीट की ऊँचाई से यहाँ का दृश्य बड़ा ही आकर्षक है तथा उत्तर की ओर विदिशा जिले का सम्पूर्ण भाग ग्यारसपुर तक दिखाई देता है।[3]

यहाँ पर स्तूप एक के स्तम्भ पर "धम सिवसमातु-दानम्" (धर्म शिव की माता द्वारा दिया गया दान), स्तूप दो से उपलब्ध मंजूषा के ढक्कन पर "सुपरिमस वाछिपुतस गोतिपुत अते वासिनो" तथा मैलखड़ी के घड़े के किनारे पर "सुपरिमस मोगलीपुतस गोतिपुत्र अतेवासिनो" लेख उत्कीर्ण है। स्तूप तीन से भी एक मंजूषा के ढक्कन के दोनों ओर "सुपरिसस हारिति पुतस" तथा "असदेवस दानस" लेख है।[4] तोरन्खेर (रायसेन) में द्वितीय शताब्दी ई० पू० का "धम सवस मातुदानम्" लेख है।[5]

सतधारा में स्तूप दो से प्राप्त मंजूषाओं के ढक्कनों पर "सारिपुतस" तथा "महामोगलानस" लेख है।[6] भोजपुर से प्राप्त बुद्ध मूर्ति के नीचे सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० सन् का एक लेख है :

"ये धर्म हेतु प्रभव, हेतुन तेषान तथा गतो
ह्वदत तेषाम् च यो निरोध, एवम् वादि महाश्रमानन"

(प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में एक कारण है, जिसकी तथागत ने व्याख्या की है। उनके विनाश का कारण भी महायोगी ने स्पष्ट किया है।)[7] यहीं से स्तूप सात में एक मिट्टी के पात्र पर "उपाहित-कस" (उपाहितक के अवशेष) तथा एक अन्य पर "पतितो" (भ्रष्ट हुआ) उत्कीर्ण है।[8]

---

1. मार्शल, पूर्वनिर्देशित, ग्रंथ 1, 385.
2. वही, ग्रंथ 1, पृ० 388-389. फ्लीट-कोरपोरस इंसक्रिप्शनम् इण्डीकेरम, 3, पृ० 31. सरकार, पूर्वनिर्देशित, पृ० 280-281.
3. कनिंघम, भिल्सा टोप्स (नवीन संस्करण), पृ० 221.
4. वही, पृ० 222, 224-226.
5. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1959-60, ए रिव्यू, पृ० 56.
6. कनिंघम, पूर्वनिर्देशित, पृ० 209.
7. कनिंघम, वही, पृ० 212.
8. वही, पृ० 216-217.

सोनारी स्तूप की वेदिका पर निम्नलिखित लेख हैं :

"आय प्वूसनकस अतेवासिनो सघ रखितस दानम्"

(आर्य प्रसन्न के शिष्य संघरक्षित द्वारा दान)। साँची के एक लेख के अनुसार आर्य प्रसन्नक भिक्षु द्वारा एक दान किया गया है। सम्भवतः सुनारी का गुरु तथा साँची का भिक्षु आर्य प्रसन्न एक ही व्यक्ति है।[1]

साँची स्तूप में विदिशा सम्बन्धित निम्नलिखित अन्य लेख है :

1. "वेदिसा अरहत वखित (स) दानम" -नीचे की वेदिका पर (विदिशा के अरहत रखिता द्वारा दिया गया दान)।
2. "यखिय भिछुनिये वेदिसा दानम्"[2]-सूची के वाहर (विदिशा की भिक्षुणी यक्षी का दिया दान)
3. एक उष्णीप के पत्थर के वाहर "(न) दुतराय दानम् व (`) दिसिकाय भिख-ीय"[4] (विदिशा की एक भिक्षुणी नंदोत्तरा द्वारा दान)।
4. एक रेल स्तम्भ के वाहर :-"वरुलमिसान गोथिया दान वेदिसातो"[5] (विदिशा की गोष्ठी वहलमिसस द्वारा दान)।
5. एक उष्णीप के भीतरी भाग पर "ओदतिकये मिछुनि (ये) वेदिसिकाया दानम्"[6] (विदिशा की अवदातिका भिक्षुणी द्वारा दान)।
6. एक सूची के वाह्य भाग पर "गोदय मिछ (ु) निय वेदिसिकाय दा (न) म्"[7] (विदिशा की भिक्षुणी मे दिका द्वारा दान)
7. एक उष्णीप के वाह्य भाग पर "वेदिसा म (ो) हिकाये मिछुनिये दानम्"[8] (विदिशा की भिक्षुणी मोहिका द्वारा दान)।
8. एक सूची के वाह्य भाग पर "वेदिसिकाय पुसरखितस असवरिकस प (ज) वति (य) नागदतय दानम्"[9] (विदिशा के अश्वरीक पुष्यरक्षित की पत्नी नागदत्ता द्वारा दान)।
9. एक सूची के वाह्य भाग पर "वेदिसिकाय व (ि) जनीय भि (छु) नीयं दानम्"[10] (विदिशा की वज्रिनी भिक्षुणी द्वारा दान)।

---

1. वही, पृ० 201.
2. मार्शल, पूर्वनिर्देशित, ग्रंथ 1, फलक 128
3. वही, फलक 130-125.
4. वही, फलक 130, 163.
5. वही, फलक 130, 167.
6. वही, फलक 131, 200.
7. वही, फलक 131, 234.
8. वही, फलक 132, 311.
9. वही, फलक 132, 314.
10. वही, फलक 133, 337.

10. एक सूची के बाह्य भाग पर "वदेस दतस कलबदत्त दानम्"[1] (विदिशा के दत्त कलवड द्वारा दान) । इसी व्यक्ति का मंदिर सं० 40 के एक स्तम्भ पर भी लेख है।

11. एक सूची के बाह्य भाग पर "वेदिस दतस मलविदस दानम्"[2] (विदिशा के दत्त कलविद द्वारा दान) ।

12. एक सूची के बाह्य भाग पर "(वे) दस दतस कलवदस दानम्"[3] (विदिशा के दत्त कलवदस द्वारा दान) ।

13. एक उष्णीष पर "ए (ि) स (ि) र य (ा) ब (ॅ) (ि) द सिकाय भिखुनिय दानम्"[4] (विदिशा की एक भिक्षुणी श्री द्वारा दान) ।

14. उत्तरीतोरण द्वार के ऊपर पश्चिमाभिमुख हाथी के आगे के पैर पर (दूसरी तथा तीसरे पादांग के मध्य में) ।

"वे दि (सि की ?) दा-म्"[5] (वेदिसिकम् द्वारा दान) ।

15. दक्षिण तोरण द्वार बाम स्तम्भ पर "वेदिसाकेहि दंत कारेहि रूपकम्मम कतम"[6] (विदिशा के हाथी दाँत का काम करने वालों द्वारा) ।

16. फर्श पर लगे पत्थर पर "वेदिसिकाय भिखुनिय ग........"[7] (विदिशा की भिक्षुणी.......द्वारा दान) ।

17. मंदिर 40 के स्तम्भ पर "दत (क) लवद्रस दानम्"[8]

(दत्त (क) लविड द्वारा दान) ।

18. मंदिर 40 के एक स्तम्भ पर :—
'वेदिस रे........(न) दुतरा (य)"
(विदिशा के नंदुतर द्वारा दान) भरहुत में विदिशा सम्बन्धी लेख[9]

(1) द्वारतोरण के निकट रेलिंग के प्रथम स्तम्भ पर "वेदिस कपदेवय रेवतीमित भरियय पधमो थमो दानम्"
(प्रथम स्तम्भ-विदिशा के रेवती मित्र की पत्नी कपदेवी द्वारा दान)

---

1. वही, फलक 133, 346.
2. वही, फलक 133, 347.
3. वही, फलक 133, 348.
4. वही, फलक 133, 26.
5. वही, फलक 133.
6. वही, फलक 134.
7. वही, फलक 134.
8. वही, फलक 138, 15.
9. बरुआ एण्ड सिन्हा, भरहुत इंस्क्रिप्शन्स ।

(2) "वेदिस फागुदेवस दानम्" (विदिशा के फाल्गुदेव द्वारा दान)।
(3) "वेदिस अनुराधाय दानम्" (विदिशा के अनुराधा द्वारा दान)।
(4) "वेदिस अयमय दानम्" (विदिशा के आर्यम (?) द्वारा दान)।
(5) "वेदिसतों भूतरखितस दानम्" (विदिशा के भूतरक्षित द्वारा दान)।
(6) "वेदिस वसिठीय वेल्मि (त–भार्यय दानम्)"

(विदिशा के वेनिमित्र की पत्नी वासिष्ठी द्वारा दान)।

कनिंघम को विदिशा से निम्नलिखित अभिलेख हुये हैं :

(1) एक वक उष्णीप पर :

"पातमानस भिखुनो कुमुदास च भिखुनोदानम्"[1]
(भिक्षु पातमान तथा कुमुद द्वारा दान)

(2) वेदिका स्तम्भ पर :—"अजमितन" (अजमित्रस्य)
(3) सूची पर :—"धमगिरिनो भिखुनो दा (नम्)"[2]

(भिक्षु धर्म गिरि द्वारा दान)

(4) सूची पर :—"नदिकाये पूवजितये दा (नम्)"[3]

(नंदिका के पुरोवाजिल द्वारा दान)

लेख द्वारा एकत्रित अभिलेख :

(1) आंशिक उष्णीप के एक भाग पर :

"असभायदानम्" (असभ द्वारा दान) मौर्यकालीन ब्राह्मी

(2) "असदुवस दानम्" (असदेव द्वारा) मौर्यकालीन
(3) "वलगुत सदा (नम्)" (वाल्गुप्त द्वारा)
(4) अष्टभुजी स्तम्भ पर :—[4]

भुज 1 गोतमपुतेन
भुज 2 भगवते (न)
भुज 3.........................
भुज 4 (भ) गवतो प्रसादोत
भुज 5 मस गरुड़ध्वजे कारित (ˋ)

---

1. एपीग्राफिया एण्डिका, ग्रंथ 10, पृ० 671. (वत या वव) मानस भिखुनो तथा सोम-दास—भिखुनो दानं।
2. वही, पृ० 673.
3. वही, पृ० 674 (नदिकाय प्रवजित (ता) दानम्।
4. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर राज्य के अभिलेख तथा एपीग्राफिया इण्डिका, पृ० 669.

भुज 6......................

भुज 7 (द्व) दस वस भिसित (`)

भुज 8 भागवते म (हा रा जे)। भण्डारकर के अनुसार इनका अर्थ है : गौतमी के पुत्र भागवत द्वारा भागवन (वासुदेव) के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर के लिए गरुड़ध्वज स्थापित किया, जब महाराज भागवत का राज्याभिषेक हुये बारह वर्ष हो चुके थे।

हेलियोदोरस स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख (डॉ० ब्लोक द्वारा प्रतिलिपि तथा अनुवाद)

(अ) पंक्ति 1. देवदेवस वा (सुदे) वस गरुडध्वजो अयम्

2. कारितो.......हेलियोदोरेन भग्ग

3. वतेन दियम पुत्रेण तख्खसिलाकेन

4. येव दामतेन आगतेन महाराजस

5. अनितल्किकितस उपतासकस रनो

6. क (ो) सिपुतस भगाभद्र सत्रातारस

7. वसेन, च (म) ददसेन राजेन वध मानस

(ब) पंक्ति 1. तिम्नन अभुत--पादनम.......अनुठित (म)

2. नेयति व दम (ो) चाग अप्रमाद।

देवों के देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज, तक्षशिला से दियोन के पुत्र हेलियोदोरस, एक भागवत, के अनुरोध पर बनाया गया, जो अपनी इन्द्रियों को निरुद्ध कर चमददसेन के साथ यहाँ आया। कौत्सगोत्र के स्त्री पुत्र, वंश के राजा भागभद्र, रक्षक, यश में सदैव वृद्धि होती है। महाराज अंताइल्कीदस का दास मूलभूत तीन गुणों की प्रतिज्ञा करता है, जिनका अनुकरण करने से अमरत्व, स्वनियन्त्रण, उदारता तथा विनम्रता प्राप्त होती है।

डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार[1] उसकी प्रतिलिपि तथा संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है :

भाग 1 1. (दे) वदेवस वा (सुदे) वस गरुड़ध्वजे अयं

2. कारिते इ (अ) हेल्यिोदोरेण भाग

3. वतेन दियस पुत्रेण तख्खसिल्लाकेन

4. योन दूतेन (आ) गतेन महाराजस

5. अंतलिकितस उप (˙) ता सकासं रजो

6. कासी पु(त्र) स (भ) ग भद्र स त्रातारस

7. वसेन च (तु) दसेन राजेन वधमानस (।।)

---

1. सरकार, सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० 88-89.
देखिये, फोगेल : आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, 1908-09, पृ० 126, रेप्सन--एंशिएण्ट इण्डिया, पृ० 157, ल्यूडर्स लिस्ट-संख्या 669.

भाग 2. पंक्ति 1. त्रिनि अमुत–पदानि (इ अ) (सु) अनुठितानि
पंक्ति 2 नेयंति (स्वगं) दम चाग अप्रमाद (।।)[1]
संस्कृत रूप :

भाग 1. देवदेवस्य वासुदेवस्य गरुड़ध्वजः (शिखरस्थगरुणमूर्ति सनाथ : शिलामय ध्वज स्तम्भः) अयं कारितः इह हेलियोदोरेण भागवतेन (वैष्णवधमन्तिरगत भागवत मार्गानुसारिणा) दियस्य पुत्रेण ताक्षशिलाकेन (तक्षशिला निवासिना) यवन दूतेन आगतेन महाराजस्य अंतलिकितस्य उपान्तात् (समीपात) सकाशं राज्ञः काशी–पुत्रस्य (काश–गोत्रीया०) भागभद्रस्य त्रातुः वर्षेण चतुर्दशेन राज्येन (च) वर्धमानस्य ।

भाग 2. त्रीणि अमृत-पदानि इह स्वनुष्ठितानि नयन्ति स्वर्गदमः त्याग. अप्रमादः (च)

डॉ० सरकार का मत है कि भाग का साम्य भद्रक से किया जा सकता है, जो भागवत पुराण के अनुसार पाँचवाँ शुंग शासक था। त्रातारस यवन शब्द सोतेरोस (Soteros) का अनुवाद है जो भारतीय यवन सिक्कों पर भी पाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि सम्भवतः हेलियोदोरस ने स्वयं ही इसका पाण्डुलेख बनाया हो।

दिमित्रियस तथा निकुंभ की मुद्राओं तथा उन पर उत्कीर्ण लेखों के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। एक समतल पत्थर पर "भिखुनीया" (भिक्षुणी द्वारा) लेख भी मिला है।

दुर्जनपुर (विदिशा) से प्राप्त तीन जैन प्रतिमाओं पर रामगुप्त के अभिलेखों के विषय में भी चर्चा की जा चुकी है। श्री गाई के अनुसार मूर्ति 'अ' पर निम्नलिखित लेख है :

(अ) 1. भगवतो रहृत : (I) चंद्रप्रभस्य प्रतिमे = यम् कारिता
2. हाराजाधिराज-श्री–रामगुप्तेन उपदेशात् =पानिपाम
3. त्रिक–चद्रक्षमाचार्य–क्षमण–श्रमण–प्रशिष्य–आचार्य
4. सर्पसेन–क्षपण–शिष्यस्य गोलक्यान्त्या-सत्पुत्रस्य चेलुक्षमणस्य=एति ।

(ब) 1. भगवतो = रहतः (I) पुष्पदन्तस्य प्रतिमे=यम् कारिताम
2. हाराजाधिराज–श्री–रामगुप्तेन उपदेशात् =पानिपात्रिक
3. चंद्रक्षम (णाचा) र्य (क्षमण)–श्रमण–प्रशि (ष्य)
4. ....ति

(स) 1. भगव (तो)=रह (तः) (चंद्र) प्रभस्य प्रतिमे = यम् (का) रिता महा (राजा) धिरा (ज)—
2. श्री–(राम गुप्ते) न उ (पदेशात्=पा) णि–(पात्रि)
3. ....
4. ....

---

1. द्विवेदी, हरिहर निवास, पूर्वनिर्देशित, 'त्रीनि असुत पदानि (सु) अनुठितानि न यंति (स्वग्गं) दमा चाग अपमाद" ।

(अ) लेख में महाराजाधिराज रामगुप्त द्वारा चंद्रप्रभा की तथा (ब) में पुष्पदंत की मूर्ति बनवाने का उल्लेख है। तृतीय (स) में भी चंद्रप्रभा ही लिखा प्रतीत होता है। साँची स्तूप से चंद्रगुप्त द्वितीय तथा एरण से समुद्र गुप्त के लेखों के अक्षरों से साम्यता होने के कारण इन्हें चतुर्थ शताब्दी का माना गया है।[1]

विदिशा से एक अन्य लेख में जो गुप्तकाल का है, एक तालाव का वर्णन है, जो अनेक वृक्ष राशि से सुशोभित था।[2]

उदयगिरि (विदिशा) के अभिलेख :—

गुफा के द्वार के दाहिनी ओर :—

प्रथम लेख पंक्ति 1. सिद्धम् ।। संवत्सरे 80 (+) 2 आपाढ़—मास—शुक्ले (क्लै) काद-श्याम परम भट्टारक महाराजाधि (राज) श्री चंद्र (गु) प्त—पादा-नुध्यातस्य।

पंक्ति 2. महाराज—छगलग—पौत्रस्य महाराज—विष्णुदास—पुत्रस्य सनकानिकस्य महा (राज)—लस्यायं दे (यधर्म्म): ।[3]

गुप्त संवत् 82, श्रावण के शुक्ल पक्ष की एकादसी को छगलग के पौत्र विष्णुदास के पुत्र सनकानीक सामंत ने चंद्रगुप्त के चरणों की कृपा से (चरणों का ध्यान करके) दान किया। चंद्रगुप्त द्वितीय का यह सर्व प्रथम अभिलेख है (401 इ० स०)।

तवा गुफा के भीतर की दीवार पर :—[4]

द्वितीय लेख पंक्ति 1. सिद्धम (।।)

यद (—) तर्ज्जोतिर कर्क्काभमुर्ण्या (म्भा)····
····व्यापि चंद्रगुप्ताख्यमद्भुतम् (।।) (1)

पंक्ति 2. विक्रमावक्रयंक्रीता दास्य—न्यग्नभूत—पार्थिव (ा) (।)
····(स) न—संरक्ता वम्र्म····(।।) (2)

पंक्ति 3. तस्यराजाधिराजर्पेरचि (न्त्यो) (ज्वल—क) (र्म्म)णः (।)
अन्वयप्राप्त—साचिव्यो व्या (पृत-संधि-वि) ग्रह (:) (।।) (3)

---

1. जर्नल आफ ओरियेंटल इंस्टीट्यूट, भाग 18, अंक 3, पृ० 247—52.
2. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट संवत् 2000.
3. सरकार दिनेशचंद्र : पूर्वनिर्देशित, पृ० 279. देखिये—कनिंघम, भिलसा टौप्स, पृ० 96 (नवीन संस्करण).
4. सरकार : वही, पृ० 280.
 देखिये-कनिंघम, आवर्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट ग्रंथ, 10, पृ० 51 (नवीन संस्करण) ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट संवत् 1974.

पंक्ति 4. कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया (।)
शब्दार्थ-न्याय-लोकज्ञ कवि पाटलिपुत्रकः (।।) (4)

पंक्ति 5. कृत्स्न-पृथ्वी-जयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः (।)
भक्तया भगवतश्शम्भो र्गुहामेतामकारयत (।।) (5)

कनिंघम के राजा शिवप्रसाद द्वारा अनुवादित उद्धरण :

1. सूर्य के समान पूजनीय, चंद्रगुप्त.अंतःकरण का प्रकाश व्याप्त करते हुये।
2. जिसके साथ........
3. महान राजाओं में संत के समान, अपने पूर्वजों की परिपाटी में मंत्री हुआ।
4. कुत्स ज्ञाति का साव, जिसका पैतृक नाम वीर सेन था। वह कवि था तथा पाटलिपुत्र का निवासी था तथा व्याकरण, नियम (कानून) व तर्कशास्त्र का ज्ञाता था।
5. अपने राजा के साथ यहाँ आकर (राजा) सम्पूर्ण विश्व विजय का इच्छुक था, अपने भगवान शम्भु से प्रेरित हो, उसने इस गुफा का निर्माण कराया।

तृतीय लेख—जैन गुफा (संख्या 20) में आठ पंक्तियों का लेख :

1. नमः सिद्धेभ्याः श्री संयुतानों गुनतो यदिनम् गुप्तानवयानाम् नृप सत्तमानाम्।
2. राज्ञे कुलस्याभिवि वर्धमानेशर्भिर्य्युते वर्ष साते थ मासे सुकार्तिके बहुल दिनेथ पंचमे।
3. गुहमुखेस्फट विकटेनकात मिमौ जित द्विषो जिनवर पार्श्व साम्यनेकाम् जिनाकति समदमबान।
4. चिकर आचार्य भद्रान्वय भूषणस्य शिष्योप्यासाचार्य कुलेनग्गतस्य आचार्य गोपा।
5. मुनेस्सतशि पद्मावत वस्व पतेरभदीय पेरे राजेयस्य रिपुघ्ना मणिनस्य संघ।
6. लस्यत्यभिवि श्रुतोभ्रिविश्व संज्ञाय संगकार नामे शब्दितो विधान युक्तम्यातिमा।
7. मस्थिताः सद थरानम् सद्दसे कुजुनाम् उदागिरि सादेशावरे प्रसूताः।
8. क्ष्याय कर्म्कारिगणस्यधिमा यदत्र पुण्यम् तदपास सर्ज्जा।

राजा शिव प्रसाद द्वारा अनुवाद निम्नलिखित है :

सिद्धों को अभिवादन ! पुण्यों के भण्डार यशस्वी गुप्तवंश में अच्छे राजा थे। उनके समृद्धशाली राज्यकाल में, 106 गुप्तसंवत्, कार्तिक के शुक्लपक्ष की पंचमी को पार्श्वनाथ की शांत, भव्य विशाल, प्रतिमा (शंकर) द्वारा गुफा के मुख-विवर पर स्थापित की गई थी। वह आचार्य गोप मुनि का शिष्य था, जो आचार्य भद्र के वंशजों का अलंकार था

तथा आर्यवंश में उत्पन्न हुआ था। नायक पुत्र, अश्वारोही सेना का सेनापति, पद्मावती शत्रुओं से अपराजेय, संसार प्रसिद्ध था तथा उसने अपने मनोविकारों को शांत कर लिया और समारोह में यती की उपाधि ग्रहण की थी। वह उदग्निशादेश (उत्तरी देश) में उत्तर कुरु देश के समान, शत्रु कर्म्म के विनाश के लिये उत्पन्न हुआ था। उसने यह पुण्य कार्य सम्पादित किया।[1]

चतुर्थ लेख—गुफा क्रमांक एक की भीतरी छत पर गुप्तकालीन संस्कृत में, "सि (शि) (वा) दित्य" उत्कीर्ण है, जो सम्भवतः किसी कारीगर का नाम है।[2]

इसी काल के अन्य चार छोटे-छोटे अस्पष्ट लेख गुफा छै में हैं।[3]

नागरी लिपि मे गुफा 20 के निकट एक प्राकृतिक गुहा में अभिलेख :

"देहा अभिमाने गलितं विसायते परमात्मनि,
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधि य
(–); इन्द्रियाणाम ह्वि (धि) ष्टा (ष्टा) त्री
भूतानाम खिले स्व (पु) या, भूतेपु श (स) तत
तस्यै व्यासै (प्त्यै) देव्यै नमो नमः मि– –"

गुफा 20 के नीचे की गुफा में भी हिन्दी भाषा का एक अभिलेख वि० संवत् 1875 का है :

1. ॐ रसो आज भयो, और शोरा
2. और शोरा कार
3. सोचत जुग जुग
4. प्रेम गिर ? संत भये मो पार 1875 संवत्

इसी गुफा के निकट चट्टान पर एक सूर्य क्वार सुदी बुधवार वि० सं० 1878 में उत्कीर्ण किया गया था। उसके नीचे 10, 11, 12 आदि अंक हैं।[4]

भेलसा (आधुनिक विदिशा) से प्राप्त अभिलेख :

1. संवत् 87९ के अभिलेख में सूर्य मदिर के निर्माण का उल्लेख है।[5]
2. भैल्स्वामी की स्तुति में दसवीं शताब्दी ई० सन् का एक लेख है।[6]

---

1. कनिंघम, आवर्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग 10 पृ० 54–नवीन संस्करण, देखिये—ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट, सम्वत् 1974.
2. ग्वा० पुरा० रिपोर्ट, संवत् 1988, पृ० 17.
3. वही, पृ० 18.
4. वही, पृ० 29.
5. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1953-54 ए रिव्यू, पृ० 14.
6. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 22 पृ० 187.

3. एक आंशिक प्रस्तर लेख[1] से ज्ञात होता है कि कौण्डीन्य गोत्र के वाचस्पति ने, जो राजा कृष्ण का मंत्री था, चेदिराज को परास्त किया तथा सिंह नामक सवर की हत्या कर राला मण्डल तथा रोड़यदि के राजा को सिंहासनारूढ़ किया और भिलसा के भैलस्वामि मंदिर में शरण ली, जहाँ उसने देव की प्रशंसा में स्तोत्र की रचना की ।

मिराशी ने सवर प्रमुख को दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का अनुमाना है ।

4. एक मूर्ति पर श्री बलदेव द्वारा मूर्ति निर्माण का उल्लेख है ।[2]

5. विजयमण्डल के एक स्तम्भ पर रत्नसिंह नामक यात्री का उल्लेख है ।

6. यहीं से एक अन्य यात्री देवपति का लेख प्राप्त हुआ है ।

7. एक अभिलेख, जिसमें उदयपुर को "भिल्लस्वामी महाद्वादशक" (भिलसा जिला) में स्थित होने का उल्लेख है ।[4]

8. विजय मण्डल का एक शिलालेख, जिसमें गण्डवंशीय शासक देवराज का उल्लेख है ।[5]

9. प्राचीन नागरी लिपि, संस्कृत भाषा में वि० सं० 1132 का राजा विजयपाल तथा कुछ दाताओं सम्बन्धी लेख है ।[6]

10. एक खंडित मूर्ति का लक्ष्मण के पुत्र कुमारसी के उल्लेख के पूर्व बुद्ध का अभिवादन किया गया है ।[7]

11, 12. विजयमण्डल के स्तम्भ पर विक्रम संवत् 1216 के अभिलेख हैं ।[8]

13—प्राचीन नागरी लिपि तथा संस्कृत भाषा में वि० सं० 1236 फाल्गुन सुदी 3 का लेख है, जिसमें दामोदर द्वारा उसके छोटे भाई वाल्ह के स्मारक स्थापना का उल्लेख है ।[9]

---

1. हाल, एफ० ई०, जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, ग्रंथ 31, पृ० 3, नोट 2.
   देखिये, मिराशी, कोरपस इंस्क्रिप्शनम् इंडीकेटम् ग्रंथ 4, पृ० 196.
2. ग्रा० पुरा० रिपोर्ट संवत् 1985, क्रमांक 2.
3. वही, 1974, क्रमांक 61, 62.
4. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, भाग 13, ग्रंथ 1, पृ० 29.
5. ग्वा० पुरा० रिपोर्ट. सं० 1970.
6. वही, सं० 2000.
7. वही ।
8. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्के० सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, 1913-1914, पृ० 59.
9. ग्वा० पुरा० रिपोर्ट संवत् 1993.

14. विष्णुमूर्ति के निर्माण सम्बन्धी वि० सं० 1242 का मूर्तिलेख ।

15. नागरी लिपि, संस्कृत भाषा में शेषशायी विष्णु की मूर्ति पर गौड़ वंश के लावदेव का लेख है ।[1]

16. 12वीं शताब्दी ई० सन् की लिपि के एक खण्डित लेख में दण्डनायक श्रीचन्द्र का नाम है ।

17. वि० सं० 1613, माघ सुदी 10, के एक लेख में महाराज भीमसिंह के पौत्र लक्ष्मन द्वारा एक विश्राम स्थल के निर्माण का उल्लेख है ।[2]

18. रामघाट के निकट धर्मशाला की दीवार में वि० सं० 1893 का एक अभिलेख है, जिसमें शिवमन्दिर के निर्माण, अनतेश्वर शिवमूर्ति के प्रतिष्ठापन, एक धर्मशाला तथा दो उद्यानों का निर्माण का उल्लेख है । इनका निर्माण दामोदर पुत्र आनन्द राय ने करवाया था । आनन्दराय के एक सहायक लालानाथ का भी इसमें नाम है तथा चुन्नी लाल ब्राह्मण इसका पुजारी नियुक्त किया गया था ।[3]

19. जयाजीराव सिंधिया के राज्यकाल के (वि० सं० 1937) एक अभिलेख में लक्ष्मीचन्द द्वारा एक मन्दिर, एक उद्यान तथा एक बावली के निर्माण का उल्लेख है ।[4]

20. एक लेख में राजा के आदेशानुसार कोलियों को भिक्षा माँगने का निषेध किया है ।[5]

भिलसा से अरबी फारसी के कुछ लेख मिले हैं :

1. लोहांगी पहाड़ी पर पश्चिम दिशा में बनी मस्जिद में दो अभिलेख हैं, जिनमें से एक में मालवा के महमूद प्रथम खिल्जी का हिजरी 864 का लेख है ।
2. दूसरे लेख में अकबर का उल्लेख है, जो हिजरी 987 का है ।
3. नक्ष लिपि, अरबी भाषा में गुम्बज मकबरे के समाधि प्रस्तर पर कुरान शरीफ का एक उद्धरण है ।
4. इसी मकबरे के समाधि प्रस्तर के उत्तरी फलक पर फारसी के एक लेख में राजकुमारों के राजा तथा पूर्व के स्वामी रेहमत उल्ला का उल्लेख है ।

यहाँ से अन्य छोटे-छोटे अस्पष्ट लेख भी मिले हैं जो फारसी भाषा में है तथा जिनमें से एक कल्मा है ।[6] पठारी (विदिशा) गुप्त कालीन लिपि में एक खण्डित लेख :

---

1. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट संवत 1986.
2. वही, संवत 1984.
3. वही, संवत 1933.
4. वही, संवत 1984.
5. वही, संवत 1984.
6. ग्वा० पुरा० रिपोर्ट, वि० सं० 1984.

1. लेख में महाराज जयत्सेन का उल्लेख है, जिसमें केवल शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी स्पष्ट है, वर्ष तथा मास अस्पष्ट हैं। इस लेख में सम्भवतः सप्त मात्रिकाओं के उत्कीर्णनन का विवरण है।[1]
2. वि० सं० 917 का प्रस्तर स्तम्भ लेख (लिपि प्राचीन नागरी भाषा संस्कृत)। राष्ट्रकूट पर बल द्वारा शौरि (विष्णु या कृष्ण) के मन्दिर में गरुड़ध्वज के निर्माण का उल्लेख है।[2]
3. वि० सं० 1326 धार के परमार जयसिंह देव का अभिलेख।[3]
4. नागरी लिपि, हिन्दी भाषा के वि० सं० 1733 का एक बावड़ी लेख है, जिसमें "राजा महाराजाधिराज पिरथीराज देवजू" तथा उनके भाई श्री कुमारसिंह देव जू के काल में बावड़ी बनाने का उल्लेख है।

शके 1599 का भी उल्लेख है। तिथि 15 कृष्ण पक्ष अगहन सोमवार। औरंगजेब आलमगीरजू के राज्य में तथा महाराज पृथ्वीराज देवजू और उनके भाई श्री कुमारसिंह देवजू के समय में आलमगीर उर्फ भेलसा परगने के पठारी ग्राम में बिहरी बनाने का उल्लेख है। इसके पास के बाग पर अधिकार प्रदर्शित न करने के लिये हिन्दू को गाय और मुसलमान को सुअर की सौगन्ध दिलाई गई है।[4]

बडोह (विदिशा)

1. कनिंघम को[5] गडरमल मन्दिर के बाहर एक वर्गाकार छोटे पत्थर पर अभिलेख मिला था, जिसमें सं० 933, वैशाख सुदी 14 तिथि दी हुई है। इसमें वर्णित यदु-कुल तिलक से विदित होता है कि इस समय पूर्व मालवा में परमार राजा का आधिपत्य नहीं था। यह लेख एक नये बाजार का संस्थापन करने के उपलक्ष में उत्कीर्ण किया गया प्रतीत होता है। यहीं से दो सती स्तम्भों पर नागरीलिपि के लेख मिले हैं।[6]
2. प्राचीन नागरी, संस्कृत भाषा का जैन मन्दिर में एक यात्री का उल्लेख है, जिसकी तिथि में शताब्दी सूचक अंक नहीं है। सम्भवतः इसे सं० 1313 पढ़ा जा सकता है।[7]

---

1. वही, वि० सं० 1982.
2. ग्वा० राज्य के अभिलेख, पृ० 2.
3. द्विवेदी, वही, पृ० 21.
4. द्विवेदी, वही, पृ० 60.
5. कनिंघम, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ एण्डिया रिपोर्ट, ग्रंथ 10, 1874-75, 1876-77, पृ० 74.
6. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 60 व 62.
7. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 8 ग्वा० पुरा० रि० 1980.

3. इसी मन्दिर के एक कमरे के द्वार स्तम्भ पर वि० सं० 1134 का एक अन्य लेख है। इसमें एक यात्री देवचन्द का उल्लेख है।[1]

अमेरा *(विदिशा)*

विक्रम 1154 का प्राचीन नागरी लिपि, संस्कृत भाषा का 24 पंक्तियों का एक अभिलेख है, जो एक पुराने तालाब के किनारे पाये गये पत्थर पर उत्कीर्ण है। इसमें नर वर्मन् परमार के काल में (वि) क्रम नामक ब्राह्मण द्वारा तालाब के निर्माण का उल्लेख है।[2]

नागपुर प्रशस्ति में नरवर्मन् के राज्यकाल के प्रारम्भ की पूर्वतम तिथि 1161 ज्ञात थी, अत्र इससे उसका राज्यकाल दस वर्ष पूर्व प्रारम्भ होना सिद्ध होता है।[3]

मासेर *(विदिशा)*

प्राचीन नागरी लिपि संस्कृत भाषा का बीस पंक्तियों का प्रस्तर लेख है। इसमें कलचुरी राजा को पराजित करने वाले शुल्की (चालुक्य) वंश के राजा नरसिंह का उल्लेख है।

लिपि विज्ञान की दृष्टि से यह दसवीं शताब्दी का लेख ज्ञात होता है। इसमें चुल्क वंश का वंश वृक्ष दिया हुआ है। भरद्वाज, उसका पुत्र श्री नृसिंह (इसे कृष्णराज के अधीन तथा कालचरि राजाओं का विजेता लिखा है) उसका पुत्र केसरी या गुणाढ्य था। लाटराज तथा एक कछवाहा राजा का इसके हाथ हारा जाना भी लिखा है। मुंज तथा चच्च (परमार) का तथा हूणों का भी उल्लेख है।[4]

कानाखेड़ा (विदिशा)

महादंडनायक श्रीधर वर्मन् का (कलचुरी) संवत् 102 का शिला लेख, जिसमें श्रीधर वर्मन् द्वारा पुण्यार्थ एक कूप निर्माण का उल्लेख है।[5]

कागपुर *(विदिशा)*

1. देवी के मंदिर में नागरी लिपि, संस्कृत भाषा का चैत्र सुदी 12, वि० सं० 1306 का 3 पंक्ति का अभिलेख है, जिसमें मंगला देवी की प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख है।[6]

---

1. वही।
2. ग्वा० पुरा० रिपोर्ट, संवत् 1980.
3. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 11-12
4. द्विवेदी (अ) पूर्वनिर्देशित, पृ० 91-92. (ब) ग्वा० पुरा० रि० 1987. (स) मिराशी-कोपरस इंसक्रिप्शन इण्डीकैटम ग्रंथ 4, पृ० 196--97.
5. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, 1917, 18, पृ० 39.
6. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 19.

2. इसी ग्राम के दक्षिण में एक सती स्तम्भ पर वैशाख (7) सुदी 6 (?) वि० सं० का चार पंक्तियों में एक अभिलेख है, जिसमें कागपुर ग्राम का उल्लेख है।[1]

3. देवी के मंदिर से ही एक अन्य छोटा लेख है जिसमें याहिल यात्री का नाम है।[2]

ग्यारसपुर (*विदिशा*)

1. प्राचीन नागरी लिपि, संस्कृत भाषा का 32 पंक्तियों का अभिलेख तीन खण्डों में है। मालवसंवत 936 के इस लेख में गोवर्धन द्वारा विष्णु मंदिर के निर्माण, महाकुमार (युवराज) त्रैलोक्य वर्मन् के दान तथा हर्षपुर नगर में चामुण्डा स्वामी द्वारा बनाये गये मंदिर का उल्लेख है।[3]

2. आठखम्भा के खण्डहरों में एक स्तम्भ पर पाँच पंक्तियों में नागरी लिपि, संस्कृत भाषा का एक लेख है, जो वि० संवत् 1039 में उत्कीर्ण किया गया है।[4]

3. वि० सं० 1067 के एक खण्डित प्रस्तर लेख में एक मठ के निर्माण का उल्लेख है। उत्कीर्ण करने वाले का नाम पुलिंद है और एक अधिकारी गोष्टिक का नाम कोकल्ल दिया हुआ है। किसी मधुसूदन का नाम भी आया है।[5] संवत् 1989 में यह पत्थर एक कुम्हार के घर में फर्श पर लगा हुआ पाया गया था।[6] अब ग्वालियर संग्रहालय में संरक्षित है।

4. वि० सं० 1551 कार्तिक सुदी 15, शनिवार का स्तम्भ लेख, जिसमें ब्रह्मचारी धर्मदास का उल्लेख है।[7]

5. प्राचीन नागरी लिपि, संस्कृत भाषा मे एक बुद्ध प्रतिमा लेख है "ये धर्म्मा हेतु प्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्। तेषांच यो नि"। यह मूर्ति स्तूप के निकट भूमिस्पर्श मुद्रा में है।[8]

6. मानसरोवर तालाब के दक्षिणी तट के चबूतरे पर दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी ई० का संस्कृत भाषा का एक लेख है, जिसमें 'श्री सिद्धेश्वर' लिखा है, शेष अस्पष्ट है।[9]

---

1. ग्वा० पुरा० रिपोर्ट, 1988, पृ० 17.
2. वही ,, ,, पृ० 17.
3. कनिंघम (अ) आर्के० सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, ग्रंथ 10, पृ० 33. (ब) द्विवेदी, ग्वा० रा० के अभिलेख, पृ० 3.
4. (अ) वही पृ० 7 (ब) ग्वा० पुरा० रि० सं० 1974.
5. कनिंघम, पूर्वनिर्देशित, पृ० 34.
   द्विवेदी, ग्वा० राज्य के अभिलेख, पृ० 8.
6. ग्वा० पुरातत्व रिपोर्ट–संवत् 1989, पृ० 21.
7. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 46 तथा ग्वा० पु० रि० सं० 1975.
8. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट संवत् 1992, पृ० 34.
9. वही, पृ० 33.

7. 38 पंक्तियों का लगभग दसवीं शताब्दी ई० सन् की लिपि में महेन्द्रपाल के समय का एक आंशिक लेख है। यह प्रशस्ति जगन्नाथ (विष्णु) के अभिवादन से प्रारम्भ होती है तथा सम्भवतः एक मंदिर निर्माण के विषय में है। इसमें शिवगढ़ा, चामुण्डा-राज, महेन्द्र या महेन्द्रपाल का उल्लेख है। सूत्रधार साहित्य द्वारा अंकित हैं।[1]

8. हिंडोला तोरण के निकट उत्खनन से प्राप्त दो पंक्तियों का एक आंशिक शिलालेख चामुण्डाराज के राज्यकाल का है, जिसमें महादेव तथा दुर्गादित्य चामुण्डराज के आश्रितों का उल्लेख है।[2]

9. हिंडोला तोरण के उत्खनन से ही एक अन्य लेख प्राप्त हुआ है, जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। "करादीनां वभूवु स्तल वीर्ग्ग का"[3]

उदयपुर *(विदिशा)*

1. उदयपुर द्वार के पास दीवार पर 21 पंक्तियों की वि० सं० 1116 में उत्कीर्ण एक प्रशस्ति है, जिसमें उदयादित्य द्वारा शिवमंदिर निर्माण का उल्लेख है।[4]

2. उदयेश्वर के पूर्वी द्वार के पत्थर पर 6 पंक्तियों का एक अभिलेख है जिसके अनुसार वैशाख सुदी सप्तमी वि० सं० 1137 को मंदिर पर ध्वजारोहण का उल्लेख है। यह लेख परमार उदयादित्य का है।[5]

3. उदयेश्वर मंदिर की मेहराव पर 20 पंक्तियों का एक अभिलेख संस्कृत भाषा में हैं जिसमें अणहिल फाटक के चालुक्य महाराज कुमारपाल तथा 'ऊदलेश्वरदेव' के मंदिर में दिये गये दान व वसन्तपाल के दान का उल्लेख है। कुमार पालदेव को अवन्तिनाथ तथा शाकम्भरी के राजा को जीतने वाला कहा गया है। यशोधवल उसका महामात्य था। इस लेख के संवत् का भाग नष्ट हो गया है। केवल 'पौष सुदि 15 गुरौ तथा "चंद्रग्रहण" पर्व का उल्लेख है। इसकी तिथि वि० सं० 1220 अथवा 1222 मानी जाती है।[6]

4. वि०सं०1222 का उदयेश्वर मंदिर की पूर्वी मेहराव पर एक लेख है, जिसमें ठाकुर श्री चाहण द्वारा भृंगारी चतुःषष्टि में स्थित सांगभट्ट के आधे भाष्य के दान का उल्लेख है, जो अक्षय तृतीया के अवसर पर वैशाख सुदी 3 सोमवार को दिया गया था। द्विवेदी के अनुसार चाहण कुमारपाल देव का सेनापति ज्ञात होता है।[7]

---

1. वही, संवत् 1989, पृ० 20 तथा द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 90.
2. वही, पृ० 20.
3. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट, संवत् 1989, पृ० 21.
4. जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, भाग 9, पृ० 549, ग्वा० पुरा० रि० सं० 1974 तथा प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ वेस्टर्न सर्किल 1913–14, पृ० 37.
5. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 10.
6. वही, पृ० 15.
7. वही, पृ० 15.

5. उदयेश्वर मंदिर में 21 पंक्तियों का वि० सं० 1229 का एक अभिलेख है, जो अणहिल फाटक के अजयपालदेव चौलुक्य के समय का है तथा इसमें उमरथा नामक ग्राम के दान का उल्लेख है। इसमें उदयपुर को भैल्लस्वामी मंडल में स्थित बतलाया गया है। इस मंडल के 12 उप-भाग थे, जिनमें से एक 84 ग्रामों का भृंगारिका उपमंडल था। भृंगारिका एक दंड (महादंडनायक) द्वारा प्रशासित था, सम्भवतः जिसका हेडक्वार्टर उदयपुर था।[1]

6. उदयेश्वर मंदिर में वि० सं० 1286 का स्तम्भ लेख 14 पंक्तियों का है। इसमें (धार के परमार) देवपालदेव के राज्यकाल के दान तथा अदलेश्वर का उल्लेख है।[2]

7. उदयेश्वर मंदिर में वि० सं० 1288 के स्तम्भलेख में नलपुर (वर्तमान नरवर) के एक यात्री का उल्लेख है।[3]

8. यहीं से एक अन्य लेख में धार के परमार महाराज देवपाल देव का उल्लेख है। यह वि० सं० 1289 का लेख है।[4]

9. वि० सं० 1300 का लेख उदयेश्वर मंदिर में पूर्वी मेहराब पर है, जिसमें चाहड़ के दान का उल्लेख है।[5]

10. उदयेश्वर मंदिर पूर्वी द्वार की बाहरी दीवार पर मालवा के परमार जयसिंह का वि० सं० 1311 का 12 पंक्तियों में एक लेख है।[6]

11. परमार जयसिंह देव (जयसिंह चतुर्थ) के राज्य का वि० सं० 1366 का एक प्रस्तर लेख है।[7]

12. वि० सं० 1380 का एक प्रस्तर लेख, जिसमें एक यात्री का उल्लेख है।[8]

13. वि० सं० 1394 दो अभिलेख हैं। श्री उदलेश्वर देवता की यात्रा का उल्लेख है।[9]

14. परमार उदयादित्य के उदयेश्वर मंदिर-स्तम्भ लेख में उदयपुर नगर की स्थापना तथा उदयेश्वर मंदिर एवं उदय समुद्र झील के निर्माण का उल्लेख है।[16]

---

1. (अ) द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ०16 (ब) इंडियन ऐंटिक्वेरी, ग्रंथ 18, 344 पृ०।
2. वही, पृ० 18.
3. वही।
4. वही।
5. वही, पृ० 19.
6. वही, पृ० 20 तथा ग्वा० पुरा० रिपोर्ट 1980, पृ० 27.
7. वही, पृ० 20 „ „ 1974.
8. वही, पृ० 29.
9. वही, पृ० 32.
10. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट, संवत् 1971।

15. चतुआ द्वार के निकट एक मकान से प्राप्त पत्थर पर उदयादित्य परमार का एक अभिलेख है, जिसमें उदयादित्य परमार का एक अभिलेख है, जिसमें परमार वंश की वंशवृक्षावली दी गई है। यह लेख उदयपुर प्रशस्ति का अंतिम भाग प्रतीत होता है। उदयादित्य का गुणगान करते हुए सैकड़ों सामरिक विजयों में ढहलादीश को संहार करने तथा उदयपुर नगर पर निरीक्षण रखनेवाले ने एक वंश की प्रशंसा का वर्णन है। इसमें नेमक वंश के दामोदर द्वारा मंदिर निर्माण का भी उल्लेख है।[1]

16-20. यात्रियों के लेख हैं।

21. वि० सं० 1545 के पाँच पंक्तियों के हिन्दी भाषा के लेख में माण्डू के गयासशाही, मालवा, उदयपुर, चंदेरी के शेरखाँ तथा मस्जिद निर्माण और कारीगरों के नामों का उल्लेख है।[2]

22. कार्तिक सुदी पंचमी, सोमवार वि सं० 1545 का मोतीद्वार के समीप मस्जिद पर भित्ति लेख हिन्दी भाषा में है। जब सुल्तान गयासशाही (गयासुद्दीन) मण्डपगढ़ पर राज्य कर रहा था तथा जब शेरखाँ चन्देरी का मुख्तार और मालिक अब्दुस्सरा उदयपुर का गुमाश्ता था, तब उदयपुर में मस्जिद निर्माण का उल्लेख है।[3]

23. मगसर वदी त्रयोदशी सोमवार वि० सं० 1578 के प्रस्तर-लेख अरबी तथा हिन्दी में हैं। कुरान शरीफ का उद्धरण, सिकन्दर लोदी के पुत्र इब्राहीम लोदी का उल्लेख तथा उदयपुर के चंदेरी देश में होने का वर्णन है।[4]

24. वि० सं० 1587 का मंदिर नं० 3 में भित्ति लेख है, जिसमें यात्री का उल्लेख है।

25-26. इन दोनों में भी यात्रियों के उल्लेख है।

27-29. सती उल्लेख है।

30. वि० सं० 1701 के प्रस्तर-लेख संस्कृत तथा फारसी में हैं। माथुर कायस्थ जाति के हरिदास के पुत्र दामोदर दास द्वारा कुएँ के निर्माण का उल्लेख है।[5]

31. वि० सं० 1841 का संस्कृत लेख उदयेश्वर मंदिर के शिवलिंग पर है। इसमें महादाजी सिंधिया के सेनापति खण्डेराव अप्पाजी द्वारा पत्र चढ़वाने का उल्लेख है।[6]

---

1. वही, संवत् 1982, पृ० 26.।
2. द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 44-45।
3. वही, पृ० 45, ग्वा० पुरा० रि० सं० 1986।
4. वही, पृ० 45।
5. वही, पृ० 57.
6. वही, पृ० 60, आर्कि० सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट 10,

32. हिजरी 737 तथा 739 के दो लेखों से ज्ञात होता है कि मुहम्मद तुगलग के काल में उदयेश्वर मंदिर के कुछ भाग को तोड़कर मस्जिद का निर्माण किया गया था।[1]

33. हिजरी 894 के भित्ति-लेख में माण्डू के मुहम्मदशाह खिलजी के समय में मस्जिद निर्माण का उल्लेख है।[2]

34. हिजरी 956 के भित्तिलेख में इस्लामशाह सूरी के शासन-काल में चंगेजखाँ के सूबात के समय में मसूखाँ द्वारा मस्जिद के निर्माण का उल्लेख है।[3]

35. हि० 1054–चंदेरी द्वार तक निकट मस्जिद में एक प्रस्तर लेख है, जिससे शाहजहाँ के शासनकाल में परगना उदयपुर के अलावख्श द्वारा मस्जिद निर्माण का ज्ञान होता है।[4] इसका एक अन्य अभिलेख भी इसी प्रकार का प्राप्त हुआ है।

---

1. (अ) कनिंघम, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रि० भाग, 10, पृ०, 68. (ब) द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 74.
2. ग्वा० पुरा० रि० संवत् 1985, द्विवेदी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 75.
3. वही, पृ० 76.
4. वही, पृ० 78.

6

धर्मोत्साह[1]

विदिशा की धनधान्य पूर्ण अवस्था, व्यापारिक मान्यता, सामरिक महत्व तथा रमणीक प्राकृतिक स्थिति ने यहाँ के निवासियों को धर्मरत करने में सदैव उपयुक्त वातावरण प्रदान किया। कहा गया है:

बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा जनाः निष्करुणा भवन्ति ॥ अर्थात् भूखा व्यक्ति कोई भी पाप कर सकता है तथा दुर्बल व्यक्तियों में करुणा नही होती। करुणा, दया एक परिष्कृत व्यक्तित्व की विशेषतायें हैं, जिनका धर्म मे विशिष्ट स्थान है। अन्यथा सामान्य जन कहते सुने जाते हैं कि "भूखे भजन न होई गोपाला।" यहाँ के स्मारक, अन्य अवशेष, जिनमें सहस्रों मुद्रायें भी हैं, सहस्रों दान की अभिव्यक्तियाँ, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक विवरण सामान्य निवासियों की धनधान्य अवस्था के द्योतक हैं, जिन्हें यहाँ की उर्वर भूमि ने सभी कुछ दिया। यहाँ के व्यापारी संघ देश-विदेश की चारों दिशाओं में व्यापार के साथ अपना धर्म भी लेकर गये, तथा यहाँ रहते हुये जो कलात्मक सामग्री संतति के लिये छोड़ गये, उसमें उनके धार्मिक विचारों का सम्पूर्ण समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

वेत्रवती तथा वेस सरिताओं की मंद और मंथर गति, उनके सान्निध्य में पले स्वच्छन्द पक्षियों की कलरव ध्वनि, उदयगिरि, साँची, सतधारा, सोनारी आदि पहाड़ियों को स्पर्श करता हुआ शीतल पवन तथा उनसे प्रस्फुटित शांत वातावरण ने यहाँ के निवासियों को उस निस्सीम सत्ता की ओर आकृष्ट करने में निरन्तर सहायता दी, जिसके चिन्तन में वैदिक आर्यों की अमूर्त और अनार्यों की मूर्त भावनाओं को प्रश्रय मिला।

इस निस्सीम, सर्वव्यापी और विराट सत्ता को विदिशा का नाम प्राप्त हुआ, जो विष्णु के सहस्र नामों में से एक है।[2] यही कारण है कि हेलियोदोरस स्तम्भ की स्थापना के बहुत पूर्व यहाँ पर विष्णु की उपासना होने लगी थी। प्रारम्भिक अवस्था में बौद्धधर्म

---

1. देखिये, खरे, एम० डी०: विदिशाज रिलीजस फर्वर—इंटरनेशनल कान्फरेन्स आफ ओरियेंटलिस्ट के समक्ष पढ़ा गया भाषण, कोलम्बो 1969 (प्रेस में).
2. विष्णु सहस्रनाम, 100,

की लोकप्रियता के अपने मौलिक कारण होते हुये भी, कालान्तर में बुद्ध को विष्णु का अवतार[1] स्वीकार कर लिया जाना इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण पग है। यही नहीं, रूढ़िगत वर्ण व्यवस्था को बहिष्कृत किये जाने पर भी ब्राह्मणों ने बौद्धधर्म में विशिष्ट स्थान ग्रहण किया। उन्हें श्रेष्ठ और साधारण व्यक्ति से पृथक् माना गया[2] तथा आदर की दृष्टि से देखा गया। साँची और भरहुत के लेखों में भगवतो अथवा भगवत, धर्म चक्र तथा बोधिवृक्ष से सम्बन्धित है, जो ब्राह्मण धर्म में विष्णु के लिये प्रयुक्त किया जाता है। विलसन के अनुसार मूल शब्द 'भग'* से इसकी उत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है, शक्ति, साम्राज्य प्रतिभा, भव्यता, विवेक आदि, तथा "व" अथवा "वत" सम्बन्धवाची प्रत्यय है। संस्कृत में "भग" के सम्पूर्ण अर्थ हैं, संविभाजक, विधाता, वितरक, स्वामी, संरक्षक, वेद में समृद्धि प्रदान करने वाले आदित्य, उषा का भ्राता, सूर्य, चन्द्रमा और रुद्र के नाम, सौभाग्य, प्रसन्नता, सौंदर्य, तेजस्विता, सुख इत्यादि।[3]

विराट, विष्णु (शब्द का अर्थ ही व्यापक है) के रूप में ही भारतीय धर्म की निस्सीम परिधि निहित है। धर्म के आदर्श सृष्टि के आदि तत्व ब्रह्म से लेकर संसार की साधारण वस्तुओं और प्रवृत्तियों से अनुद्ध है। भारतीय ऋषियों तथा धर्म प्रवर्त्तकों ने यह अनुभव कर लिया था कि जीवन के इंद्रिय जनित सुखों की परिधि सीमित है तथा ऐसे सुख, स्वर्ग और मुक्ति के आनन्द की अपेक्षा सर्वथा हीन हैं। वही मानव धर्म श्रेष्ठ तथा अनुकरण

---

1. विष्णु पुराण, 1।32 अग्निपुराण, 16/1-4, विंटरनित्स ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० 8, 30.

ततः कलेस्तु सन्ध्यान्ते सम्मोहाय सुर द्विषाम्।
बुद्धो नाम्ना जिन सुतः कीकटेषु भविष्यन्ति॥

—गरुड़पुराण, 1.32

वक्षये बुद्धावतारंच पठतः श्रण्वतोऽर्थदम्।
पुरादेवासुरा युद्धे दैत्यर्देवाः पराजिताः॥1॥
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम्।
मायामोह स्वरूपोऽसौ शुद्धोदन सुतोऽभवत्॥2॥
मोहयामास दैत्यांस्तांस्त्याजिता वेदधर्मकम्।
ते च बौद्धा बभूवुर्हि तेभ्योऽन्ये वेदर्जिताः॥3॥
आर्हतः सोऽभवत् पश्चादार्हतानकरोत् परान।
एवं पाखण्डिनो जाता वेदधर्म्मादि वर्जिताः॥4॥

—अग्निपुराण 16/1-4

(जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता 1882 ई०)

2. टामस : अर्ली बुद्धिस्ट स्क्रिप्चर्स, पृ० 41. कर्न : मैनुअल आफ बुद्धिज्म; पृ० 67, 87.

* ऋग्वेद का एक देवता।

3. मैसे ; पूर्वनिर्देशित, पृ० 11.

योग्य है, जो लोकहितकारी हो तथा जिससे सभी को प्रतिष्ठा प्राप्त हो। इससे विश्व के देव, पशु-पक्षी और सूर्य-तारे सबका कल्याण होना चाहिये, यही धर्म के विषय में भारत का शाश्वत दृष्टिकोण है। मनु ने भी ऐसे धर्म को त्याज्य कहा है, जिससे लोक को कष्ट हो।[1] मनु के ये शब्द "एक एव सुहृद धर्मो निधने प्यनुयाति" से धर्म का शाश्वत रूप स्पष्ट है।[2] महाभारत के अनुसार :

"सर्वतीर्थेपु वा स्नान सर्वभूतेपु चार्जवम्। उभेत्वेते समे स्याताम् आर्जवं वा विशिष्यते ॥[3]

तथा धर्म समाज को धारण करता है।[4] सभी प्राणियों के प्रति मन में कल्याण-भावना रखना मानसिक धर्म है।[5] सामाजिक सौष्ठव के लिये महाभारत में इष्टा पूर्त के अतिरिक्त अन्नदान और जलदान का अतिशय बतलाया गया है।[6]

ऐसे विश्वव्यापी धर्म से अनुप्राणित किन्तु सांसारिक व्याधियों से मुक्ति के अन्वेषक सिद्धार्थ के समक्ष सम्भवतः इस प्रकार के विचार आये : "मौत का इलाज हो शायद, जिन्दगी का कोई इलाज नहीं" और वह सिद्ध अर्थ, प्रबुद्ध हुये, तथागत हुये।

समसामयिक धर्म की रूढ़िवादिता, शुष्कता, निरर्थकता आदि को महात्मा बुद्ध की विकसित तर्कबुद्धि ने समुचित समाधान देकर धर्म को जन सामान्य के निकट पहुँचाने का जीवनपर्यन्त प्रयास किया तथा दुखमयी प्रवृत्तियो का निरोध करने के लिये एक अभिनव पथ का प्रदर्शन किया। यही कारण है कि मैक्समूलर ने भी बौद्धधर्म को लोकप्रिय उच्चतम ब्राह्मणवाद कहा है।[7]

अवंति सम्राट् पज्जोत ने जिसे प्रायः चंड-प्रद्योत कहा गया है, महात्मा बुद्ध को अपने राज्य में आने के लिये आमंत्रित किया था, जिसके लिये महाकाच्यायन को भेजा गया था किन्तु उन्होंने अर्हत महाकाच्यायन को ही धर्म सन्देश प्रचार करने में पूर्णरूप से दक्ष कर दिया था। इस प्रकार अवन्ति देश बहुत पूर्व से ही इस नये वाद बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।[8] इस धर्म के अनेक उत्साही अनुयायियों का यहाँ जन्म हुआ था अथवा उन्होंने यहाँ धर्मोपदेश दिये थे। साहित्यिक (वैदिक) छंदों के स्थान पर

---

1. मनु-4, 176.
2. वही, 2, 17.
3. महाभारत, उद्योगपर्व 35, 2.
4. कर्ण पर्व, 49-50.
5. शांति पर्व, 182, 30.
6. अनुशासन पर्व, 64, 3, 4, 6.
7. मैक्समूलर, लास्ट एसेज सेकन्ड सीरीज (1901) पृ० 121.
8. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, 1936-37, पृ० 49-50.

लौकिक भाषा का प्रयोग ही अवन्ति में बौद्धधर्म के विस्तार का मुख्य कारण था।[1] इस प्रकार विदिशा की धार्मिक भूमि में बौद्ध धर्म का वृक्ष अतीव दृढ़ता से बद्धमूल हो गया था।

अशोक ने इस धर्म को अधिक प्रांजल और ग्राह्य बनाने का सफल प्रयास किया। उसके युग में बौद्ध जीवन-दर्शन सम्बन्धी चिंतन का उत्तरोत्तर विकास हुआ। इस नवीन सम्वर्धित धर्म का नाम हीनयान है। बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा उपनिषदों की ज्ञाना-श्रयी-शाखा के समकक्ष तपः प्रधान थी और महायान शाखा पौराणिक धर्म के अनुरूप भक्ति प्रधान थी।[2]

मगध से उज्जैन जाते समय अशोक ने यहाँ की श्रेष्ठि कन्या से विवाह कर लिया था, जिससे पुत्र महेन्द्र तथा संघमित्रा ने जन्म लिया। महेन्द्र श्री लंका जाने के पूर्व अपनी माता द्वारा निर्मित वेदिसागिरि विहार (साँची) में कुछ समय वारीक्षणिक बनकर धर्म प्रचार में पारंगत हुआ। अशोक के समकालीन श्रीलंका सम्राट् तिस्स ने अपने भतीजे अरिट्ट को मौर्य दरबार में भेजा था। यह शिष्टमण्डल बौद्ध धर्म के सन्देश सहित तिस्स के पास पहुँचा, जिसके साथ महेन्द्र तथा उसके चार स्थवीर भी वहाँ गये। महेन्द्र ने वहाँ के राजा सहित अनेक व्यक्तियों का धर्म परिवर्तन किया। तत्पश्चात् अरिट्ट संघमित्रा को लेने भारत आया, जिसने वहाँ की रानी तथा उसकी सखियों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। इसी समय बौद्ध वृक्ष की एक शाखा भी वहाँ लायी गयी।[3] अशोक की रानी देवी ने अपना सम्पूर्ण जीवन इस धर्म की सेवार्थ अर्पित कर दिया था, जबकि उसकी दूसरी रानी बोधिवृक्ष को नष्ट करने के कारण अप्रिय हो गयी थी। इस दृष्टि से धर्म प्रचार में अशोक से भी अकि श्रेय विदिशा देवी को दिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

साँची, सोनारी, सतधारा, भोजपुर, अंधेर विदिशा आदि के अशोक कालीन बौद्ध अवशेष यहाँ पर इस धर्म की लोकप्रियता के प्रमाण हैं। धनधान्य तथा धर्मोत्साह पूर्ण विदिशा नगर का सानिध्य बौद्ध संघों तथा संस्थाओं के लिये अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। साँची के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख में संघ में एकता बनाये रखने के लिये बल दिया गया है।[4]

---

1. मार्शल : द मोनुमेंट्स आफ साँची, ग्रंथ 1, पृ० 2.
2. डा० उपाध्याय, रामजी, पूर्वनिर्देशित, पृ० 463.
3. खरे, एम० डी०, इण्डियाज कन्ट्रीब्यूशन वर्ल्ड थाट एण्ड कल्चर में प्रकाशित लेख, पृ०, 19-20.
4. सरकार, डी० सी० द्वारा इस अभिलेख का संस्कृत रूपान्तर : (तथा कर्तव्यं, येन केन अपि न शक्यः) भेत्तुम। संघः समग्रः कृतः भिक्षूणां च (स्त्री) भिक्षूणां च इति पौत्र-प्रापौत्रिकं चान्द्रमः सौर्यकं (च)। यः संघं भक्ष्यति भिक्षुः वा (स्त्री) भिक्षुः वा (सः) अवदातानि दूष्यानि (=वसनानि) सन्निधाय्य अनावासे (= भिक्षुवासानर्हे स्थाने) वासयितव्यः। इच्छा हि मे—किमिति ?—संघः समग्रः चिरस्थितिकः (च) स्यात् इति॥

बुद्ध के मुख्य शिष्य सारिपुत्र तथा महामोग्गलान के अवशेष साँची तथा सतधारा स्तूपों से प्राप्त हुए हैं। कनिंघम का मत है कि सम्भवतः तथागत के अस्थि अवशेषों का एक भाग इन्ही स्तूपो में से एक में सुरक्षित किये गये होंगे। उन्होंने सोनारी के स्तूप एक को अवश्यम्भावी स्थान माना है।[1] यहाँ यह स्मरणीय रहे कि एक जातक[2] कथा के अनुसार बोधिसत्व ने, मातंग के जन्म में, कुछ समय वेत्रवती नगर में निवास किया था। वेत्रवती नगर विदिशा के अतिरिक्त अन्य कोई नगर नही है।

अनेक बौद्धधर्म प्रचारकों में से मज्झिम तथा कस्सप (कश्यप) व गोतिपुत्र कमशः हिमवंत और दरदाभिसार[3] को प्रदत्त किये गये थे। इनके अवशेष भी साँची तथा सोनारी स्तूपों से उपलब्ध हुये हैं। बौद्ध संघ के नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन किये जाने का एक अनूठा उदाहरण, भोजपुर स्तूप से प्राप्त एक उत्कीर्ण कलश है जिस पर "पतितो" शब्द सुरक्षित है। संघ के नियमों का उल्लंघन करने का दुष्परिणाम ही इस प्रकार से पतित किये जाने का भागी होता रहा होगा।[4]

अग्निमित्र शुंग तथा उसके उत्तराधिकारियों के राज्यकाल में अनेक स्तूपों का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार किया गया था। साँची के स्तूप एक पर प्रस्तर आवरण, रेलिंग, सीढियाँ, हर्मिका, फर्श आदि से उसे एक नवीन रूप ही दे दिया गया। इसके उपरान्त चार तोरण द्वारों का निर्माण हुआ। यद्यपि इन स्पूतों के निर्माण में देश के विभिन्न भागों के व्यक्तियों ने योगदान दिया, विदिशा के हाथीदाँत का काम करने वालों का पत्थर पर किया गया सफल प्रयास अत्यन्त ही सराहनीय है।[5] भरहुत स्तूप पर जिन दानियों के नाम उत्कीर्ण हैं, उनमें से छः व्यक्ति विदिशा के थे।[6] शिलालेखों से ज्ञात होता है कि राजा रेवती मित्र तथा उसकी रानी ने भरहुत स्तूप के निर्माण में दानयोग किया।[7] कुषाण कालीन मूर्तियों तथा अभिलेखों से विदित है कि कुषाण शासकों द्वारा साँची बौद्ध संघ को प्रश्रय प्राप्त हुआ था।[8] गुप्त काल के अवशेषों में कुछ मन्दिरों के अतिरिक्त स्तूप 1

---

1. कनिंघम, भिलसा टोप्स, पृ० 314 तथा 324.
2. कोवेल, ई० बी० : जातक स्टोरीज, ग्रंथ 3 व 4, पृ० 242-243.
3. दर्दाभिसार की पहचान दार्दिस्तान से की जाती है। यही कारण है कि यहाँ बोली जाने वाली आर्य भाषायें दार्दिक कहलाती हैं। देखिये :
   (अ) बम्जाई, पी० एन० के०, हिस्ट्री आफ काश्मीर, पृ० 54.
   (ब) ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, ग्रंथ 4, भाग 2.
   (स) मजूमदार, रमेशचन्द्र : द क्लासिकल एकाउन्ट्स आफ इंडिया, पृ० 423.
4. कनिंघम, पूर्वनिर्देशित, पृ० 335-336.
5. वेदिसा केहि दंत कारेहि रूप कम्मम् कतम्।
6. बरुआ एण्ड सिन्हा : भरहुत इंस्क्रिप्शन्स।
7. वाजपेयी, कृष्णदत्त, बुलेटिन आफ ऐंशिएण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्क्योलॉजी, पृ० 22.
8. मार्शल, पूर्वनिर्देशित ग्रंथ, पृ० 1–1385.

के तोरण द्वारों के भीतर प्रतिष्ठापित चार बुद्ध प्रतिमायें हैं। इस प्रकार लगभग ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक साँची का बौद्ध संघ अपने कार्य में रत रहा।

ग्यारसपुर गाँव के उत्तर में पहाड़ी पर अनगढ़ पत्थरो के कुछ चबूतरों के अवशेष स्तूपों के अंश कहे गये हैं। एक स्तूप अभी तक बहुत सीमा तक सुरक्षित है। इसमें ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, तथा बैठी हुई एक बुद्ध प्रतिमा भी है। यह सभी अवशेष बौद्ध धर्म के अंतिम चरण के हैं। यहाँ का बौद्ध स्तूप नवीं शताब्दी ई० सन् में निर्मित हुआ था। यहाँ से प्राप्त बौद्ध प्रतिमा पर एक लेख भी है।

बेसनगर ग्राम के पूर्वी भाग में कनिंघम को बौद्ध रेलिंग के अनेक भाग प्राप्त हुये थे। इनमें एक वक्र उष्णीष का पत्थर, एक वेदिका स्तम्भ तथा दो वेदिका दण्ड थे, जिन पर तीसरी-दूसरी शताब्दी की ब्राह्मी में दाताओं के लेख उत्कीर्ण हैं। उष्णीष की वक्रता से अनुमान लगाया जा सकता है कि वेदिका का व्यास लगभग नौ मीटर (30 फीट) तथा स्तूप का छै मीटर (18-20 फीट) रहा होगा। उष्णीष के पत्थर की ऊँचाई व मोटाई 11 इंच है। इसके आंतरिक भाग पर जुलूस में चार हाथी तथा चार अश्वारोही हैं। प्रत्येक जोड़े के मध्य में एक पैदल व्यक्ति है। प्रत्येक हाथी के शीर्ष पर धातु-मंजूषा तथा अश्वारोही के हाथ में चढ़ाव की थाली है। बाह्य पृष्ठ पर दस खण्डों की एक पंक्ति है, जिसमें एक ओर से क्रमशः हाथी, संगीतज्ञों का जोड़ा, स्त्री के हाथ में थाली तथा व्यक्ति पताका लिये हुए है। चौथा खण्ड तृतीय के समान है। पाँचवें, छठें, सातवें व आठवें में एक-एक स्त्री हाथ में थाली लिये है। नवें खण्ड में पुनः दो संगीतज्ञ हैं तथा दसवें में एक स्तूप है। ऊपर एक लेख उत्कीर्ण है जिसका प्रारम्भ स्वस्तिक तथा अंत धर्मचक्र से होता है। 'पात मानस भिखुनो—कुमुदस—च भिखुनोदानम्।"

सम्पूर्ण वेदिका की ऊँचाई 4 फुट 8 इंच थी। प्रत्येक स्तम्भ में दण्डों के लिए तीन छिद्रों का आयोजन है। इसका बाह्य भाग अलंकृत है किन्तु पृष्ठ भाग सादा है। ऊपर वर्गाकार चबूतरे से निकलता हुआ बोधि वृक्ष है तथा उसके नीचे भक्तिभाव में खड़े मनुष्यों की तीन पंक्तियाँ हैं। भरहुत मूर्तियों के समान इनके बड़े-बड़े शिरोवस्त्र तथा कुंडल हैं। इस पर उत्कीर्ण लेख को (अ) जामित्र (दानम्) पढ़ा जा सकता है। अन्य दो वेदिका दण्डों पर "धमगिरिनो भिखुनो दा (नम्)" तथा "नदिकाये पूवजितये दा (नम्)" लेख हैं। इनके दूसरे भाग पर अंक में 33 लिखा है, जो दान अथवा वेदिका दण्ड की संख्या हो सकती है।[1] कनिंघम को बेस के उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी भाग में स्तूप तथा विहार और उदयगिरि की पहाड़ी पर स्तूप के अवशेष मिले थे।

वैष्णव धर्म की रूपरेखा विष्णु के चरित के आदर्शों के अनुरूप विकसित हुई। महाभारत के शांतिपर्व के नारायणीयोपाख्यान मे नारायणी धर्म के नाम से भागवत धर्म का वर्णन किया गया है।[2] इसके अनुसार महर्षि नर तथा नारायण परब्रह्म के प्रतिनिधि

---

1. कनिंघम, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग 10, पृ० 38-39.
2. शांतिपर्व, 321-339.

हैं तथा नारायणीय या भागवत धर्म प्रवृत्ति (कर्म) प्रधान हैं। विष्णु पुराण में वैष्णव धर्म के प्रथम प्रवर्तक राजा ययाति कहे गये हैं। इसमें विष्णु के व्यक्तित्व के विषय में लिखा है—अतिशय शक्तिशाली, उपकार परायण और आनन्द दाता! विष्णु भगवान की दो विशेषताओं, लोक-हितकारिणी कार्य क्षमता तथा अनुपम भक्त-प्रियता ने लोगों को आकृष्ट किया है।[1] भक्ति, श्रद्धा और प्रेम का अटूट सम्बन्ध है। भक्ति ही मस्तिष्क को भौतिकता से परे करने का सबसे सहज साधन है। स्वत. के अनुभव से इसके प्रभाव का फल स्पष्ट होता है। प्रेम काम का विपरीत है। प्रेम में दया, करुणा के भाव सन्निहित हैं तथा काम में इच्छा तथा मोह है। भक्ति से निर्लिप्तता और मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति, कर्म तथा ज्ञान योग से श्रेयकर है क्योंकि भक्ति में साधन व लक्ष्य एक साथ विद्यमान हैं। स्वतः को आत्मसमर्पित करके भक्त निर्द्वन्द्व, शान्त, धैर्यवान बनता है तथा सम्पूर्ण प्रकृति पर अधिकार करने योग्य हो जाता है। भक्त स्वयं को आदर न देकर अपने मन से सभी प्राणियों को सम्मान देता है। भागवत के अनुसार वैष्णव को काम और अर्थ सम्बन्धी प्रवृत्तियों से अलग रहना चाहिये। भागवतों की परिभाषा में अव्यक्त निर्गुण तत्व नारायण है और व्यक्त सगुण रूप की संज्ञा नर है। महाभारत में कथन है "नारायणः नरश्चैव सत्वमेकं द्विधा कृतम।" भागवतों के मन में इस द्वैत की ओर मूलभूत एकत्व की अत्यन्त स्पष्ट प्रतीति थी। अतः विष्णु को अजन्मा और जगत का आदिकारण कहा गया है।[2]

नारायण शब्द की व्याख्या का मूलतंतु वैदिक साहित्य मे विद्यमान है। उसके अनुसार सृष्टि की प्रारम्भकालीन अवस्था मे सब कुछ आप तत्व या सलिल ही था। वहीं से प्रजोत्पत्ति हुई।[3] कीनी ने नारायण को द्रविड़ उत्पत्ति का कहा है, जिसमें नार-अय-अन शब्द का मिश्रण है। (नार = नीर। अय=एक स्थान पर लेटना)।[4] भण्डारकर ने नारायण का अर्थ नरों के विश्राम स्थल कहा है। सुवीरा जायसवाल ने नारायण शब्द को नार+अयन की सन्धि कहते हुये प्रतिपादित किया है कि अयन शब्द जाना, मार्ग के अर्थ में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है तथा नारायण वह स्थान है जहाँ सभी नर जाते हैं। दूसरे शब्दों मे नारायण नर समूह की इकाई को व्यक्त करता है। शतपथ ब्राह्मण मे उसे आदि पुरुष कहा है।[5]

भागवत मूलरूप में नारायण से सम्बद्ध है। भागवत का प्राचीनतम प्रयोग विष्णु के साथ मैत्री उपनिषद् में विद्यमान है, जहाँ अन्न को जगत् के धारक भगवान विष्णु का स्वरूप कहा गया है।[6] भागवत से भक्ति का अटूट सम्बन्ध है। कालान्तर में उन देवताओं

---

1. डॉ० उपाध्याय, रामजी, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 447.
2. अग्रवाल वासुदेवशरण, मार्कण्डेय पुराण (एक साहित्य अध्ययन), पृ० 26-31.
3. शतपथ ब्राह्मण 11.1.6.1.
4. जायसवाल, सुवीरा : द ओरीजिन एण्ड डेवलेपमेण्ट आफ वैष्णवजिम पृ० 33.
5. वही, पृ० 39.
6. भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत (अनुवादक—महेश्वरी प्रसाद पृ० 39.)।

के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो भौतिक समाप्ति के स्वामी होते थे तथा अपने भक्तों में वितरण करते थे।[1] अग्निपुराण में पंचभूतों को पंचरात्र कहा है। भट्टाचार्य के अनुसार पंचवृष्णि, संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, सांब तथा अनिरुद्ध को श्रद्धा दिये जाने के कारण ही इसे पंचरात्र सम्प्रदाय कहा जाने लगा।[2] पौराणिक काल में वासुदेव मत प्रबल नहीं रह गया। उस काल में चिन्तन की तीन धारायें परस्पर मिलकर एक हो गई—पहली, जिसके मूल में वैदिक विष्णु थे, दूसरी जो विराट नारायण से विनिःसृत हुई तथा तीसरी, जो ऐतिहासिक देव वासुदेव से निकली। इस प्रकार उत्तरकालीन वैष्णव मत का निर्माण हुआ।[3]

गुप्तकाल में विष्णु के विभिन्न अवतारों की पूजा बहुत लोकप्रिय थी, जिसकी परिकल्पना की उत्पत्ति उत्तर वैदिक साहित्य में मिलती है। महाभारत के नारायणी भाग में चार अवतारों—वाराह, वामन, नृसिंह तथा मनुष्य (वासुदेव-कृष्ण) का वर्णन है। मत्स्य पुराण में जिन दस अवतारों के नाम दिये है उसमें तीन—नारायण, नृसिंह तथा वामन—दैवी अवतार है, शेष मानुषी हैं।[4]

उपर्युक्त संदर्भ में विदिशा से उपलब्ध वैष्णव धर्म की सामग्री अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतवर्ष में इस धर्म का प्राचीनतम विद्यमान प्रमाण हेलियोदोरस स्तम्भ माना जाता था। किन्तु लेखक के उत्खनन से इस स्तम्भ के पूर्व का भी विष्णु का एक प्राचीनतम मंदिर अनावृत हुआ है, जिसे ईसा पूर्व की चौथी-तीसरी शताब्दी का अनुमाना है।[5] यह मंदिर आकार में वृत्तायत है तथा इसका प्रदक्षिणा पथ भी वृत्तायत है। अभाग्यवश बाढ़ के प्रकोप से यह विनष्ट होने के कारण इसकी नींव मात्र अवशेष है। इसमें संदेह नही कि यह विष्णु मंदिर ही था, क्योंकि इसके ऊपर, दूसरी शताब्दी ई० पू० में हेलियोदोरस स्तम्भ का समकालीन मंदिर बनाया गया था। किन्तु वह भी बाढ़ग्रस्त हुआ। जिस मिट्टी के चबूतरे पर दूसरे विष्णु मंदिर का निर्माण किया गया उसके चारों ओर पत्थरों की दीवार बना दी गई थी। इस मंदिर के पूर्व में आठ स्तम्भ थे। हेलियोदोरस स्तम्भ सहित सात एक पंक्ति में थे तथा आठवाँ चौथे स्तम्भ के समक्ष पूर्व की ओर था। प्रत्येक स्तम्भ के सिर पर गरुड़ स्तम्भ के समान ताड़-पत्र, मकर आदि की ध्वजाये थीं।

हेलियोदोरस स्तम्भ को, जिसके ऊपर गरुड़ ध्वज था, देवों के देव वासुदेव के सम्मान में तक्षशिला के यवनदूत ने प्रतिष्ठापित किया था। मौर्यकाल में विदिशा बौद्ध धर्म का एक विशिष्ट केन्द्र था, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। शुंग वंश के राजाओं

---

1. जायसवाल, सुवीरा : द ओरीजिन एण्ड डेवलेपमेंट आफ वैष्णवजिम, पृ० 38.
2. वही, पृ० 42.
3. भण्डारकर, पूर्वनिर्देशित, पृ० 40.
4. सरकार, डी० सी० : स्टडीस्ज इन द रिलीजस लाइफ आफ ऐंशिएण्ट एण्ड मेडीव्हल इण्डिया, पृ० 41-42.
5. खरे, एम० डी०, ललित कला, अंक 13, पृ० 21-27
   वैष्णवधर्म और प्राचीन विदिशा-आर्य सेवक, अंक 2, पृ० 41-42.

ने वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान किया तथा देश-विदेश में उसका प्रचार किया, जिसके फल-स्वरूप यवन राजदूत ने भी इस धर्म को अंगीकार किया तथा स्वयं को भागवत कहा।

ठीक इसी प्रकार के अवशेष नगरी (चित्तौड़ की छाया में राजस्थान) में भी प्राप्त हुये हैं। भण्डारकर के उत्खनन से वहाँ एक वृत्तायत विष्णु मंदिर अनावृत किया गया, जिसे उन्होंने चौथी शताब्दी ई० पू० का अनुमाना था। प्रथम शताब्दी ई० पू० के घोसुण्डी के अभिलेख में पूजा-शिला-प्राकार के निर्माण का उल्लेख है, एक भागवत द्वारा, जिसने यज्ञ किया था, इसे नारायण वाटिका कहा है।[1] नानाघाट अभिलेख[2] में भी अन्य देवताओं के साथ संकर्षण-वासुदेव की आराधना की गई है।

विदिशा में भण्डारकर द्वारा किये गये उत्खनन से "तिमित्रस" की मुहर मिली है। उनका अनुमान है कि दिमित्रियस ने (190-165 ई० पू०) यहाँ यज्ञ करवाया था और वह स्वयं यजमान था।[3] सन् 1963-64 के उत्खनन के समय त्रिवेणी मंदिर के पुजारी के पास विष्णु का शीर्ष मिला था, जो गुप्तकालीन है।[4] खामबाबा के निकट से एक खण्डित विष्णु प्रतिमा प्राप्त हुई थी।[5] यहीं से गरुड़ की एक मूर्ति युक्त चौकी मिली थी। कुछ वर्ष पूर्व टीले के निकट से उपलब्ध हरिहर प्रतिमा उल्लेखनीय है। वि० सं० 1242 के एक लेख में, जो वर्तमान विदिशा नगर से प्राप्त हुआ था, विष्णु मूर्ति निर्माण का उल्लेख है।

उदयगिरि की गुफाओं में वैष्णव धर्म के अनेक अवशेष हैं। गुफा पाँच में वाराह की संसार प्रसिद्ध अनुपम प्रतिमा तथा शेषशायी विष्णु इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। आशापुरी (रायसेन) का वैष्णव मंदिर तथा वाराह प्रतिमा, कागपुर (विदिशा) के वैष्णव मन्दिर के भग्नावशेष तथा ढ़ेर व बरनगर (विदिशा) में भी इसी धर्म के स्मारक हैं। सोनारी से विष्णु के अवतार तथा लक्ष्मीनारायण की प्रतिमा प्राप्त हुई। शमसाबाद (विदिशा) में अनेक भव्य वैष्णव प्रतिमायें है।

ग्यारसपुर में आठवीं-नवीं शताब्दी ई० सन् के मन्दिरों के अवशेष,—बाजरा मठ तथा हिंडोला तोरण वैष्णव धर्म के उदाहरण है। इसी प्रकार बदोह के दशावतार तथा सतमढी मन्दिर, जो 8-10 वीं शताब्दी ई० सन् के है, इसी धर्म का प्रतिपादन करते हैं। पठारी से प्राप्त वि० सं० 917 के लेख मे विष्णु मन्दिर के सम्मुख गरुड़ध्वज के निर्माण का उल्लेख है तथा गाँव के पूर्व में वाराह की विशाल प्रतिमा है।

आदिकाल से प्रचलित यक्ष-पूजा के अनेक प्रमाण भी यहाँ पर विद्यमान हैं। यक्ष का अर्थ आदर, पूजा, आराधना तथा यक्षति, संचालिता तथा संप्राणित करने के लिये प्रयुक्त होता है।

---

1. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन, ग्रंथ 1, पृ० 91.
2. वही, पृ० 186.
3. भण्डारकर, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 1914-15, पृ० 77.
4. इण्डियन आर्क्योलॉजिकल, 1962-63, ए रिव्यू, पृ० 69.
5. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 1915-16, पृ० 135-37.

"रक्षाम इति तत्रान्यैर्यक्षाम इति चापरैः."[1]

यक्षायतन को जो प्रायः नगर के बाहर बनाये जाते थे तथा प्राचीन, भव्य, संसार प्रसिद्ध कहे जाते थे, यक्षों के लिये समर्पित किये जाते हैं। यक्षों को अर्धदेव तथा कुबेर के सेवक अथवा धन के देवता कहा गया है, जो निधि की रक्षा करते हैं। वे देवताओं के चँवरधारी भी हैं। उन्हें नौ ताल से मापा जाता है, वे मनुष्य रूप धारण कर लेते हैं। उनके दो हस्त, दो चक्षु होते हैं तथा गहरा नील व पीत वर्ण और दयालु प्रवृति।[2]

फर्ग्यूसन का मत है कि यक्ष तथा नाग पूजा दस्युओं के समय से प्रचलित है, जो आर्यों के आगमन के पूर्व उत्तर भारत में निवास करते थे।[3] यक्ष उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में मिलता है। प्रारम्भिक साहित्य में वह निश्चित रूप से परिभाषित नहीं किया गया है।

मूलरूप में यक्ष शाकाहारी आत्माये हैं, वे जीवन के उदभ्रज्ज श्रोत के रक्षक हैं। वृक्षों का रस सोम अथवा अमृत समान है। अतः वे जल से संबद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में कुबेर को राक्षस, लुटेरों तथा कुकृत्य कर्ताओं का स्वामी कहा है, जिससे उसके आदिवासी देवता होने विदित होता है। "यक्षत्र अमरत्वम् च" से स्पष्ट है कि उन्हें देवताओं का वरदान प्राप्त था। धनपति कुबेर यक्षेश्वर, यक्षों के स्वामी कहे गये हैं। कैलाशपर्वत पर कुबेर के अनेक सुंदर महल, उपवन आदि हैं। चैत्ररथ उपवन के वृक्षों में पत्तियों, फलों के स्थान पर क्रमशः रत्न व कन्यायें हैं।[4]

वैश्रवण, धृतराष्ट्र, विरुढक तथा विरूपाक्ष क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम् दिशाओं के लोकपाल हैं। यही कारण है कि बौद्ध कला में वे द्वारपाल का स्थान ग्रहण करते हैं। कुमार स्वामी ने गणेश को कुबेर अथवा मणिभद्र के समान कहा है।[5] यक्ष पूजा एक भक्ति मार्ग था, जिसमें मूर्तियों, मंदिरों, वेदियों तथा अर्पण का व्यवधान था। प्रारम्भिक अवस्था के देवता तथा यक्ष एक दूसरे के पर्यायवाची थे। इसीलिए प्रत्येक हिन्दू देवता तथा बुद्ध, यदाकदा यक्ष कहे गये हैं। यही नहीं, हिन्दू तथा बुद्ध प्रतिमा-विज्ञान की नींव में यक्ष प्रतिमा विज्ञान के बीज विद्यमान हैं। यक्षत्व की परिकल्पना पुनर्जन्म के विचारों से सम्बद्ध है।

---

1. रामायण, 7, 4, 12-2, पृ० 1.
2. आचार्य, पी० के; मानसार एन एनसाइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर. ग्रंथ 7.
3. (अ) फर्ग्यूसन, ट्री एण्ड सर्पेण्ट वरशिप, पृ० 244.
   (ब) टानी : कथासरित सागर 1, पृ० 127, 337, 2, पृ० 594.
   (स) कलवे, यक्कुन नट्टनवा, लन्दन, 1829.
   आनन्द कुमार स्वामी यक्ष से उद्धृत, पृ० 4, पाद टिप्पणी।
4. कुमार स्वामी, आनंद के : यक्षाज, पृ० 4-6 (कालिदास ने मेघदूत में यक्ष निवास के भीतर-बाहर दोनो का वर्णन किया है।).
5. वही, पृ० 7.

यक्ष कुणिक (पारखम), दीदारगंज यक्षी, यक्ष भागवत मानिभद्र, पवाया, नंदी तथा वर्धन (पटना) यक्ष कुवेर सुपवसु तथा अनेक यक्षी (भरहुत), यक्ष, यक्षी, साँची व मथुरा आदि से यक्ष उपासना का अत्यधिक लोकप्रिय होना स्पष्ट है। लगभग यक्ष-कुणिक की समकालीन वेसनगर से प्राप्त यक्षी, इण्डियन म्यूजियम कलकत्ते में तथा एक विशाल यक्ष (कुवेर) व यक्षिणी विदिशा संग्रहालय में है। कुछ यक्षों के अवशेष 1963-65 में भी प्राचीन विदिशा के विभिन्न स्थानों से एकत्र किये गये थे।[1] चोपेरा की यक्षी मूर्ति के पृष्ठ भाग पर भी वैसी ही यक्षी वनी है।[2] शीतला माता के रूप में पूजी जानेवाली विदिशा की यक्षिणी के पृष्ठ भाग पर एक यक्ष आकृति है।[3] यह दोनों मूर्तियाँ द्वितीय शताब्दी ई० पू० की हैं।

विदिशा तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र से जितनी यक्ष, यक्षिणी प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं उनसे यहाँ पर मौर्य तथा शुंग काल में यक्ष आराधना की अत्यधिक लोकप्रियता सिद्ध होती है।

नागों का वर्णन, पौराणिक तथा ऐतिहासिक वर्गों में किया जा सकता है। यहाँ पौराणिक नागों के सम्बन्ध में कुछ वृतान्त दिया जा रहा है। वौद्ध पौराणिक कथानकों में देवताओं के पश्चात् इनका स्थान आता है। पुराणों में इन्हें प्रजापति दक्ष की पुत्रियों में से एक कद की शक्तिशाली, वहु-शीर्ष वाली सर्प संतति कहा गया है। इनका निवास स्थान त्रिकूट के नीचे नागलोक अथवा नागद्वीप माना गया है। इनका मुख्य नगर "भोगवती" है।

संस्कृत में नाग का अर्थ गज, सर्प अथवा परदार सर्प है। इसकी व्युत्पत्ति उस नाग शब्द से है, जो पर्वत तथा वृक्ष है। यही कारण है कि यह केवल जल तत्व की विशिष्ट संरक्षक आत्मा ही नहीं है, अपितु इसका घनिष्ठ संबन्ध वृक्ष, गज तथा मेरु और सर्प व मत्य रूपों से भी है।[4]

प्राचीन पारसी अपनी सौर उत्पत्ति एक शक्तिशाली सर्प पूर्वज की पौराणिक कथा में मानते हैं। इसी प्रकार सिथियन की जो तक्षक अथवा नाग शाखा के थे, वंशजा का अर्ध शरीर सर्प तथा अर्ध स्त्री का था। वाइविल की आदि माँ, ईव, प्राचीन इब्रानी की

---

1. इण्डियन आर्क्योलॉजी-1964-65, ए रिव्यू, पृ० 4.
2. वाजपेयी, जर्नल आफ द मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, अंक 2, 1960, पृ० 19.
3. द्विवेदी, एच० एन०; विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृ० 691.
4. मैसे, साँची एण्ड इट्स रिमेंस, पृ० 61, अन्य संदर्भ :
   (अ) फोगेल : द इण्डियन सर्वेण्ट लोर, 1926.
   (व) फर्ग्यूसन : टी एण्ड सर्वेण्ट वरशिप।
   (स) भट्टसार्ल्स एन० के०, आइक्रोनोग्राफी आफ बुद्धिष्ट एण्ड ब्राह्मनीकल स्कल्पचर्स इन ढाका म्यूजियम।
   (द) गुप्ता, के० के०, प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1939, पृ० 223-229,

ईदिया है, जिसका अनुवाद सर्पिणी किया गया है। कालान्तर में वह पृथ्वी माता, महादेवी, विश्व जननी कहलाने लगी तथा किसी न किसी प्रकार से उसका सम्बन्ध सर्प रूप से हो गया। प्राचीन ग्रीक अथवा क्रीटी (मिनोई) सभ्यता की प्रधान देवी दो सर्प धारण करती है।*

ब्राह्मणवादी दंत कथाओं में सर्वोच्च इंद्र जो दिव्य गजों के स्वामी (गजेन्द्र) थे, सूर्य, आकाश, वर्षा के देव थे, अपनी आभा को आच्छादित कर देने वाले शत्रु, बादलों पर विजय प्राप्त करते हुये कहे गये हैं। संस्कृत में बादलों को 'अहि' तथा 'वृत्र' कहा है, जो नाग या सर्प के नाम हैं। सर्प का शत्रु, गरुड़ विष्णु का वाहन है।

भरहुत से प्राप्त कुछ अभिलेखों में नागराजा एलापात्र तथा चक्रवाक के नामों का उल्लेख है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि ईसा पूर्व काल में इस क्षेत्र में सम्भवतः इनकी पूजा की जाती थी। नाग उपासना के प्रमाण हरिवंश कथानक के अतिरिक्त मथुरा से प्राप्त कुषाण कालीन अभिलेखों में विद्यमान है।[1]

नागवंश के राजा नागोपासना करते थे। नागों का आधिपत्य कुछ समय के लिए विदिशा में रहा है। मनुष्य तथा सर्पाकृति की नाग प्रतिमायें यहाँ से प्राप्त हुई हैं, जो प्रथम-तृतीय शताब्दी ई० स० की अनुमानी गई है। ग्वालियर, विदिशा तथा साँची संग्रहालयों में विदिशा की नाग प्रतिमायें सुरक्षित हैं।[2] प्रो० बाजपेई के इस कथन में सत्यता है कि यहाँ मथुरा के दधिकर्ण मंदिर के समान[3] इस काल के कुछ नाग मंदिर भी रहे होंगे।

प्रकृति के रचनात्मक व ध्वंसात्मक रूपों ने आदि मानव में विश्वास तथा भय की भावनाओं को स्थान दिया, जिससे आदि धर्म की पूर्वकल्पना की जा सकती है। यदि सूर्य के प्रकाश से प्रेरित होकर आर्यों को कल्याणकारी मित्र देवता प्राप्त हुआ तो अनिष्टकारी रुद्र से उन्हें भय होने लगा क्योंकि प्रकृति के अनिष्टकारी रूप को उन्होंने क्रोध की ही अभिव्यक्ति समझा, जिसके देवता रुद्र कहे गये हैं। सघन मेघों से उत्पन्न विद्युत प्रहार ने रुद्र के बाण का रूप ले लिया, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[4] रुद्र से द्विपदों तथा चतुष्पदों की रक्षा हेतु प्रार्थना की जाने लगी।[5] फलस्वरूप वह पशुओं के रक्षक हो गये, और उनकी स्तुति से रोग दूर भागने लगे। इस प्रकार ऋग्वेद में ही रुद्र को परम शक्ति के रूप में देखा गया है। तैत्तरीय संहिता में रुद्र के मंगलमय तथा उग्र रूपों का वर्णन है।[6]

---

* सर आर्थर ईवान के क्रीत उत्खनन।

1. सरकार, स्टडीज इन द रिलीजस लाइफ आफ एंशिएण्ट एण्ड मेडिव्हल इण्डिया, पृ० 133–136.
2. बाजपेई, कें० डी०; जर्नल आफ द मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, अंक 2, 1960, पृ० 20.
3. सरकार, पूर्वनिर्देशित, पृ० 134.
4. ऋग्वेद, 7,46,3 तथा 1,114,10
5. ,, 1, 114, 1.
6. तैत्तरीय संहिता, 4, 5, 1 अध्याय 16.

मेघों की तुलना पर्वत से करके, वहाँ उनका निवास माना जाने लगा और वह पशुपति: शम्भु (स्वयंभू), शंकर एवं शिव बन गये। शिल्पियों तथा निषादों के उपास्यदेव रुद्र से अभिन्न हो गये। अथर्ववेद में रुद्र विषयक मान्यता और अधिक विकसित हुई। इसमें इनके सात नाम मिलते हैं। शतपथ तथा कौषीतकि ब्राह्मणों में आठ नाम हैं। गृह्यसूत्र-काल में भी रुद्र उग्र देवता बने हुये थे और उन्हें प्रसन्न किया जाता था। महाभारत के सौप्तिक पर्व तथा वायुपुराण (अध्याय 10) की एक कथा में उनके योगी बनने के वृतान्त हैं। सौप्तिक पर्व में पृथ्वी पर उनकी लिंग[1] स्थापना तथा कृष्ण द्वारा महादेव की महिमा गान का भी विवरण है। भण्डारकर का मत है कि महाभारत के पूर्व शैवधर्म में लिंग पूजा का साक्ष्य नहीं मिलता है। निषादों तथा अनार्य जातियों से रुद्र देवता का सम्बन्ध होने के परिणामस्वरूप शिव तथा सर्प अभिन्न हो गये। यद्यपि पतंजलि के समय में लिंग पूजा लोकप्रिय न हो सकी थी, विष्णु या वासुदेव के लोकप्रिय होने के पूर्व रुद्र-शिव सर्वोच्च देव थे।[2] पतंजलि के समय शैव संप्रदाय के अनुयायी शिव भागवत कहलाते थे, जो अपने उपास्य के आयुध शूल को लिये रहते थे। वासुदेव कृष्ण के संप्रदाय में जो स्थान पाँचरात्र का है वही स्थान शैवधर्म में पाशुपत मत का है। इस मत को भण्डारकर ने ई० पू० 200 का अनुमाना है। ह्वेनत्सांग के वर्णन से भी पाशुपत गृहस्थों का साक्ष्य मिलता है।[3]

शाक्त संप्रदाय में सृष्टि के उद्भव और विकास में दिव्य शक्ति का सर्वाधिक महत्व है। शक्ति का नारी स्वरूप है। वैदिक साहित्य में अदिति और पृथ्वी को देवताओं की श्रेणी में रखकर आदिशक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। पौराणिक युग में जिन गुणों से समन्वित होकर देव या देवभक्तों की दृष्टि में सर्वोच्च अथवा पूजनीय पद पा सकता था, वे स्पष्ट ही अदिति में विद्यमान हैं। शैव सम्प्रदाय में शक्ति को शिव की पत्नी मान लिया गया। दार्शनिक निरूपण में भी सृष्टि के पहले शिव और शक्ति ही थीं।[4]

मातृदेवी की आराधना के प्रमाण प्रागैतिहासिक समय से संसार के विभिन्न स्थानों में पाये जाते हैं। पत्थर, मिट्टी, हाथी दाँत आदि की बनी मातृदेवी की मूर्तियाँ यूरोप के उत्तर पाषाणकालीन स्तरों से उपलब्ध हुई।[5] मातृदेवी की अनेक प्रतिमायें भारतवर्ष में

---

1. मैसे, एफ० सी; साँची एण्ड इट्स रिमेंस–पृ० 50 के अनुसार लिंग शब्द का संस्कृत अर्थ संकेत, खम्भा, दण्ड होता है। ग्रीक भाषा के 'फैलस' का भी यही अर्थ है। उन्होंने इस प्रथा की व्युत्पत्ति सांकेतिक दण्डों से कही है, जो धार्मिक जुलूसों में ले जाये जाते थे।
2. राम० गो० भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, (अनुवादक : महेश्वरी प्रसाद) पृ० 117–132.
3. भण्डारकर, वही, पृ० 135–136.
4. डॉ० उपाध्याय, रामजी; प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रूपरेखा, पृ० 450–452.
5. (अ) न्यूमन, एरिक, द ग्रेट मदर, (ब) चिगट–डान आफ सिविलाइजेशन।

आद्य-ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त हुई हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय (हरप्पा तथा मोहेन-जोदड़ो के अतिरिक्त—जो अब पाकिस्तान में है) कायथा[1], इनामगाँव[2] की उपलब्धियाँ हैं। प्रारंभिक ऐतिहासिक युग की मिट्टी की बनी अनन्त मातृदेवी की प्रतिमायें (एज–लेस मदर–गॉडेस) सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाई जाती हैं। महिषमर्दिनी की प्राचीनतम प्रतिमा उनियारा के निकट नागर (टोंक) से प्राप्त हुई है। पकी हुई मिट्टी की बनी इस पट्टिका को ई० पू० प्रथम अथवा प्रथम शदी ई० सन् का अनुमाना गया है।[3] कालान्तर में सप्तमा-तृकाओं की उपासना की जाने लगी। गुप्तकाल में मातृदेवी का एकाकी तथा सामूहिक रूप (सप्तमात्रिका) अधिक लोकप्रिय था। वाट्र्स के अनुसार फाह्यान द्वारा वर्णित 'तो–लो' बोधिसत्व ने तत्पश्चात् तारा का रूप लिया।[4]

आदि काल से मान्यता प्राप्त शैवमत के प्रचलन के प्रमाण विदिशा उत्खनन से उपलब्ध मिट्टी की मातृ-प्रतिमाओं में दर्शित हैं। पत्थर का एक समर्पित शिवलिंग टीला में ई० पू० तृतीय–द्वितीय शताब्दियों के आवास संचय से मिला था। उदयगिरि में तीन शैव गुफायें हैं (गुफा क्र० 2, 3 और 4)। गुफा क्रमांक 2 में स्कन्द, गणेश तथा सप्त मातृकाओं की प्रतिमायें हैं। इसी प्रकार गणेश और सप्तमातृकाओं के अतिरिक्त, गुफा क्रमांक 6 के बाहर महिषमर्दिनी की मूर्ति भी है। गुफा क्रमांक 19 में शिवलिंग तथा द्वार पर अमृत-मंथन का दृश्य है। पठारी में भी इसी काल की सप्तमातृकायें हैं।[5] परमार कालीन सप्तमा-तृकायें विदिशा से प्राप्त एक नाभिकाखण्ड पर भी हैं। कागपुर (विदिशा) ग्राम में शिवमंदिरों के भग्नावशेष, गणेश, शिव, पार्वती तथा सप्तमातृकायें पाई गई हैं।[6] पठारी में नवीं–दसवीं शताब्दी ई० के शिव मंदिर, बदोह के गड़रमल मंदिर में मूलरूप में रखी सप्तमातृकायें तथा ग्यासाबाद की शैव प्रतिमायें धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वर्तमान विदिशा स्थित विजय मंदिर स्मारक (बीजा विजय-मण्डल मस्जिद) चर्चिका देवी के भग्नावशेषों पर और उसके अंशों से निर्मित है। गत कुछ वर्षों के संरक्षण सम्बन्धी कार्य के फलस्वरूप, जिसका प्रारम्भ लेखक ने 1963–64 में किया था, इस मंदिर का मौलिक द्वार का अधिकांश भाग अनावृत किया जा चुका है तथा अनेक भव्य शैव प्रतिमायें भी एकत्र की गई हैं, जिनमें एक गणेश मूर्ति पर लेख है।

कलचुरी राजा शिव के अनन्य भक्त रहे हैं, जैसा कि बादनेर ताम्रपत्र लेख से विदित है। विदिशा से प्राप्त कलचुरी शासक कृष्णराज के सिक्के इन शैव-भक्तों के यहाँ शासन करने के प्रमाण हैं।

---

1. कायथा एक्केवेशन्स रिपोर्ट।
2. डॉ० संकालिया के सौजन्य से।
3. सरकार, डी० सी०; स्टडीज इन द रिलीजियस लाइफ आफ ऐंशिएण्ट मैडिव्हल इण्डिया, पृ० 94.
4. सरकार, वही, पृ० 98.
5. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट 1925–26, पृ० 12 15.
6. वही, 1931–32, पृ० 6, 7.

इस मत का अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण उदयपुरा का उदयेश्वर मंदिर है, जिसका निर्माण परमार शासक उदयादित्य के शासन काल में हुआ था। धर्म तथा स्थापत्य की दृष्टि से इसकी गणना भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ मंदिरों में की जाती है। इसके वाह्य भाग पर हिन्दू धर्म की अनेक अलंकृत मूर्तियों में शिव तथा दुर्गा का आधिक्य है।

"सूर्य चराचर का आत्मा है"[1] तथा "आदित्य ब्रह्म है।"[2] इन्हीं शब्दों से सूर्य की प्रतिष्ठा का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रकृति की रचनात्मक शक्तियों में सर्व शक्तिशाली, प्रतिभावान सूर्य की ओर आर्यों का आकृष्ट होना स्वाभाविक था। तदनुसार सूर्य या सविता को आचार्य रूप में ग्रहण कर लिया गया। सौर पुराणों में सूर्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसमें शिव का सूर्य से तादात्म्य दिखलाया गया है। स्वयं सूर्य शिव की उपासना को श्रेयस्कर कहा है।[3] हिन्दू पौराणिक कथाओं में सूर्य तथा ब्रह्म का तादात्म्य बतलाया गया है। अत्रि धातुशब्द का प्रयोग ब्रह्म तथा सूर्य के लिये किया गया है।[4] सूर्योपासकों के छः वर्गों में से एक वर्ग, प्रातःकालीन सूर्य-मण्डल की, रचयिता ब्रह्मदेव के समान उपासना करते हैं।[5]

यह कहा जा चुका है कि प्राचीन विदिशा नगर के निर्जन हो जाने पर भिलसा (आधुनिक विदिशा) बसा था। डॉ० हाल[6] ने भिलसा का सम्बन्ध सूर्यदेव भैल्ल से इंगित किया था, जिसका धातुशब्द "भ" प्रकाश है।[7] भैल्लस्वामिन्, मूलरूप में यहाँ के मंदिर की एक सूर्य प्रतिमा का नाम था जिसका अपभ्रंश भेलसा हो गया। इस अभिलेख के अनुसार जो राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय (938-68 ई० स०) के राज्यकाल में उत्कीर्ण किया गया था, भैलस्वामी रवि के रूप में माने गये हैं। एक अन्य अभिलेख में[8] सूर्य की प्रशस्ति है। अलेबिरूनीज ने इसे भैल्सां नगर कहा है। "नगर तथा पूजनीय देव प्रतिमा का एक ही नाम है।"[9] उदयपुरा से प्राप्त वि० 1229 के अभिलेख में प्रतिवेशी क्षेत्र को भैल्लस्वामीमहाद्वादशक-मण्डल कहा है।[10] तबक्कात-नासिरी में विवरण मिलता है कि 1233-1234 ई०

1. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद 1,115, 1.
2. तैत्तिरीयोपनिषद, 3, 1, 1.
3. विंटरनित्स; ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर ग्रंथ 1, पृ० 535-36.
4. बनर्जिया, जे०एन० : द डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आईकोनोग्राफी, पृ० 428-429.
5. शुक्ल, डी०एन० ; वास्तुशास्त्र, ग्रंथ 2, पृ० 326-327.
6. (अ) जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, ग्रंथ 31, 1862, पृ० 111.
   (ब) एपीग्राफिया इण्डिया, ग्रंथ 29, पृ० 21.
7. सरकार, डी०सी०, एपीग्राफिया एण्डिका, ग्रंथ 30, पृ० 210.
8. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट सं० 1979.
9. सचाउ, अलेबेरूनीज इण्डिया, भाग 1, पृ० 202,
10. ईलियट एण्ड डाउसन ; हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, ग्रंथ 2, पृ० 328.
    रेवर्टी ; तबक्कात-नासिरी-अनुवाद, पृ० 622-23.

सन् में इल्तुतमिश के राज्यकाल में मुसलमानों ने 300 वर्ष पूर्व निर्मित एक विशाल मंदिर का विध्वंस किया था जो 105 गज ऊँचा था। सन् 1292 ई० में अलाउद्दीन ने इस मंदिर की मूर्ति को निकाल कर लोगों से कुचलवाने के लिये बदायूँ द्वार के सामने फेंक दिया।[1]

महलघाट, भिलसा से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि संवत् 935 में वहाँ भैल-स्वामी का एक मंदिर था। पारवाड़ (पोरवाड़) जाति के एक व्यक्ति ने घी और जल के अर्पण के साथ अक्षय नीविका का दान किया था। इस दान में तीन वीथियो की आय सम्मिलित थी, जिनमें अक्षय नीविका एक थी।

दो अन्य अभिलेख भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। प्रथम लेख सिद्धम् के पश्चात् ॐ नमः सूर्या से प्रारम्भ होता है, तत्पश्चात् सूर्यदेव की प्रशंसा की गई है। सम्पूर्ण अभिलेख इसी देवता की प्रशस्ति है।[2] दूसरा अभिलेख ग्यारहवीं शताब्दी का है, किन्तु उसके अक्षर विलुप्त हो गये हैं। किसी राजा अथवा मंत्री के यशगान में लिखी गई इस प्रशस्ति में सूर्य की स्तुति की गई है। इसमें सूर्य की प्रशंसा में लिखे गये खंडकाव्य के रचयिता महाकवि चक्रवर्तिन् का नाम दिया हुआ है।[3]

परम्परागत विश्वास के अनुसार जैन धर्म अनादि और अनन्त है। इसके 24 तीर्थ-करों में प्रथम ऋषभदेव और अन्तिम तीन नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर हैं। बौद्ध धर्म के समान जैन धर्म भी हिन्दू धर्म से प्रभावित है। यही कारण है कि महावीर स्वामी विष्णु के अवतार कहे गये है।

प्राचीन विदिशा से तीन खंडित तीर्थंकर की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। जिनमें रामगुप्त के शासनकाल के लेख उत्कीर्ण हैं।[4] दो प्रतिमायें चन्द्रप्रभ तथा एक पुष्पदंत की है। उदय-गिरि की गुफा एक में एक जैन प्रतिमा रखी हुई है। कनिंघम को इस गुफा में एक खड़ी प्रतिमा की बहिर्रेखा स्पष्ट दिखाई दी थी।[5] यही पर गुफा क्रमांक 20 में तीर्थंकर पार्श्व-नाथ की दो प्रतिमायें खुदी हैं। गुफा में कुमार गुप्त के शासनकाल का एक लेख है, जिससे इस गुप्त राजा के समय में गुफा को बनाये जाने का उल्लेख है।[6]

बाड़ी तथा वड़नगर में 8-10 वीं शताब्दी ई० स० के जैन मंदिरों के अवशेष हैं। बदोह में भी 10-11 वी शताब्दी का एक जैन मदिर है।[7] ग्यारसपुर के मालादेवी मंदिर (11 वीं शताब्दी) के अलंकृत द्वारों पर जैन मूर्तियाँ है।

---

1. मुंतखाबुत्-तवारीख (अनुवाद-बेंकिंग) ग्रंथ 1, पृ० 96.
2. सरकार, डी०सी०; रिलीजियस लाइफ इन ऐंशिएण्ट एण्ड मेडीव्हल इण्डिया, पृ० 121.
3. वही, पृ० 122-125.
4. गाई, जर्नल आफ ओरियेण्टल इंस्टीट्यूट, बरोदा, अंक 3 (मार्च 1969), पृ० 247-251.
5. कनिंघम, पूर्वनिर्देशित, भाग 10, पृ० 47.
6. वही, पृ० 53-55.
7. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट, 1923-24, पृ० 8-10.

विदिशा में इस्लाम धर्म के अवशेषों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। इल्तुतमिश तथा जलालुद्दीन के समय यहाँ के सर्वोच्च मंदिर का विध्वंस किया गया तथा वहाँ से सूर्य प्रतिमा उठाकर नष्ट करवा दी गई। बीजा-मंडल मस्जिद जिसे आलमगीरी मस्जिद कहा गया है, हिन्दू मंदिर के ऊपर ही बनाई गई है। लोहांगी पहाड़ी पर एक मस्जिद में महमूद प्रथम खिलजी और अकबर के दो अभिलेख हैं। महमूद खिलजी (प्रथम) अपनी सहिष्णुता के लिये प्रसिद्ध है। सुल्तान महमूद स्वयं विद्वान् शासक था। उसने, महमूद खिलजी प्रथम तथा नासिरशाह ने हिन्दी तथा संस्कृत को प्रश्रय दिया था। नासिरशाह के राज्यकाल में विष्णु-पुराण की प्रतिलिपि की गई थी।[1] नियामतनामा में मालवी उपभाषा के अनेक शब्द प्रयोग किये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि फारसी भाषा में लौकिक भाषा का समावेश हो गया था। मध्य युग में जैन समुदाय के लोगों को व्यवसाय करने की अनेक सुविधायें विभिन्न राजाओं द्वारा दी जाती थी। प्राचीन समय से विदिशा एक व्यावसायिक केन्द्र होने के कारण जैनियों का यह महत्वपूर्ण नगर बना रहा। मुगलकाल में शासन की दृष्टि से यह एक छोटी इकाई था, फिर भी औरंगजेब ने सांस्कृतिक महत्व के कारण इसका नाम आलम-गीरपुर रखा था। उदयपुर के मोतीद्वार के निकट एक मस्जिद की दीवार पर 1488 ई० स० का एक अभिलेख मिला, जिसमें एक मस्जिद के निर्माण का उल्लेख है। इस समय गियासशाह मडपगढ़ मे शासन कर रहा था तथा शेरखाँ चंदेरी का राज्यपाल था तथा अब्दुल यारा उदयपुर में गुमाश्ता था।[2]

मालवा के मुसलमान शासको की सहिष्णु नीति ने यहाँ के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में सामंजस्य उत्पन्न कर दिया। रूढ़िवादी राजपूतों के अंतःपुर में हिन्दुओं के साथ मुसलमान स्त्रियों को भी स्थान मिलने लगा। आवश्यकता के समय हिन्दू तथा मुसलमान कंधे से कंधा लगाकर एक साथ युद्ध करते थे। रायसेन किले की सुरक्षा के लिये, मजफ्फर शाह के विरुद्ध ताजखाँ ने लक्ष्मण तथा सिलहदी का साथ दिया था। राजपूतों में प्रचलित जौहर प्रथा का अनुकरण यदा-कदा मुसलमानों द्वारा भी किया है। मुसलमान स्त्रियों का हिन्दू अंतःकरण में प्रवेश तथा जौहर प्रथा के अनुकरण से यहाँ की स्त्रियों में स्वयं के लिये आदर भाव जाग्रत होने लगा। परिणामस्वरूप यहाँ मालवा संस्कृति का एकीकरण स्पष्ट हो गया, जिससे हिन्दू तथा मुसलमानों की भिन्नता लक्षित है।[3]

"धार्यते अनेन इति धर्मः" अथवा "ध्रियते लोकोऽनेन धारति लोकम् वा" के संस्कारों में आप्लावित विदिशा के हिन्दुओं ने मध्यकालीन युग के सांस्कृतिक व धार्मिक एकीकरण को निरन्तर सुरक्षित रखने का प्रयास किया। प्रारंभिक अवस्था में मुसलमानों द्वारा की गई मूर्ति विध्वसता के प्रति उन्होंने दार्शनिक विरक्तता को बहुत ही पूर्व हृदयंगम कर लिया था। स्वतंत्रता उपरान्त दोनों वर्गों ने मिलकर बीजामंडल मस्जिद में अनेक

---

1. डे, उपेन्द्रनाथ, मेडीवल मालवा, पृ० 367-369.
2. वही, पृ० 439.
3. वही, पृ० 397-398.

वर्षों से होने वाले साम्प्रदायिक दंगों को सदैव के लिये समाप्त कर दिया। यहाँ ईद के शुभ अवसर पर मुसलमान परम्परागत नमाज शरीफ पढ़ने के लिए एकत्रित होते थे। मौलिक रूप में यहाँ एक मंदिर था, जिसकी नींव तथा अवशेषों मे इस मस्जिद का निर्माण किया गया था। इन अवसरों पर साम्प्रदायिक तनाव बढ़ जाता था तथा नगर की शांति व कानून-व्यवस्था भंग होने लगती थी। राज्य तथा नगरवासियों के द्वारा प्राप्त धन से एक नवीन मस्जिद का निर्माण करा दिया गया है। इस प्रकार का शांतिपूर्ण समझौता विदिशा की पवित्र भूमि में ही सम्भव हो सकता था, जिसके वातावरण में धर्मोत्साह की सुगन्ध अभी तक सुरभित है, तथा यहाँ के निवासियों को सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करती रहती है। यही कारण है कि सर्वव्यापी, विराट् विष्णु के नाम पर इस नगर को विदिशा कहा जाता था। ब्राह्मणवाद की हृद्-विशालता, जैन धर्म की कठोर तपश्चर्या तथा बौद्ध धर्म की आकर्षक सरलता ने विदिशा के इतिहास में सजीव भूमिका का कार्य किया जिनका नाम सर्व-शक्तिशाली, दयालु, सुन्दर अनादि अनन्त विष्णु, उनके अवतार ज्ञानसम्पन्न बुद्ध तथा विजयमान जिन का प्रतीक है।

7

स्मारक

साँची

साँची विदिशा के सांस्कृतिक, कलात्मक व धार्मिक अस्तित्व का मेरुदण्ड है, जहाँ लगभग 1500 वर्षों तक बौद्ध धर्म की इड़ा, पिंगला जीवित रही। यहाँ के संसार प्रसिद्ध स्तूप, भारतवर्ष के प्राचीनतम स्मारकों का अद्वितीय अक्षुण्य उदाहरण है। बौद्ध धर्म की जातक कथाओं के चित्रण के अतिरिक्त, समसामयिक जीवन की झकी व राजनैतिक परिवर्तनों का प्रभाव, जितना सुस्पष्ट यहाँ दर्शनीय है, अन्यत्र कही नही है। साँची सम्बन्धित इतने ग्रंथ प्रकाशित हो चुके है.[1] कि संभवत: कुछ भी कहना शेष नही रह जाता। किन्तु गत पन्द्रह वर्षों में अनेक वार साँची स्मारको का अध्ययन करने पर भी प्रत्येक वार ऐसा अनुभव हुआ है कि जो तथ्य प्रकाश में आये है, वे यहाँ के निधिसागर की एक बूंद तुल्य ही हैं। सच भी है, लेखनी में इतनी क्षमता कहाँ है कि वह, नेत्रों के माध्यम से हृदयंगम की गई भावनाओं और सम्पूर्ण अनुभूतियों को व्यक्त कर सके। फिर भी इस अपार अक्षुण्य निधि का संक्षिप्त विवरण यहाँ वांछनीय है।

---

1. कनिंघम : भिलसा टोप्स, (लन्दन) 1854. मैसी, एफ० सी०; साँची एण्ड इट्स रिमेंस, (लदन 1892). कावेल, ई० बी० : द जातक, 6 ग्रंथ (कैंब्रिज, 1895-1907). केर्न, एच; मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म (स्टासबुर्ग, 1896). बर्गेस, जे०, द ग्रेट स्तूप एट साँची, कानाखेडा, जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1902. मार्शल, जे०, (संपादक, केटलाग आफ द म्यूजियम आफ आर्कोलॉजी एट साँची, भोपाल स्टेट : (कलकत्ता, 1922). हमीद, एम०; एक्सकेवेशन आफ मौर्य मोनास्ट्री एट साँची, भोपाल स्टेट, एनुअल बिब्लियोग्राफी आफ इण्डियन आर्क्योलॉजी फार द इयर 1937, 12 (लाइडिन, 1939). एक्सकेवेशन्स एट साँची, एनुअल रिपोर्ट, ए० एस० आई० 1936-37. मार्शल, जे०; द मोनुमेंट्स आफ साँची, 3 ग्रंथ (देहली, 1940). मार्शल, जे०; ए गाइड टु साँची, श्रीमती मित्रा देबला; साँची, डिपा० आफ आर्के० इंडिया (नई दिल्ली 1957).

विदिशा के दक्षिण पश्चिम में दस किलोमीटर की दूरी पर स्थित साँची की पहाड़ी वर्तमान रायसेन जिले के अंतर्गत है। लगभग 100 मीटर ऊँची इस पहाड़ी पर, 400 गज उत्तर-दक्षिण × 220 गज पूर्व-पश्चिम क्षेत्र में अनेक छोटे बड़े स्मारक सितारों सदृश जटित हैं, जिनमें स्तूप 1, अटल ध्रुवतारे के समान दूर से ही दृष्टिगोचर होता है।

इस पहाड़ी की प्राकृतिक स्थिति ने आदि काल से ही मानव को अपनी ओर आकृष्ट किया था। प्रागैतिहासिक युग के कुछ रंगीन चित्र यहाँ की प्राकृतिक शैल गुहाओं में विद्यमान हैं।[1] यहाँ के एकांत व शांतिपूर्ण वातावरण तथा धनधान्य पूर्ण विदिशा नगर के सान्निध्य से बौद्ध संघ की स्थापना को आदर्श परिस्थिति उपलब्ध न हो गई। तथागत ने स्वयं भी ऐसे स्थान को, जो नगर से अधिक दूर न हो, किन्तु निकट भी न हो, बौद्ध संस्थापन के लिये उपयुक्त कहा है।[2]

प्राचीन काल में इस पहाड़ी को वेदिसगिरि अथवा चेतियगिरि कहते थे। पाँचवीं शताब्दी ई० सन् के अभिलेखों में इसे काकनाय का काकनाव तथा काकनाद बोट कहा गया है। सातवी शताब्दी के एक लेख के अनुसार इसका वर्णन बोट-श्री-पर्वत के नाम से हुआ है। वर्तमान गाँव को कानाखेड़ा कहते है जो प्राचीन नाम का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

यहाँ पर पचास स्मारक हैं, जिनके चारों ओर ग्यारहवीं शताब्दी में बनाया गया एक परकोट है। इनमें एक अशोक स्तम्भ, तीन स्तूप, एक विहार तथा चार मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

स्मारकों के विवरण के पूर्व यह भी कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि कब और किसने यहाँ पर क्या कार्य किया।

लगभग 12 वीं शताब्दी में यह स्थल निर्जन हो गया था क्योंकि इसके उपरान्त के कोई अवशेष यहाँ से उपलब्ध नहीं हुये है।

1. उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में (1918 ई० स०) जनरल टेलर ने पिंडारियों के विरुद्ध अभियान के सम्बन्ध में यहाँ पर पड़ाव किया था। उस समय मुख्य स्तूप के तीन तोरणद्वार वेदिका तथा अड, स्तूप दो व तीन और आठ छोटे स्तूप अक्षुण्य थे।
2. डा० येल्ड ने अनुमाप से एक रेखाचित्र बनाया था जिसपर रोजक, 1819 के हस्ताक्षर है।[3]
3. कैप्टेन, ई० फैल ने प्रथम बार यहाँ का विवरण 1819 ई० में लिखकर बकिंघम के कलकत्ता जर्नल में (11 जुलाई) प्रकाशित किया था।
4. जेम्स प्रिंसेप ने उपर्युक्त विवरण को 1834 में पुनः प्रकाशित किया।[4]

---

1. श्री वाकणकर, वी० एस० ने सर्वप्रथम इन गुफाओं का अन्वेषण किया था।
2. महावंश।
3. जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, ग्रंथ 4. पृ० 489.
4. वही, ग्रंथ 3, अक्टूबर 1834, पृ०490-94.

5. हर्बर्ट मड्डोक ने जो भोपाल राज्य के पोलिटिकल एजेन्ट थे, सन् 1922 में यहाँ उत्खनन करने की अनुमति ली थी।

6. कैप्टेन जोन्सन ने महास्तूप का एक भाग ऊपर से नीचे तक खोदा था जिसके परिणाम स्वरूप पश्चिमी तोरण द्वार तथा वेदिका का कुछ भाग गिर गये थे और स्तूप में एक वृहत् दरार पड़ गई थी। इसी प्रकार स्तूप 2 भी अंशतः विनष्ट हो गया था।[1]

7. डॉ० स्पिलसबरी ने दिसम्बर 1822 में स्तूपों को उपर्युक्त, अवस्था में पाया था। उन्होंने 1835 में प्रिंसेप को एक नक्शा भी भेजा था।

8. वियान एच० होग्सन ने दो अभिलेखों की प्रतिलिपि 1824 में की थी।

9. कैप्टेन एडवर्ड स्मिथ ने 25 अभिलेखों की प्रतिलिपियाँ प्रिंसेप को भेजी थीं।

10. कैप्टेन डब्लू० मुरे ने भी उन्हें अनेक नक्शे भेजे थे।

11. कैप्टेन जे० डी० कनिंघम ने 181 में एक लेख प्रस्तुत किया था।

12. कलेक्जेंडर कनिंघम तथा लेफ्टिनेंट फ्रेड सी मैसी ने 1851 ई० में स्तूप 2 व 3 का उत्खनन किया था, जिसमें उन्हें अवशेष मंजूषा उपलब्ध हुई थी।[2]

13. मेजर ड्यूरेण्ड (सर हेनरी) ने सन् 1850-53 में अत्यन्त ध्यानपूर्वक अनेक मूर्तियों के रेखाचित्र बनाये थे।

14. वाटर हाउस ने सन् 1862 में स्तूप के फोटो किये थे।

15. फर्ग्यूसन ने 1886 में 'ट्री एण्ड सर्पेण्ट वरशिप' प्रकाशित की थी।

16. मेजर जनरल कोल ने सन् 1869 में "संरक्षण की तृतीय रिपोर्ट" लिखी थी तथा उत्तरी तोरणद्वार के प्रकार भी बनाये थे। इन्होंने गिरे हुए पश्चिमी तथा दक्षिणी तोरण द्वारों को खड़ा किया, तथा दरार को भी भर दिया था। स्तूप 3 के तोरण द्वार तथा वेदिका का भी जीर्णोद्धार किया था।

17. प्रोफे० ई० वाशबोर्न होप्किन्स ने 1897-98 में यहाँ का निरीक्षण करते समय, ग्रामीण लड़कों को मूर्तियों पर पत्थर फेंक कर प्रसन्न होते देखा था।

18. बर्गेस ने 1889 ई० में यहाँ के अभिलेखों के छापे तैयार किये थे।

19. डॉ० फारेर ने मार्च 1893 में और अधिक प्रतिलिपियाँ बनाई थी।[3]

20. हेनरी कजिन्स द्वारा 1901 में यहाँ का फोटो कार्य सौंपा गया था।

---

1. जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, ग्रंथ 4, पृ० 712, दिसम्बर 1822, वही, ग्रंथ 17, पृ० 171-201.
2. मैसे, साँची एण्ड इट्स रिमेंस।
3. एपीग्राफिया इण्डिका, ग्रंथ 2, पृ० 87-116 तथा 366 तथा 408.

21. सर जोन मार्शल ने सन् 1912-19 में अपने संरक्षण कार्य से स्मारकों को वर्तमान रूप दिया ।

22. मुहम्मद हमीद कुरेशी ने 1936 में यहाँ के विहार को अनावृत किया था ।

23. सन् 1952 में प्राचीन स्मारकों के पार्श्व में नवीन बौद्ध विहार श्रीलंका की महाबोधि सोसायटी द्वारा बनवाया गया तदुपरान्त वेनरेबिल एच० पन्नतिस्स नायक थेरो ने 'साँची' निर्देशन पुस्तिका प्रकाशित की ।

24. श्रीमती देवला मित्रा ने 'साँची' निर्देशक पुस्तिका 1957 में लिखी ।

केन्द्रीय पुरातत्व के अन्तर्गत आने पर स्तूप एक को पतले सीमेंट का मसाला मिला कर दृढ़ किया गया, प्राचीन मार्ग का जो स्तूप एक से तीन को जाता है, जीर्णोद्धार किया गया, संग्रहालय पहाड़ी के नीचे बना दिया गया, तथा स्मारकों के चारों ओर कंटकीय तार लगाकर उन्हें सुरक्षित करने की व्यवस्था की गई । 1953 (?) में श्रीलंका के बौद्ध संघ द्वारा निर्मित नवीन बौद्ध मन्दिर में सारिपुत्र व महामोग्गलायन की मंजूषायें रखी हुई हैं । प्रति वर्ष नवम्बर-दिसम्बर के अन्तिम दिनों में इन अवशेषों को स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करके पुनः रख दिया जाता है । इस अवसर पर देश विदेश से विशिष्ट अतिथिगण तथा अनेक बौद्ध उपासक यहाँ एकत्र होते हैं ।

यहाँ के प्राचीनतम स्मारकों में अशोक स्तम्भ तथा स्तूप एक के भीतर ईंट का बना हुआ स्तूप है । यह स्तम्भ (स्तम्भ क्रम संख्या 10) स्तूप एक के दक्षिण तोरण द्वार के निकट है जिसका ठूँठ यथा स्थान है तथा दो भाग एक चबूतरे पर रखे हुए हैं । इसका शीर्ष भाग साँची संग्रहालय में प्रदर्शित है । सम्पूर्ण स्तम्भ. अशोक के अन्य स्तम्भों के सदृश चुनार पत्थर का बना गुण्डाकार है तथा इस पर ओपदार पालिश है । समग्र स्तम्भ एक ही पत्थर को काटकर बनाया गया है । इस पर उत्कीर्ण अशोक का एक आदेश लेख है, जिसमें संघ विच्छेदन करने वालों को श्वेत वस्त्र पहिनाकर संघ से निष्कासित किया जाने का आदेश उत्कीर्ण है ।

यष्टि और शीर्ष में लघुसामंजस्य है । इन दोनों को एक बेलनाकार कील से जोड़ा गया था । यष्टि के शीर्ष पर घण्टा की आकृति है, जिसके ऊपर गोल अलंकृत पट्टी है । सर्वोपरि स्तम्भ को मंडित करने वाले चार सिंह हैं, जिनकी पीठ से पीठ लगी है । इसके फलके पर हंसों के चार जोड़े हैं ।

अशोक के समय का स्तूप वर्तमान स्तूप से आधे माप का था । इस स्तूप में मौर्यकालीन ईंटों का प्रयोग हुआ है तथा मौर्य स्तम्भ व स्तूप के फर्श का स्तर भी एक है । यहाँ से अशोक कालीन छत्र के जो चुनार पत्थर का ही है तथा जिस पर मौर्यकालीन पालिश भी है, कुछ अंश उपलब्ध हुए थे ।

द्वितीय शताब्दी ई० पू० इस स्तूप के क्षत विक्षत कर दिये जाने पर, इसका सम्पूर्ण रूप ही परिवर्तित कर दिया गया । इस समय इसके चारों ओर पत्थर का आवरण, नीचे तथा ऊपर के सोपान, वेदिका, प्रदक्षिणा पथ, हर्मिका, छत्रावलि आदि बनाये गये

थे। ऊपर की वेदिका तथा सोपान के बाह्य भाग अलंकृत हैं। नीचे की वेदिका में चार दिशाओं में चार द्वार बने हुये हैं। वेदिका की निर्माण विधि को देखने से स्पष्ट है कि यह काष्ठ-निर्माण कला की प्रतिलिपि है। वेदिका तथा फर्श के पत्थरों पर अनेक दानियों के नाम उत्कीर्ण हैं। प्रथम शताब्दी ई० पू० में स्तूप के चारों तोरणद्वार बनाये गये थे। गुप्त काल में (450 ई० सन् के पूर्व) इन चारों द्वारों के भीतर बैठी हुई चार बुद्ध प्रतिमायें स्थापित की गईं थीं, प्रत्येक प्रतिमा के दोनों ओर एक-एक परिचारक है। इनके आभामण्डल अतीव परिष्कृत हैं, जो बड़ी कुशलता से उत्कीर्ण किये गये थे। इस स्तूप का व्यास 120 फीट, ऊँचाई 54 फीट तथा तोरणद्वारों की ऊँचाई 28 फीट है। सर्वप्रथम दक्षिण द्वार का निर्माण किया गया होगा, जैसा कि अशोक स्तम्भ तथा ऊपर जाने के लिए सोपान से विदित होता है। तदुपरान्त क्रमशः उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चिमी द्वार बनाये गये। इन सब द्वारों में उत्तरी द्वार का अधिकांश भाग मौलिक रूप में सुरक्षित है। दक्षिण द्वार पर एक लेख से ज्ञात होता है कि उसे विदिशा के हाथीदाँत का काम करने वालों ने बनाया था।

प्रत्येक तोरण द्वार के दोनों वर्गाकार स्तम्भ जिनके शीर्ष पर गज तथा यक्ष मूर्तियाँ हैं, तीन पादांगों से सम्बद्ध हैं, जिनके दोनों सिरों में मारगोल हैं। पादांगों के मध्य चार खड़े पाषाण-खण्ड लगे हैं। इनके मध्य की रिक्तता अश्वारोहियों तथा गजारोहियों की आकृतियों द्वारा भर दी गई है। सर्वोपरि त्रिरत्न, धर्मचक्र, यक्ष हैं। सबसे नीचे के पादांगों तथा स्तम्भ शीर्षों के मध्य में लावण्यपूर्ण शाल भंजिकायें हैं। पूर्वीद्वार पर बनी शालभंजिका की मनोहर आकृति, उन्नत उरोज, अलंकृत तन तथा कटी हुई घुँघराली अलकें अतीव आकर्षक हैं।

तोरण द्वारों पर दैनिक जीवन के अतिरिक्त बुद्धजीवन से सम्बद्ध कहानियाँ, मानुषीबुद्ध तथा जातक कथाओं के दृश्य हैं, जिनमें षड्दन्त, महाकवि, विश्वन्तर, सामजातक विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी आकृतियों में स्तूप दो की अपेक्षा, जो स्तूप एक के पूर्व निर्मित किया गया था, परिष्कृतता दृष्टिगोचर है। पूर्वाकृतियों में केवल सामने का रूप ही बन पता है, जब कि इन मूर्तियों में सुनम्यता के अतिरिक्त, उनकी विभिन्न मुद्राओं में स्वातंत्र्य का आभास होता है।

स्तूप तीन, मुख्य स्तूप के उत्तर पूर्व में लगभग 50 फीट की दूरी पर है। इसका व्यास 49 फुट 6 इंच तथा ऊँचाई 27 फुट है। इसमें एक ही तोरण द्वार है। मुख्य स्तूप के सदृश ही इसके सोपान, वेदिका, हर्मिका तथा छत्र भी द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व में निर्मित किये गये थे। तदुपरान्त नीचे की वेदिका तथा प्रथम शताब्दी ई० सन् में 17 फुट ऊँचा द्वार बनाया गया। इसका उल्लेखनीय दृश्य नन्दन वन है जो नीचे के पादांग पर उत्कीर्ण है।

यह कहा जाता है कि इस स्तूप के मध्य से कनिंघम को सारिपुत्त तथा मौदगलायन के अवशेष पत्थर के दो बक्सों में रखे हुये प्राप्त हुये थे। प्रत्येक बक्स के ढक्कन पर क्रमशः

सारिपुत्स तथा महामोगलानस उत्कीर्ण है। वास्तव में इन दोनों की धातु मंजूषायें सतधारा के स्तूप दो से उपलब्ध हुई थीं।

स्तूप दो पहाड़ी के उत्तरी ढलान पर प्राचीन मार्ग के निकट लगभग 350 फीट की दूरी पर है। यह स्तूप, स्तूप तीन के माप का है किन्तु इसमें कोई तोरण द्वार नहीं है। इसकी नीचे की सोपान वेदिका तथा उसमें बने चार द्वार ही सुरक्षित हैं। ऊपरी भाग विनष्ट हो चुके है। वेदिका पर उत्कीर्ण लेखों तथा निम्न उद्भृत मूर्तियों के ढंग से इस स्तूप का निर्माण काल ईसा पूर्व की द्वितीय शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश का अनुमाना गया है। इस पर फुलकारी के अतिरिक्त, यक्ष, यक्षी, किन्नर तथा अश्वमुखी यक्षी, नाग, गजलक्ष्मी, मनुपाकृति सिंह, मत्स्य, पक्षी आदि भी विभिन्न आकृतियाँ हैं। अश्वारोहियों के पैर रकाबों में डले हुये दिखलाये गये हैं। रकाबों का प्रयोग, इतने प्राचीन समय में विश्व में कहीं नहीं देखा गया है। इस प्रकार की एक रकाब मुख्य स्तूप के उत्तरी द्वार के पृष्ठ भाग से भी देखी जा सकती है। इस स्तूप में बुद्ध के जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सांकेतिक चित्रण है।

मुख्य स्तूप की अपेक्षा इस स्तूप में लोककला का विशुद्ध चित्रण है, जिसमें सरलता अकृत्रिमता, निष्ठा तथा अलंकृत सौन्दर्य स्पष्ट है। समकालीन कला में यहाँ की फुलकारी अद्वितीय है। मनुपाकृतियों में 'स्मृति चित्र' का आश्रय लिया गया है जिसके कारण उनमें शरीरीय यथार्थता का अभाव है। किन्तु कुछ आकृतियाँ जो मुख्य स्तूप के समकालीन है, अधिक परिष्कृत हैं।

इस स्तूप से भी कनिंघम को धातु मंजूषा प्राप्त हुई थी, जिसमें "अर्हत कश्यप गोत्र तथा आचार्य वात्सी सुविजयत के साथ सभी आचार्यों के धातु अवशेष" पाये गये। जिस बक्स के ढक्कन पर यह लेख उत्कीर्ण था, उसके भीतर तीन छोटी धातु मंजूषायें प्राप्त हुई थीं, जिन पर दस संतों के नाम लिखे हैं तथा जिनमें भीतर संतों के जले हुए अस्थि अवशेष थे।

मंदिर 18, मुख्य स्तूप के दक्षिण द्वार के सम्मुख एक ऊँचे चबूतरे पर शुंग कालीन गज पृष्ठाकार मंडप की नींव पर निर्मित किया गया है। इसके आठ ऊँचे-ऊँचे स्तम्भ, एक कुड्य-स्तम्भ तथा एक पादांग अभी तक अक्षत है जो सातवीं शताब्दी ई० सन् में बनाये गये थे। मध्य वीथी के यह वर्गाकार स्तम्भ 17 फुट ऊँचे हैं तथा ऊपर की ओर क्रमशः पतले होते जाते हैं। लगभग दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी में इसके गजपृष्ठ के फर्श को ऊँचा किया गया तथा मुक्तहस्त से अलंकृत द्वार स्तम्भ लगाये गये थे।

मंदिर 17, उपर्युक्त मंदिर के निकट उत्तर-पूर्व में है। नीचे आधार पर, जिसमें गढ़े हुये पत्थर लगे है, एक वर्गाकार गर्भगृह तथा चार स्तम्भों का मण्डप है। गर्भगृह की छत सपाट है। इस मंदिर में गुप्त शैली के अनुकूल मंडप-स्तम्भ नीचे वर्गाकार से प्रारम्भ होकर अष्ट तथा सोडष भुजी हो जाते है तथा घण्टाकार कमल के ऊपर फल का खण्ड चार सिंह आकृतियों से सुसज्जित है। इन चार सिहों के आठ शरीर हैं। गर्भगृह के द्वार

स्तम्भों पर फुलकारी सुशोभित है। इस समय इसमें कोई प्रतिमा नहीं है, यद्यपि 1851 ई० सन् में बुद्ध प्रतिमा का अधोभाग देखा गया था।

इस मंदिर का अपना ही वैशिष्ट्य है, जिसमें संरचनात्मक औचित्य, संतुलन, अलंकार नियंत्रण आदि प्रशंसनीय है। मंदिर 31, स्तूप पाँच के निकट पूर्व की ओर है। ऊँचे चबूतरे पर बने स्तम्भों वाले इस आयताकार मन्दिर की छत भी सपाट है तथा इसमें दो कमलों पर आसीन बुद्ध की प्रतिमा है जिसका आभा मण्डल अत्यन्त परिष्कृत है। मौलिक रूप में यह मंदिर छठी-सातवीं शताब्दी ई० सन् में निर्मित हुआ था, किन्तु कमलासन दो अर्ध स्तम्भों तथा दो मध्यस्थ स्तम्भों के अतिरिक्त शेष भाग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में बनाया गया था। ऊँचे चबूतरे पर पहुँचने के लिये दक्षिण की ओर सीढ़ियाँ बनी हैं।

इन्हीं सीढ़ियों के समीप चौथी-पाँचवी शताब्दी ई० सन् की एक नागी प्रतिमा है, जो कहीं अन्य स्थान से यहाँ लाई गई है।

मंदिर तथा विहार 45 पहाड़ी के पूर्वी क्षेत्र में हैं। यह विशाल मंदिर दो कालों में निर्मित हुआ था। सातवीं-आठवीं शताब्दी के बने चबूतरे का एक भाग तथा उत्तर, दक्षिण व पश्चिमी कोष्ठ, आँगन का फर्श, बरामदे के किनारे के पत्थर आदि मौलिक मंदिर के अवशेष हैं। एक अग्निकाण्ड के पश्चात् दसवीं-ग्यारहवी शती में आँगन के फर्श का स्तर तथा मौलिक प्रकोष्ठों की दीवारों को ऊँचा किया गया। आँगन से तीन फीट की ऊँचाई पर नया बरामदा बनाया गया।

बाद में बनाये गये मंदिर में वर्गाकार गर्भगृह है, जिसका शिखर खोखला है। इसकी दीवारों के बाह्य भाग पर मूर्तियों के लिये आले हैं। द्वार स्तम्भ तथा देहली पद्म और फुलकारी से अलंकृत है। यहाँ पर गंगा-यमुना की आकृतियों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण अभिप्रायों को अपनाया है। गर्भगृह में पद्मासीन बुद्ध भूमि स्पर्शमुद्रा में हैं।

विहार 51, मुख्य स्तूप के पश्चिमी द्वार के सम्मुख 24 फुट नीचे के शिला फलक पर बना है। यह 109 फीट × 107 फुट 3 इंच है, जिसके आँगन के चारों ओर प्रकोष्ठ हैं तथा पूर्व की ओर मुख्य द्वार व पश्चिम की ओर छोटा द्वार है। इसी विहार में महेन्द्र ने श्रीलंका जाने के पूर्व कुछ समय व्यतीत किया था।

उदयगिरि

उदयगिरि पहाड़ी बेसनगर से तीन किलोमीटर तथा साँची से सीधे मार्ग पर छै किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इसका सामान्य दिग्-विन्यास उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व है। इसकी अधिकतम ऊँचाई उत्तर-पूर्व में 350 फुट है। इसका मध्यभाग, गुफा क्रमांक 6, 7 के निकट, अत्यधिक अवनत है, जहाँ 12 फुट गहरा तथा 100 फुट लम्बा एक सँकरा मार्ग काटकर बनाया गया था, जिसका उत्तरी द्वार स्तम्भ कनिंघम ने देखा था,[1]

---

1. कनिंघम : आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट 1874–75 एवं 1876–77, पृ० 46–56.

किन्तु अब उसका अवशेष मात्र ही है। यह पहाड़ी नरम श्वेत वालुकाश्म की है, जिसमें समतल परतें हैं, जिसके कारण इसके पूर्वी भाग में अनेक शैलकृत गुफाओं का निर्माण सहज हो सका है। यहाँ पर कुल वीस गुफायें है, जिनमें अधिकांश छोटी हैं, किन्तु प्रत्येक के सम्मुख मौलिक रूप में मंडप रहे होंगे। इन गुफाओं में गुप्तकालीन कला का क्रमिक विकास मिलता है।

प्रातःकालीन सूर्य रश्मियाँ सीधी गुफाओं को प्रकाशित करती हैं, सम्भवतः इसी कारण इस स्थान का नाम उदयगिरि पड़ा। इन गुफाओं में दो जैन धर्म तथा शेष हिन्दू धर्म की हैं। इस पहाड़ी पर मौर्य, शुंग व नागकालीन अवशेष भी देखे गये हैं जिनमें बौद्ध स्तूप भी हैं।

गुफा 1 : यह एक बनावटी गुफा मंदिर है, जिसकी एक दीवार तथा मण्डप बनाया हुआ है किन्तु छत का शिला-फटक प्राकृतिक है। इसका गर्भगृह 7 फुट × 6 फुट है तथा चार स्तम्भों पर खड़ा मण्डप 7 वर्ग फीट है। गर्भगृह की मूल प्रतिमा पीछे की दीवार में शैल कृत थी, जो विनष्ट हो चुकी है। कनिंघम ने एक खड़ी प्रतिमा का आकार स्पष्ट रूप से देखा था।[1] किन्तु अब उसके स्थान पर एक अन्य जैन प्रतिमा है। यह गुफा शिल्प शास्त्र की दृष्टि से उत्कृष्ट है क्योंकि इसमें गुप्तकाल के मंदिर स्थापत्य का प्रारंभिक रूप दर्शित है।

गुफा 2 व 3 : अत्यधिक अपक्षीण हो चुकी है। इनका आकार भी वहुत छोटा है।

गुफा 4 : गुफा 3 के दाहिनी ओर 41 फुट की दूरी पर यह गुफा है, जिसे कनिंघम ने वीना गुफा कहा है क्योंकि इसके द्वार पर वीणाधारी पुरुषाकृति है। इसका गर्भगृह 13 फुट 11 इंच × 11 फुट 8 इंच है तथा अलंकृत द्वार 6 फुट ऊँचा और 2 फुट $3\frac{1}{4}$ इंच चौड़ा है। इसके द्वार स्तम्भों के ऊपर का लिंटल स्तम्भों को दोनों ओर अतिछादित किये है, जिसमें काष्ठद्वार की प्रणाली का आभास होता है। द्वार चौखट पर तीन पंक्तियों की अलकृत गढ़ाई है। गर्भगृह में एक-मुखलिंग प्रतिष्ठापित है जो शिल्पशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसके मस्तिष्क पर तीसरे नेत्र का चिन्ह मात्र है, जटाओं में चन्द्रमा बनाने की पौराणिक पद्धति का यहाँ प्रादुर्भाव नही हो सका था। अतः यदि इस गुफा को नागकालीन कृति कहा जाये तो अधिक युक्ति संगत होगा, क्योंकि डॉ० जायसवाल ने भूमरा व खोह की मूर्तियों को भारशिव नाग कालीन कहा है। इसके सम्मुख दो वड़े तथा दो छोटे स्तम्भों का मण्डप था। दो अर्ध स्तम्भ मण्डप की अनुरूपता में अभी तक अक्षुण्ण हैं। इस मण्डप से उत्तर दक्षिण में एक खुली गुफा है (10 फुट $3\frac{1}{2}$ इंच × 6 फुट $9\frac{1}{2}$ इंच) जो वीना गुफा के समकोण पर है। इसमें सप्तमातृकाओं की अस्पष्ट प्रतिमायें है।

गुफा 5 : अपेक्षाकृत वड़े आकार की है, जो 22 फुट लम्बी तथा 12 फुट 8 इंच ऊँची है किन्तु उसे अधिक भीतर तक नहीं काटा गया है। इसकी 3 फुट 4 इंच की गहराई

---

1. कनिंघम : आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट 1874-75 एवं 1876-77, पृ० 47.

के फलस्वरूप इसकी प्रतिमायें अरक्षित हैं[1] तथा शनैः शनैः उनका क्षय होता जा रहा है। गुफा 5 व 6 एक ही अहाते में हैं।

गुफा 5 की गणना संसार की सर्व प्रसिद्ध कला कृतियों में की जाती है। इसमें विष्णु के वाराह अवतार की एक विशाल प्रतिमा है, जिसका मनुष्य शरीर तथा वाराह-शीर्ष है। विष्णु वाराह अपने बाँये चरण से नागराज को दबाये हुये हैं, जिसके फण में 13 सर्पों के शीर्ष हैं। विष्णु का दाहिना हाथ कूल्हे पर तथा बायाँ घुटने के ऊपर रखा है। पृथ्वी देवी को वह अपने दाहिने दाँत पर धारण किये हुये हैं। नीचे बनी लहरें समुद्र का प्रतीक है, जहाँ से पृथ्वी को जैसे अभी-अभी उद्धार किया हो। नागराज के पीछे एक अन्य मूर्ति है जो किसी राजा की प्रतीत होती है। कनिंघम ने उसे समुद्र का मनुष्य रूप कहा है।[2] वाराह के शीर्ष के बायीं ओर स्वर्गिक संगीतज्ञ है। सामने दोनों ओर देवों तथा असुरों का समूह पृथ्वी के उद्धार के दृश्य को प्रसन्न होकर देख रहा है। इन मूर्तियों में ब्रह्मा, तथा नंदी पर आसीन शिव हैं। तीसरी पंक्ति में ऋषिगण हैं। इस गुफा के दाहिनी तथा बाईं भित्तियों पर गंगा यमुना अपने वाहनों, मकर व कछुआ पर स्वर्ग से अवतरित होती हुई दिखाई गई हैं, जहाँ वरुण अपने हाथ में घट लिये उनका स्वागत कर रहे हैं।

यहाँ पर इस पौराणिक कथा का चित्रण किया गया है जिसके अनुसार विष्णु ने जलमग्न पृथ्वी का वाराह अवतार लेकर उद्धार किया था।

गुफा 6 : इस गुफा के दाहिनी ओर है। इसकी बाह्य भित्ति के बाह्य भाग पर चंद्रगुप्त द्वितीय का गुप्त संवत् 82 में उत्कीर्ण अभिलेख है, जिनमें छगलग के पौत्र विष्णुदास के पुत्र सनकानीक सामन्त द्वारा दिये दान का उल्लेख है।[3] यह गुफा 14 फीट गहरी तथा $12\frac{1}{2}$ फीट चौड़ी है, जिसके सम्मुख 23 फुट 8 इंच लम्बा तथा 5 फुट 10 इंच गहरा बरामदा है। गुफा द्वार गुप्तकालीन प्रणाली के अनुसार अलंकृत है तथा दोनों ओर के अर्ध स्तम्भों पर गंगा की मूर्तियाँ थी। द्वार के बायीं ओर दो तथा दाहिनी ओर तीन फलक हैं। द्वार के दोनों ओर खड़े द्वारपालों का वेश तथा उनके घुँघराले बाल आदि समकालीन प्रथा के अनुसार ही बनाये गये हैं। द्वारपालों के आगे चतुर्भुज विष्णु की मूर्तियाँ हैं। दाहिनी ओर के तीसरे खंड में महिषासुर मर्दिनी है, जिसका केश विन्यास अतीव आकर्षक है।

इस गुफा के दाहिनी ओर एक छोटी गुफा है जो $8\frac{1}{2}$ फुट लम्बी है। इसमें सप्त-मातृकाओं की अस्पष्ट प्रतिमायें हैं।

गुफा 6 की भीतरी छत पर कनिंघम ने कुछ छोटे-छोटे अभिलेख पढ़े थे, जिनमें अग्नि-रक्षस, अलिखित, शिवदित्येन तथा सभरत स्पष्ट थे।

---

1. यहाँ की सभी गुफायें भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित हैं। गुफा 4 तथा 3 को धूप व वर्षा से सुरक्षित रखने का प्रयास किया जा रहा है।
2. कनिंघम; पूर्व निर्देशित, पृ० 48.
3. देखिये, उदयगिरि के अभिलेख।

गुफा सात के ऊपर की गोल चट्टान के कारण इसे तवा गुफा कहते हैं। इसकी लम्बाई 13 फुट 10 इंच तथा चौड़ाई 11 फुट 9 इंच है। इसकी पृष्ठ भित्ति पर एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिससे ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त के मंत्री वीरसेन ने इस गुफा का उत्खनन करवाया था।[1] अन्य गुफाओं के सदृश इसके समक्ष भी एक मण्डप था जो अब विनष्ट हो चुका है। उसी प्रकार द्वारपालों की आकृतियाँ अस्पष्ट हो गई हैं। किन्तु गुफा की छत में उत्कीर्ण विशाल पद्म अक्षुण्य है।

इस गुफा में उत्कीर्ण लेख से स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त द्वितीय अपनी दिग्विजय के समय यहाँ भी आया था तथा वह शिवभक्त था क्योंकि यह गुफा स्वयंभू की उपासना हेतु निर्मित की गई थी। चन्द्रगुप्त द्वारा मालवा विजय का यह अभिलेख एक मात्र प्रमाण है।

गुफाओं के इस समूह में गुफा 13 महत्वपूर्ण है, जिसमें शेषशायी विष्णु की 12 फीट लम्बी विशाल मूर्ति, अनंत नाग की विशाल कुंडली, गरुड़ मूर्ति तथा अन्य सात अस्पष्ट मूर्तियाँ हैं।

चौदह से अठारह क्रमांक की गुफाये बहुत छोटी छोटी हैं।

गुफा 19, अमृत गुफा के नाम से प्रसिद्ध है, जो पहाड़ी के उत्तर पश्चिमी भाग में है। यह 22 फुट लम्बी तथा 19 फुट 4 इंच चौड़ी है। सवत् 1093 तक इस गुफा में विष्णु पूजा होती थी, जैसा इसके एक अभिलेख से विदित होता है। इसकी छत वर्गाकार स्तम्भों पर आधारित है, जो 8 फुट ऊँचे हैं। इनके शीर्ष अत्यधिक अलकृत हैं। इसकी छत नौ वर्गाकार खण्डों में विभाजित हैं। इसका द्वार अन्य गुफाओं के द्वारों की अपेक्षा अधिक अलंकृत है। लिंटेल के ऊपर समुद्र मंथन का दृश्य है जो अब अस्पष्ट हो रहा है। इस दृश्य के कारण ही इस गुफा को 'अमृत गुफा' कहा जाने लगा क्योंकि समुद्र मंथन से अमृत निकला था।[2] इसके सन्मुख का मण्डपदो विभिन्न कालों में बना प्रतीत होता है। कुछ स्तम्भों के अवशेष अभी तक विद्यमान है। इस गुफा के अलंकार आदि से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ की सभी गुफाओं के पश्चात् इसका उत्खनन किया गया था।

गुफा 20 पहाड़ी के ऊपर उत्तर-पश्चिमी भाग में है। इसमें जैन प्रतिमाये तथा गुप्त संवत् 106 का अभिलेख है, जिसमें शंकर द्वारा पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। इसकी लम्बाई 50 फुट तथा चौड़ाई 16 फुट है। अनगढ़ पत्थरों की भित्तियों द्वारा इसे पाँच भागों में विभक्त किया गया है।

पहाड़ी की इसी कगार के निकट 6 फुट × 2 फुट वर्ग का एक छोटा सा जलकुण्ड है।

गुफा 20 के निकटवर्ती भाग में अनेक छोटी-छोटी प्राकृतिक गुफाये हैं, जिनमें कुछ ऐतिहासिक काल के रगीन चित्र हैं, तथा कुछ मनुष्याकृतियाँ व एक स्तम्भ उत्कीर्ण हैं। इन्हीं में से एक में संवत 1875 में उत्कीर्ण नागरी लिपि में एक अभिलेख हैं। एक अन्य

---

1. देखिये, उदयगिरि के अभिलेख।
2. वही।

अभिलेख संस्कृत भाषा में है। गुफा 20 के दक्षिण की ओर एक चट्टान पर एक सूर्य वि० सं० 1874 में उत्कीर्ण किया गया था, जिसके नीचे 10, 11, 12 आदि अंक हैं।

गुफा 10 से 20 तक जाने के लिये पहाड़ी पर सीढ़ियाँ बनी है, जो एक ओर गुफा 20 को जाती हैं तथा दूसरी, जो पहाड़ के उपर बने आधुनिक रेस्ट हाउस तक पहुँचती है। यहाँ से कुछ ही दूरी पर एक विशाल मंदिर के भग्नावशेष हैं। इसके समक्ष के विशाल स्तम्भ का निम्न भाग अपने मूल स्थान में विद्यमान है। इसके अन्य भाग जिसमें इसका सिंह युक्त शीर्ष भी था, कनिंघम ने पहाड़ी के विभिन्न स्थानों में देखे थे। बौद्ध स्मारकों के अनेक भग्नावशेषों का भी उन्होंने उल्लेख किया है।[1]

इस पहाड़ी का सबसे अधिक रमणीक स्थल बेस नदी का तटवर्ती भाग है। गुफा बीस के निकट से यहाँ तक अनेक प्राकृतिक गुफायें अभी तक अक्षुण्य हैं। अगस्त 73 में इस स्थान को देखने गया था। उस समय बेस नदी अपने यौवन के चरम उत्कर्ष में थी। बेस नदी जहाँ से पश्चिम की ओर मुड़ती है, वहाँ एक बड़ा प्राकृतिक घाट है। ऐसा प्रतीत होता था जैसे बेस नदी उदयगिरि की चरण रज लेकर, उसके घाट से बार-बार आलिंगन कर किल्लोलें करने में निमग्न हो। इस प्रेमक्रीडा को देखकर समीपवर्ती क्षेत्र में विचरित मयूर स्वयं प्रेम-विभोर नृत्य करते देखे गये। बेस नदी अँगड़ाई लेती हुई अभिसार का भाव प्रदर्शित करती तथा योवनोन्माद में सभी कुछ आलिंगन करती दिखाई दे रही थी। कोई आश्चर्य नही कि कालिदास ने स्वयं इस मादक वातावरण का सान्निध्य ग्रहण करके ही लिखा हो :

> नीचैराख्यं गिरिमधिवसे स्तत्र विश्राम हेतो
> स्त्वत्सपर्कात्पुलकितमिव प्रौढ़ पुष्पैः कदम्बैः ।
> यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलो द्गारिभिर्नागराणा
> मुद्दामानि प्रथयतिशिलाऽस्मभिर्यौवनानि ।।[2]

(हे मेघ ! वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच' नाम की पहाड़ी पर थकावट मिटाने के लिये उतर जाना। वहां पर फूले हुये कदम्ब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा, मानों तुमसे भेंट करने के कारण उनके रोम-रोम फहरा उठे हों। उसी पहाड़ी की गुफाओं में से उन सुगन्धित पदार्थों की गंध निकल रही होगी जो वहाँ के छैले वैश्याओं के साथ रति करने के समय काम में लाते हैं। इससे तुम्हे यह भी ज्ञात हो जायेगा कि वहाँ के नागरिक कितना निस्सकोच भाव से यौवन का रस लेते हैं।) तथा

> विश्रान्तः सन्व्रज वन नदी तीरजातानि सिंच
> न्नुद्यानानां नवजल कणैर्यूथिका जालकानि ।
> गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्त कर्णोत्पलाना
> छायादानात्क्षण परिचितः पुष्पलावी मुखानाम ।।28।।[3]

---

1. कनिंघम, पूर्वनिर्देशित, पृ० 55–56.
2. मेघदूत, पूर्वमेघ, 27.
3. वही। गुफा क्रमांक 5 व 6 के सम्मुख एक छोटे से तालाब में वर्तमान समय में भी कमल खिले देखे जा सकते हैं।

(वहाँ थकावट मिटाकर तुम जंगली नदियों के तीरों पर उपवन में खिली हुई जुही की कलियों को अपने जल की फुहारों से सींचते हुये और वहाँ की फूल उतारने वाली उन मालिनियों के मुँह पर छाया करके थोड़ी सी जान पहचान बढ़ाते हुये आगे बढ़ जाना, जिनके कानों में लटकते हुये कमल की पंखुड़ियों के कनफूल उनके गालों पर बहते हुये पसीने से लग कर मैले हो गये होंगे।)

विदिशा

हेलियोदोरस स्तम्भ : संसार के सर्व प्रसिद्ध स्मारकों में इस स्तम्भ की गणना की जाती है क्योंकि यह न केवल वैष्णव धर्म का प्राचीनतम एक अक्षुण्य स्मारक है अपितु एक यवन राजदूत द्वारा वैष्णव धर्म स्वीकार करने का उदाहरण भी है।

विदिशा–अशोकनगर मार्ग पर विदिशा से तीन किलोमीटर की दूरी पर प्राचीन विदिशा नगर के बाहर, बेस नदी के तट पर तथा टीला नामक छोटे गाँव के निकट यह स्तम्भ अपने मूल स्थान पर स्थित है। इसे यहाँ के निवासी खामबाबा के नाम से जानते है तथा इसकी पूजा भी करते हैं। यदाकदा कुछ लोग बकरे की बलि भी चढ़ाते हैं।

मार्शल के समय में इस स्तम्भ के निकटवर्ती टीले पर खामबाबा का पुजारी प्रतापपुरी गोसाई था. जो यहाँ के पुजारी हीरापुरी की तीसरी पीढ़ी का था। हीरापुरी सन्यासी था, जो खामबाबा को मदिरा समर्पित करता था। भण्डारकर ने इस स्तम्भ की पूजा प्रारम्भ होने के विषय में लिखा है कि एक बार एक महत्वशाली व्यक्ति अपनी सेना के साथ सन्यासी हीरापुरी के स्थान पर आया, सन्यासी ने उस व्यक्ति से सदैव के लिये अपने साथ रहने की प्रार्थना की। आगतुक हीरापुरी के आतिथ्य से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने हीरापुरी की प्रार्थना स्वीकार कर ली तथा स्वयं को खामबाबा में परिवर्तित कर लिया। स्तम्भ की पूजा प्रायः भोई अथवा ढीमर जाति के लोग करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि खामबाबा मौलिक रूप से उन्ही की जाति का था। इसके प्रमाण में वह मकर स्तम्भ शीर्ष को, जो उस समय यहीं पर था, खामबाबा का रूप धारण करने के पूर्व ढीमर द्वारा पकड़ी हुई मछली समझते हैं। ढीमर ने जब खामबाबा का रूप धारण किया, मकर ने भी स्वयं को पत्थर में परिवर्तित कर लिया। यही कारण है कि इस स्तम्भ पर उस समय तैल मिश्रित गेरू आदि का गहरा लेप था।[1] वस्तुतः यह खंभ (स्तंभ) बाबा आधुनिक शब्द है।

ग्वालियर राज्य के समय में इस स्तम्भ के चारों ओर एक चबूतरा बना दिया गया था क्योंकि इसकी नींव के एक चतुर्थ भाग के उत्खनन से यह स्पष्ट हो गया था कि स्तम्भ एक ओर को थोड़ा सा झुका है। चबूतरे के ऊपर का भाग 5 मीटर ऊंचा है। यह भूरे गुलाबी स्फटिक बालुकाश्म का बना है तथा ऊपर की ओर घुण्डाकार है, जहाँ गरुड़ स्तम्भ शीर्ष शोभित था। स्तम्भ तथा शीर्ष अलग-अलग एकाश्म है। इसके अष्टाभुजी भाग

---

1. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट 1913–14, पृ० 187–88.

पर द्वितीय शताब्दी ई० पू० के दो अभिलेख हैं ।[1] इसका ऊपरी भाग क्रमश: सोडप तथा वत्तीस भुजी है व सर्वोपरि भाग गोल है । इसी प्रकार के एक अन्य गरुड़ध्वज की स्थापना सम्बन्धी अभिलेख[2] वर्तमान विदिशा की एक गली से प्राप्त हुआ था । सम्भवत: यह अभिलेख भी हेलियोदोरस स्तम्भ के समकालीन अन्य सात स्तम्भों का एक भाग रहा हो ।

हेलियोदोरस स्तम्भ के पार्श्व में जिस टीले पर पुजारी का मकान था, उसके नीचे अनगढ पत्थरों की चार दीवारें 33 मी० वर्ग की अनावृत की गई थीं, जो मिट्टी के बने चबूतरे की रक्षा हेतु निर्मित की गई थी । इस चबूतरे पर हेलियोदोरस स्तम्भ का समकालीन वासुदेव का मंदिर था । इस मंदिर के उत्तर की ओर अनगढ पत्थर की दीवार के समान्तर सात स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुये थे । सात स्तम्भों की इस पंक्ति के मध्यस्थ स्तम्भ के सम्मुख आठवाँ स्तम्भ था । हेलियोदोरस स्तम्भ इस पंक्ति के एक कोने पर था ।

इस स्थान से गरुड़ स्तम्भ-शीर्ष के अतिरिक्त, कल्प वृक्ष, मकर ताम्रपत्र, वेदिका आदि स्तम्भ शीर्ष भी एकत्र किये गये थे, जो उपर्युक्त स्तम्भों को सुशोभित करते रहे होंगे ।

अनगढ़ पत्थर की दीवारों के नीचे तथा कोरी मिट्टी के ऊपर एक वृतायत मंदिर की नीव मात्र लेखक द्वारा अनावृत की गई थी । इस मंदिर में वृत्तायत गर्भगृह वृत्तायत प्रदक्षिणापथ, अंतराल व मंडप थे । ई० पू० चौथी–तृतीय शताब्दी का विष्णु मंदिर काष्ठ का बनाया गया था, जो बाढ़ग्रस्त हुआ । इस समय इस स्थल पर खामबाबा के अतिरिक्त केवल अनगढ़ पत्थरों की बारक दीवार ही है । शेष भाग बालू तथा अलकाथीन से ढँका दिया गया है ।

लोहांगी पहाड़ी : विदिशा रेलवे स्टेशन के निकट 200 फीट ऊँची एक छोटी सी पहाड़ी है, जिसका ऊपरी आधा भाग सीधी कगार है किन्तु उसके ऊपर समतल है । यही कारण है कि यहाँ लगभग 100 मीटर के व्यास के भीतर मंदिर, मस्जिद आदि स्मारक हैं । इनके अतिरिक्त शुंगकालीन स्तम्भ शीर्ष भी किसी अन्य स्थान से लाकर यहाँ रख दिया गया है ।

एक कथानक के अनुसार राजा रुकमनगढ के प्रसिद्ध श्वेत अश्व का जिसके काले कान थे, लोहांगी चट्टान पर ही अस्तबल था । घण्टाकृति स्तम्भ शीर्ष को, जिसे पानी की कुण्डी कहते हैं, श्वेत अश्व के पानी पीने का द्रोण समझा जाता है । इस पहाड़ी का वर्तमान नाम लगभग 600 वर्ष पूर्व लोहांगी पीर के नाम के कारण प्रचलित हुआ है । लोहांगी पीर, शेख जलाल चिश्ती की उपाधि थी । आषाढ़ की पूर्णिमा को यहाँ एक मेला लगता है, जो सम्भवत: बुद्ध पूर्णिमा से सम्बन्धित हो सकता है ।[3]

---

1. देखिये, विदिशा से प्राप्त अभिलेख ।
2. वही ।
3. कनिंघम, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग–10, पृ० 34, 35.

लोहांगी पहाड़ी पर जाने के लिये अनेक सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, जिनका जीर्णोद्धार विदिशा नगरपालिका की ओर से किया जा रहा है। पहाड़ी के शिखर पर प्रवेश द्वार की कुछ सीढ़ियाँ पार करने के पश्चात बाई ओर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण का संरक्षण पट्ट लगा है। वहीं एक चौरस स्थान पर एक स्तम्भ शीर्ष कुछ वर्ष पूर्व निर्मित चबूतरे पर रखा है। इसकी ऊँचाई 3 फुट तथा व्यास 3 फुट $8\frac{1}{4}$ इंच है। इस पर शुंगकालीन शैली में उत्कीर्ण हंस आकृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

पहाड़ी के पश्चिमी भाग में एक मस्जिद है, जिसमें मालवा के महमूद प्रथम खिलजी तथा अकबर के क्रमशः 864 तथा 987 हिज्री के अभिलेख है। इस मस्जिद के सामने एक मंदिर है, जो चट्टान की वर्तमान सतह से नीचे है। इसके सभा मण्डप मे विभिन्न स्तम्भ हैं, जिनमे से कुछ आधुनिक हैं। आजकल यहाँ पुलिस विभाग की ओर से पूजा की व्यवस्था की जा रही है।

वर्तमान विदिशा शहर (प्राचीन भेलसा) के चारों ओर पत्थर की दीवारो का परकोट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे प्रयुक्त पत्थर प्राचीन स्मारकों के अंश हैं, जो परकोट निर्माण के समय एकत्र किये गये होंगे। इस परकोट में तीन द्वार हैं। पश्चिमी तथा दक्षिणी द्वार वेस व रायसेन द्वार कहलाते हैं। परकोट का अधिकाश भाग शनैः शनैः विनष्ट होता जा रहा है।

विदिशा नगर के एक कोने में पुलिस स्टेशन से दो किलो मीटर की दूरी पर एक स्मारक है जो विजय मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इस मदिर का निर्माण विजयरानी ने करवाया था। एक स्तम्भ पर पाये गये अभिलेख से ज्ञात होता है कि आरम्भिक मंदिर चर्चिका देवी का था। औरंगजेब के राज्यकाल में इस मंदिर का विध्वंस किया गया था तथा उसके ऊपर एक मस्जिद खड़ी कर दी गई थी, जिसमें विजय मंदिर के ही अधिकांश पत्थर प्रयोग में लाये गये। औरंगजेब ने इस नगर का नाम आलमगीरपुर तथा इस मस्जिद का आलमगीरी मस्जिद रखा था। इसकी लम्बाई $78\frac{1}{2}$ फीट तथा चौड़ाई $26\frac{1}{2}$ फुट है। प्राचीन मंदिर की नींव पर निर्मित होने के कारण इसमें प्रवेश करने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। प्रवेश द्वार एक छोटे से आयताकार कमरे में खुलता है जहाँ से एक भीतरी द्वार आँगन में जाने के लिये है। आँगन के पीछे के भाग मे चार पन्तियों के स्तम्भों का एक प्रार्थना मण्डप है, जिसमें 13 द्वार हैं।

सन् 196.–65 में इस स्मारक के दाहिनी तथा बाँई ओर एकत्रित मलवा हटाया गया था, जिसके फलस्वरूप मस्जिद के दाहिनी ओर विजय मंदिर का मुख्य द्वार अनावृत किया गया था। इस द्वार के निकट मलवे से अनेक मूर्तियाँ प्राप्त की गई। पिछले वर्ष यहाँ एक गणेश मूर्ति भी मिली थी, जिस पर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी का एक लेख भी है।

इस स्मारक के निकट एक बावली है, जो स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है; किन्तु अब विनष्ट होती जा रही है।

गुम्बज का मकबरा : प्राचीन परकोट के एक भाग में एक छोटा सा मकबरा है, जिसमें दो समाधियाँ हैं। इसकी छत पर गुम्बद होने के कारण ही इसका नाम गुम्बद का मकबरा हो गया। एक समाधि पर 1487 ई० स० का एक फारसी लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि यह एक धनी व्यवसायी की कब्र थी।

बड़ोह-पठारी : बड़ोह और पठारी ग्रामों के बीच में एक तालाब है अन्यथा ये एक दूसरे के निकट हैं।[1] प्राचीन समय में यह दोनों स्थान एक ही नगर के अंग थे। यहाँ के भग्नावशेष प्राचीन बड़नगर अथवा बारो की समृद्धि के परिचायक हैं।

विदिशा से 50 मील उत्तर-पूर्व, एरण से 13 मील दक्षिण पूर्व तथा कुल्हार रेलवे स्टेशन से 12 मील की दूरी पर बड़ोह ग्राम है, जिसके दक्षिण में एक विशाल तालाब है। इसके पूर्व में गड़ोरी पहाड़ी तथा दक्षिण में ज्ञाननाथ पहाड़ी है, जिसके पूर्व में अन्होरा पहाड़ी है। इसके भी आगे पूर्व में लपा-सपा पहाड़ी है। यह सभी पहाड़ियाँ एक अर्धवृत्त बनाती हैं जो केवल पूर्व दिशा में खुला हुआ क्षेत्र है। पश्चिम दिशा मे एक पर्वत श्रेणी गड़ोरी तथा ज्ञाननाथ पहाड़ियों को, जो लगभग 500 फीट ऊँची हैं, जोड़ती है। इस जोड़ने वाली पर्वत श्रेणी पर पठारी स्थित है।

इस एक वर्ग मील के क्षेत्र में अनेक जल स्रोत भी हैं। प्राचीन काल में इस प्रकार की आदर्श स्थिति विशाल नगरों के लिए उपयुक्त समझी जाती थी। बड़ोह के प्रमुख प्राचीन अवशेष गड़ामल मन्दिर, सोलह खम्भी मंडप, दशावतार सतमढ़ी तथा जैन मन्दिर है।[2]

गड़रमल मन्दिर : इस मन्दिर से सम्बन्धित अनेक कथानकों के विवरण बेग्लर ने दिये हैं। कनिंघम के द्वारा दी गई कथा निम्नलिखित है :

गड़रमल का निर्माण एक गड़रिये द्वारा हुआ था। एक बार जब यह गड़रिया अपनी बकरियाँ ज्ञाननाथ पर चराने के लिये लेकर गया था, उसने सन्त ज्ञान नाथ की बकरियों को बिना रखवाले के वहाँ विचरण करते पाया। अतः दिनभर उनकी देखभाल करने के पश्चात् उसने बकरियों को सन्त के पास पहुँचा दिया। सन्त ने प्रसन्न होकर गड़रिये को एक मुट्ठी भर जौ के दाने दिये किन्तु उसने उन दानों को संत के निवास के बाहर की चट्टान पर गुस्से में फेक दिया। जब गड़रिये की पत्नी ने यह वृतान्त सुना, वह तुरन्त ही गड़रिये के कम्बल को उठाकर चलने को तत्पर हुई, किन्तु आश्चर्यचकित स्त्री ने कम्बल से ढके उपलों को स्वर्ण रूप में पाया। उन दोनों को यह समझने में विलंब नहीं हुआ कि यह आश्चर्य संत की अनुकम्पा से ही हुआ है क्योंकि उसके दिये हुये जौ के दाने कम्बल में ही लिये गये थे। गड़रिये ने फेके हुए दानों के पास जाकर देखा कि सम्पूर्ण चट्टान जिस पर उसने वह दाने फेंके थे स्वर्ण की हो गई। इस प्रकार धन सम्पन्न गड़रिये

---

1. कनिंघम के अनुसार इन दोनों स्थानों की दूरी तीन मील है।
2. बेग्लर ने यहाँ तक विभिन्न मंदिरों के विषय में सर्वप्रथम उल्लेख किया था। देखिये, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट, भाग 7, पृ० 69.

ने संत की कृतज्ञता प्रकट करने के लिये एक विशाल मंदिर तथा तालाब का निर्माण करवाया। किन्तु तालाब में पानी न रहने के कारण उसने अपने दो पुत्रों, पुत्रवधू तथा पौत्र को बलि देकर तालाब को जलपूर्ण कर लिया।[1]

यहाँ के मंदिरों में गड़रमल मंदिर सबसे विशाल है। मूल रूप में यह हिन्दू मंदिर था जिसे इसके भग्न होने पर जैन मतावलम्बियों ने इसका पुनरुद्धार किया। यही कारण है कि इसका निचला भाग, जो लगभग नवीं शताब्दी में निर्मित हुआ था, 10-12 फीट की ऊँचाई से शिखर वाले भाग से भिन्न है। पुनरुद्धार करते समय हिन्दू तथा जैन प्रतिमाओं को अलग-अलग करने का प्रयास नहीं किया गया। यहाँ तक कि आमलक को भी विभिन्न छोटे-छोटे आमलकों के अंशों से मिलाकर बनाया है। प्रमुख सभामंडप की बनावट ग्वालियर के तैली के मंदिर के सदृश है। इस मंदिर का सर्वश्रेष्ठ भाग इसका अलंकृत तोरण द्वार था। अभाग्यवश, इसका अधिकांश भाग विनष्ट हो चुका है। इस मंदिर का पूर्ण रूप बहुत ही सुन्दर है।

यह मन्दिर सात अन्य छोटे मंदिरों के मध्यस्थ था, जिनके कुछ अवशेष मात्र ही दृष्टिगोचर होते हैं। इन छोटे मंदिरों में एक गणेश मंदिर था, जैसा कनिंघम द्वारा देखी गई आले में स्थापित एक गणेश मूर्ति से अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ से प्राप्त अन्य र्तियों में नवग्रह तथा सप्तमातृकायें हैं। आखेट के दृश्यों में मनुष्य व श्वान, मनुष्य व मृग ा शूकर पर आक्रमण करते हुये मनुष्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

सोलह खम्भी : तालाब के उत्तरी तट पर चार पंक्तियों में सोलह स्तम्भों पर खड़ा हुआ मण्डप है, जो नवी शताब्दी का प्रतीत होता है। इसकी छत सपाट है किन्तु 5 फुट ऊँची कुर्सी गढ़ी हुई है। सम्पूर्ण मण्डप 25 फीट वर्ग है। इसके स्तम्भ 1 फुट 3 इंच वर्ग हैं, जिनकी ऊँचाई 7 फुट 3 इंच है। स्तम्भों की प्रत्येक भुजा एक पूर्ण तथा एक अर्ध कमल से अलंकृत है। ग्रीष्मऋतु में शीतल पवन का आनन्द प्राप्त करने हेतु यह मंडप निर्मित किया गया प्रतीत होता है।

दशावतार मंदिर के अब खण्डहर ही शेष रह गये हैं। इसमें विष्णु के दस अवतारों में से कूर्म, वाराह, नृसिह, चतुर्भुज, परशुराम, राम तथा कल्की की प्रतिमायें यहाँ से उपलब्ध हुई हैं। कनिंघम ने यहाँ डोल नामक यात्री का नाम उत्कीर्ण किया हुआ पढ़ा था।

तालाब के उत्तर में दशावतार मंदिर के अतिरिक्त सात छोटी मढ़ियाँ हैं। कनिंघम ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है : इन मढ़ियों की पंक्ति में दाहिनी ओर की प्रथम मढ़िया के द्वार पर गरुड़ासीन विष्णु की प्रतिमा है। दूसरी में 5 फुट लम्बी, 2 फीट चौड़ी तथा 4 फीट ऊँची वाराह प्रतिमा है। तीसरी में कोई प्रतिमा नहीं है। चौथी में चतुर्भुज विष्णु हैं। पाँचवी प्रतिमारहित है। छठी में गरुड़ासीन विष्णु हैं। सातवीं भी प्रतिमा रहित है।

---

1. कनिंघम, पूर्व निर्देशित, पृ० 72–73.

जैन मंदिर : गड़रमल मंदिर के पश्चिम में जैन धर्म के छोटे मंदिरों का एक समूह है, जिसमें 25 देव मंदिर एक चबूतरे के चारों ओर हैं। कनिंघम के समय यह चबूतरा खुला हुआ मण्डप था। उन्होंने इन देव मंदिरों द्वारा बनाये गये बाड़े के बाहर एक अभिलेख देखा था, जो संवत 933 में उत्कीर्ण किया गया था। इसमें एक नये बाजार के संस्थापन का उल्लेख है। अब इन मंदिरों के अवशेष ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यहाँ से एकत्रित जैन मूर्तियाँ इसी अहाते में रखी है।

संवत् 1113 तथा 1134 के अन्य दो अभिलेखों का उल्लेख द्विवेदी ने किया है जो जैन मंदिर में उत्कीर्ण पाये गये है।

पठारी : यहाँ की पहाडी में कृत सप्तमातृकाओं की पट्टिका है, जिसमें राजा जयत्सेन के समय का एक शिलालेख है। यह गुप्तकालीन लिपि में है। अभाग्यवश इसमें वर्ष तथा मास अस्पष्ट हैं।[1] भीमगदा स्तम्भ, एकाश्म है जिसका शीर्ष घण्टाकृत है जो 8 फुट 3 इंच ऊँचे तथा 2 फुट 9 इंच वर्ग के चबूतरे पर स्थित है। इस पर एक बड़ा अभिलेख है, जो लक्ष्मीनारायण की प्रार्थना से प्रारम्भ है। इसमें गरुड़ध्वज के निर्माण का उल्लेख है तथा संवत् 917 में उत्कीर्ण किया गया था।

एकाश्म स्तम्भ के निकट एक छोटा मंदिर है जिसके द्वार के ऊपर गरुड़ासीन विष्णु की मूर्ति है। इस मंदिर के भीतर शिवलिंग प्रतिष्ठापित है। अतः यह कोटकेश्वर महादेव का मंदिर कहलाता है। यहाँ से अनेक मूर्तियाँ एकत्र की गई हैं, जिनमें कुछ सतीस्तम्भ भी हैं।

यहाँ से एक मील पूर्व मे गडोरी पहाड़ी के नीचे एक अन्य शिव मंदिर है, जो कोटे-श्वर महादेव को समर्पित है। गर्भगृह 12 फुट $\times 8\frac{1}{2}$ फुट है, जिसके सम्मुख दो स्तम्भों का एक मण्डप है। द्वार पर नटराज की प्रतिमा है। गर्भगृह में शिवलिंग है। यहाँ भी अनेक मूर्तियाँ पाई जाती है। इस मंदिर की योजना (प्लान) गुप्तकालीन मंदिरों के सदृश है, किन्तु इसमें एक शिखर भी है जो मंदिर की चौड़ाई से दुगुना ऊँचा है। कनिंघम ने इसे आठवी-नवी शताब्दी का अनुमाना है।

यहाँ की एक बावड़ी में संवत् 1733 का एक लेख है जिसमे राजा महाराजाधिराज पिरथीराज देवजू तथा उनके भाई श्री कुमार सिह देवजू के काल में बावड़ी निर्माण का उल्लेख है।

बड़ोह में एक स्थानीय संग्रहालय भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से बनाया जा रहा है, जिसमें यहाँ से एकत्रित मूर्तियों को प्रदर्शित किया जायेगा।

उदयपुर

मध्य प्रदेश के महत्वपूर्ण स्थानों में उदयपुर एक विशेष आकर्षण है, जहाँ देश-विदेश के पर्यटक व विद्वान् बहुत बड़ी संख्या में प्रति वर्ष पहुँचते है। यह विदिशा नगर से 34 मील उत्तर में है तथा बरेठ रेलवे स्टेशन से 3 मील व बसोदा से आठ मील की दूरी पर है।

---

1. ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट, संवत् 1982.

यहाँ से प्राप्त शिलालेखों से विदित होता है कि उदयपुर को राजा भोज के पुत्र परमार राजा उदयादित्य ने बसाया था और उसी ने उदयेश्वर महादेव का मंदिर तथा उदय-समुद्र तालाब भी बनवाया था। उदयेश्वर अथवा नीलकंठेश्वर मंदिर का प्रारम्भ संवत् 1116 में हुआ था तथा संवत् 1137 में पूर्ण होने पर उसके गगनचुम्बी शिखर पर ध्वजा-रोहण किया गया था।

उपर्युक्त तीन निर्मितियों के विषय में एक अनुश्रुति प्रसिद्ध है। एक बार राजा उदयादित्य ने आखेट के समय एक सर्प को जंगल में प्रज्वलित अग्नि के मध्य बेचैन अवस्था में पाकर उसे एक बाँस की सहायता से बाहर निकाला। अग्नि के ताप से मूर्छित सर्प ने पानी माँगा, किन्तु वहाँ पानी न मिल सकने पर उसने राजा के मुख में अपना शीर्ष रखने की आज्ञा माँगी। राजा ने सर्प से वचन लेकर कि वह उसके उदर में प्रवेश नहीं करेगा, सर्प को अपने मुँह में रखने की आज्ञा दे दी। तुरंत ही सर्प उदर में प्रवेश कर गया। इस व्यथापूर्ण अवस्था में राजा ने काशी जाकर प्राण त्यागने का निश्चय किया। मार्ग में उसने वर्तमान उदयपुर में जहाँ उस समय दो चार झोपड़े ही थे, विश्राम हेतु पहाड़ी के सुगम ढलान पर अपना खेमा लगाया। रात्रि में जब उसकी रानी राजा के लिए बिजन डुला रही थी, उसने निकटवर्ती वृक्ष के नीचे विशाल निधि की रक्षा करने वाले सर्प तथा राजा के उदरस्थ सर्प का वार्तालाप सुना। दोनों सर्पों ने अनायास ही एक दूसरे को सहजता से मारे डाले जाने के उपाय कह डाले। वृक्ष के नीचे रहने वाले सर्प को गरम तेल डालकर मारा डाला जा सकता था, तथा पेट के सर्प को काली मिर्च, नमक तथा छाछ द्वारा नष्ट किया जा सकता था। राजा के जागने पर रानी ने उपर्युक्त विधि से तैयार किया छाछ पिला दी और सर्प के टुकड़े बाहर आ गये। तदुपरान्त निधि को प्राप्त करने के लिये दूसरे सर्प के छिद्र में गरम तेल डालकर मार डाला गया। इस प्रकार राजा स्वस्थ ही नहीं हुआ अपितु अपार धनराशि भी उसके हाथ लगी। इसी धनराशि से उसने उदयपुर नगर को बसाया और तालाब तथा उदयेश्वर का निर्माण करवाया।[1]

उदयेश्वर के मंदिर के चारों ओर एक दीवार है, जिसका बाह्य भाग अलंकृत था तथा भीतरी दीवारों के चारों ओर बैठने के लिये पीठ का आयोजन है। सम्भवतः इसमें चार द्वार थे, किन्तु अब केवल प्रमुख द्वार ही खुला है, शेष बन्द हैं। प्रत्येक द्वार के दोनों ओर द्वारपाल चित्रित हैं। दीवार के भीतर विशाल वर्गाकार प्रांगण में, इस मंदिर के अति-रिक्त उसके प्रत्येक कोने में एक छोटा मंदिर था। इस प्रकार पंचायतन शैली का यह मंदिर कहा जा सकता है। प्रत्येक दिशा में एक-एक वेदी अथवा मण्डप भी है जिस पर वेदपाठ किया जाता था। उत्तर पश्चिमी कोने का छोटा मंदिर तथा पश्चिम की वेदी मुहम्मद तुगलक के समय नष्ट कर दी गई थी। उनके स्थान पर एक मस्जिद बनाई गई थी, जैसा कि हिज्री 737 तथा 739 के दो अभिलेखों से प्रकट है। मंदिर के प्रमुख द्वार के सम्मुख जो पूर्व दिशा में है, निर्मित वेदी की छत, उदयेश्वर मंदिर की छत के सदृश ही है तथा अलंकृत स्तम्भ दर्शनीय हैं। सम्भव है इस वेदी पर नंदी प्रतिष्ठापित रहा हो।

---

1. संभवतः पंचतंत्र की एक समान कथा पर यह कथा आधृत है।

प्रमुख द्वार के अतिरिक्त उदयेश्वर मंदिर में अन्य तीन द्वार भी हैं जिनके लिये सीढ़ियों का आयोजन है। मंदिर में प्रवेश करते ही विशाल स्तम्भों का एक सभा मण्डप मिलता है, जिसमें तीन प्रवेश-मंडप है। गर्भगृह में एक विशाल शिवलिंग ऊँची वेदी पर प्रतिष्ठापित है तथा एक देवी प्रतिमा है जो बहुत बाद की है। शिवलिंग पर पीतल की चद्दर चढ़ा दी गई है, जिसमें मुखाकृति भी उभार दी गई है। वि० सं० 1841 के एक लेख के अनुसार महादाजी सिंधिया के सेनापति खाण्डेराव अप्पाजी ने यह चद्दर समर्पित की थी। गर्भगृह का द्वार समकालीन मंदिर स्थापत्य के अनुसार ही सुसज्जित है। मण्डप के प्रतिष्ठापित नंदी आधुनिक प्रतीत होता है।

प्रवेश द्वारों के स्तम्भों तथा आसनों पर ऐतिहासिक महत्व के अनेक अभिलेख हैं, जिनमें कुछ यात्रियों के उल्लेख भी है। गर्भगृह के ऊपर विशाल. सुसज्जित अद्वितीय शिखर है जिसके चारों ओर अनेक शिखरों के लघु रूप उसकी भव्यता को द्विगणित करते हैं।

मंदिर का बाह्य भाग अनेक मूर्तियों से शोभित है, जिसमें हिन्दू धर्म के विभिन्न देवी-देवता है। ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, कार्तिकेय अष्टदिकपालों तथा शिव-पार्वती की मूर्तियाँ है। यह मंदिर शिव को अर्पित है, अतः यहाँ पर शिव-दुर्गा आदि की प्रतिमाओं का आधिक्य है। शिखर के ऊपरी भाग में एक व्यक्ति की प्रतिमा है, जिसे इस मंदिर का स्थपति बताया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इतने भव्य मदिर के निर्माण से अर्जित पुण्य से उसे स्वर्गारोहण का अवसर प्राप्त हुआ है। सभामण्डप तथा प्रवेश मण्डपों पर भी यथोचित समाधि स्तम्भीय (सूची-स्तम्भीय) छते है।

आर्य शैली के शिखर मदिरों में उदयपुर का परिष्कृत मंदिर अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें प्रयुक्त लाल पत्थर से इसकी सुंदरता निखर उठती है। मंदिर के भीतर के कुछ स्तम्भ श्वेत पत्थर के बने हैं। भीतरी छत में उत्कीर्ण डिजाइनें, कतिपय मिथुन मूर्तियाँ, पुष्प वल्लरी आदि भी समकालीन युग की विशेषताओं के प्रमाण हैं।

उदयपुर के अन्य स्मारकों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

घड़ियालन का मकान या बीजामंडल : यह प्राचीन दो खण्ड का स्मारक है, जो उदयेश्वर का समकालीन था। सम्भवतः मंदिर का घण्टा बजाने अथवा अन्य किसी प्रकार की सूचना देने वालों के लिये इसका निर्माण किया गया था। इसमें संस्कृत का एक अभिलेख है, जो सूर्य स्तुति से प्रारम्भ होता है।

बारा-खम्भी : नगर के बाहरी छोर पर ग्यारहवी शताब्दी का एक मण्डप है जिसमें केवल 19 स्तम्भ हैं। यह एक मंदिर का अवशेष है जिसका गर्भगृह विनष्ट हुआ प्रतीत होता है। मण्डप के चारों ओर बैठने के लिये पीठ तथा ऊपर छाया के लिये छत भी है।

पिसनारी का मंदिर : गाँव के एक कोने में यह मंदिर है। कहा जाता है कि किसी बुढ़िया ने अनाज पीसकर जो धन एकत्रित किया था, उससे इसका निर्माण कराया। यह मंदिर उदयेश्वर के बहुत बाद निर्मित किया गया था।

शाही मस्जिद और महल : उदयेश्वर मंदिर के पूर्व में लगभग एक फर्लांग की दूरी पर इस मस्जिद के भग्नावशेष हैं। इसमें एक फारसी का लेख है, जिसमें जहाँगीर के समय इसके निर्माण का प्रारम्भ तथा शाहजहाँ के शासनकाल में हिज्री 10:1 (1632 ई०) इसके पूर्ण होने का उल्लेख है। इसके पार्श्व में एक महल के अवशेष हैं, जो संभवतः किसी मुगल कालीन राज्यपाल का निवास रहा होगा। यह स्मारक प्रारम्भिक काल में निर्मित किया गया था, जैसा कि उसकी अकृत्रिम तथा परिष्कृत शैली से स्पष्ट है। इसमें किया गया जाली का काम प्रशंसनीय है। इस महल के सम्मुख एक चबूतरे पर कुछ समाधियाँ हैं जो इसी महल से सम्बद्ध हैं।

शेरखाँ की मस्जिद : नगर के परकोट के अनेक द्वारों में से, पूर्वी द्वार का नाम मोती दरवाजा है, जिसके बाहर एक छोटी मस्जिद तथा समाधियों के अवशेष एक बड़े चबूतरे पर हैं। माँडू स्थापत्य शैली में निर्मित इस मस्जिद में लाल बलुआ पत्थर प्रयुक्त हुआ है। यहाँ से प्राप्त फारसी तथा संस्कृत के लेखो से ज्ञात होता है कि माण्डू सुल्तान गियासशाह खिलजी के प्रतिनिधि शेरखाँ ने हिज्री 894 में इसका निर्माण कराया था।

घुड़दौड़ की बावड़ी : मस्जिद के कुछ पूर्व में एक विशाल बावड़ी है, जिसमें संवत् 1701 का एक शिलालेख उत्कीर्ण है। बावड़ी से संबंधित मैदान संभवतः घुड़दौड़ के लिए था। बावड़ी की सीढ़ियों से स्पष्ट है कि घोड़े बड़ी सहजता से उसमें पानी पीने के लिये उतर सकते थे।

उदयपुर के निकट कुछ शैल्यकृत मूर्तियाँ हैं, जिनमें शिव की एक अपूर्ण प्रतिमा रावणतोर नामक स्थान में है। निकटवर्ती पहाड़ी में सप्तमातृकाओं का भी एक फलक है।

ग्यारसपुर : विदिशा से उत्तर पूर्व 35 किलोमीटर, विदिशा-सागर मार्ग पर ग्यारसपुर स्थित है। गुलाबगंज रेलवे स्टेशन से यह स्थान 23 कि० मी० दूर है। लगभग 8 से 10 वीं शताब्दी में यह एक महत्वपूर्ण नगर था, जैसा यहाँ के गौरवशाली भग्नावशेषों से ज्ञात होता है। यहाँ पर बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्म के अनेक अवशेष हैं।

अठखम्भा : ग्यारसपुर के पश्चिम में विश्राम-गृह के सामने अत्यन्त अलंकृत यह आठ स्तम्भ एक प्राचीन भव्य मन्दिर के अवशेष हैं, जिसका गर्भगृह, अंतराल आदि विनष्ट हो चुके हैं। इसके चार स्तम्भ सभामण्डप, अंतराल तथा दो अर्धस्तम्भ हैं। एक स्तम्भ पर संवत् 1039 का एक लेख है, जिसमें एक तीर्थयात्री का उल्लेख है। इसके निर्माण की पूर्वतम तिथि 900 ई० अनुमानी गई है।

व्रजमठ : अनोखे प्रकार का यह मन्दिर गाँव के दक्षिण-पश्चिम में स्थित है जिसमें तीन कोष्ठ एक ही पंक्ति में हैं। मध्यस्थ कोष्ठ 7 फुट 4 इंच लम्बा है तथा अन्य दो उनसे 1 फुट कम लम्बाई के हैं। इसके सम्मुख 16 स्तम्भों का एक मण्डप था, जिसकी प्रत्येक दिशा में एक बालकनी तथा पूर्व में सीढ़ियाँ थीं। आदि रूप में यह एक ब्राह्मण धर्म का मन्दिर रहा होगा, जैसा कि इसके आलों में रखी अनेक मूर्तियों से स्पष्ट होता है, किन्तु कनिंघम ने इन तीनों कोष्ठों में जैन मूर्तियाँ देखी थीं। उत्तर में शिव तथा गणेश, पृष्ठभाग

में शिव, चतुर्भुज विष्णु, वामन तथा वाराह अवतार तथा दक्षिण में नृसिंह अवतार व दुर्गा हैं। कोष्ठों के द्वारों पर ब्रह्मा, विष्णु तथा मध्यस्थ सूर्य हैं। सम्भवतः मुसलमानों द्वारा इसके विध्वंस कर दिये जाने के पश्चात जैन मतावलम्बियों ने मालादेवी के मन्दिर से मूर्तियां लाकर यहाँ प्रतिष्ठापित की थीं। मध्यस्थ कोष्ठ पर आमलक युक्त शिखर है। अन्य दोनों की छत अर्ध पिरामिड शैली में निर्मित मध्यस्थ शिखर से मिल जाती है। सम्पूर्ण स्मारक केवल 31 फुट वर्ग का है किन्तु देखने में माप से अधिक बड़ी प्रतीत होती है। यह लगभग 10वी शताब्दी में निर्मित किया गया था।

हिंडोला तोरण : यह एक अलंकृत तोरण द्वार है, जो किसी ब्राह्मणवादी मंदिर का अवशेष भाग है। दोनों स्तम्भों को मिलाने वाली चौखट भारतीय झूले के सदृश प्रतीत होती है, इसीलिये इसे हिंडोला तोरण कहते हैं। तोरण स्तम्भों के चारों भाग अलंकृत हैं जिनके नीचे के खण्डों में विष्णु के दशावतारों का चित्रण है। निकटवर्ती चार स्तम्भों की बँधनी पर सिंह तथा हाथी के शीर्ष हैं। यह चारों स्तम्भ तथा तोरण द्वार एक ही मंदिर के भाग हैं।

मालादेवी मन्दिर : एक पहाड़ी के ढलान पर जहाँ से लहलहाते खेतों भरी एक विशाल घाटी का मनोहारी दृश्य दर्शनीय है, ग्यारसपुर का सर्वश्रेष्ठ यह मन्दिर स्थित है। इस पहाड़ी के चरणों में बसे हुये गाँव से ऊपर चढ़ने व पहाड़ी को पार करने वाले दर्शक की सारी थकान इस रमणीक स्थल पर पहुँचते ही, शीतल समीर के साथ घाटी के किसी अज्ञात कोने में विलीन हो जाती है। धर्मोपासना में रत उपासक के लिये इससे अधिक उपयुक्त स्थान अन्य क्या हो सकता है।

यह भव्य व विशाल मदिर एक ऊँचे चबूतरे पर बना है जिसे एक धारक दीवार से दृढ़ किया गया है। इसमें मुख मण्डप, सभामंडप तथा गर्भगृह है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणापथ है। सभामंडप के ऊपर उत्तुंग शिखर है। इसके द्वार चौखट के ऊपर बनी मूर्तियों से विदित होता है कि यह मंदिर भी मूल रूप मे किसी हिन्दू देवी की उपासना हेतु निर्मित हुआ था, जो कालान्तर में ब्रजमठ मदिर के समान जैन मतावलम्बियों ने अधिकृत कर लिया था।

ग्यारसपुर के उत्तर में लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर एक पहाड़ी के ढाल पर बौद्ध स्तूपों के भग्नावशेष है, जिनमें एक स्तूप कुछ सुरक्षित अवस्था में है।

ग्यारसपुर से विभिन्न धर्मो की प्रतिमायें अभी तक मालादेवी मंदिर के अहाते में रखी हुई हैं। ग्वालियर तथा साँची संग्रहालयों में भी कुछ महत्वपूर्ण मूर्तियाँ संरक्षित हैं।

मानसरोवर तालाब तथा गढ़ी 17वीं शताब्दी में गोंड सरदार मानसिंह के द्वारा निर्मित कही गई है, किन्तु मुसलमानों ने गढ़ी का विस्तार किया था।

अठखम्भे के निकट ईसाइयों की एक समाधि है, जिसमें सार्जेट मेजर जान स्नो का 1 अक्टूबर, 1837 में निधन का उल्लेख है।

□

8

कला-निधि[1]

प्रत्येक महान् देश की कला में कुछ विशेषता के अतिरिक्त प्रेरणा का गुप्त स्रोत भी होता है, जो उसे अन्य देशों से भिन्नता प्रदान करता है। ऐसी कलाकृतियों में सम-सामयिक जीवन की झाँकी होती है। प्राचीन मिस्र की कला अनन्त, स्थायित्व तथा असाधारण ऐश्वर्य का प्रतीक है; प्राचीन असूरिया (असुर) की कला में निष्ठुर प्रबल शक्ति है, यूनानी कला में शारीरिक पूर्णता तथा प्रकृतिवादी मानवतावाद है; चीन की कला सौम्य अविचलित दार्शनिक आत्मनिरीक्षण की द्योतक है, तथा जापानी कला मे समन्वय व उपयुक्त प्रकृति पूजा है। भारतीय कला का प्रमुख स्रोत, जिससे आनन्दमयी लय प्रस्फुटित होती है, धर्म है।[2]

भारतीय संस्कृति में धर्म की विशालता, सरलता तथा अनुकूलनशीलता है, जिसकी अभिव्यक्ति प्राचीन काल में पूर्ण लक्षित है। रहस्यमय दर्शन की रसानुभूति धर्म के माध्यम से होती है तथा उसका विस्तार नित्य-प्रति के जीवन को परिप्लावित करता है। कला में प्रच्छन्न दर्शन की आत्मा, धर्म का हृदय तथा दैनिक जीवन का रक्ति प्रवाह और मांसलता विद्यमान होती है। यही कारण है कि भारतीय कला में बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक भावों की कुशल अभिव्यक्ति की प्रधानता है, जिसमे अमूर्त को मूर्त रूप देकर यदि निस्सीम को सीमित किया गया है, तो केवल इस अभिप्राय से कि ऐन्द्रिक सुख के स्थान पर परमानन्द की प्राप्ति सम्भव हो सके। ऐसी आध्यात्मिक परम्परा के अक्षुण्य स्रोत से प्रभावित कला की शांत लहर, संस्कृति के प्रशान्त महासागर में विलीन होकर भी, वाराह विष्णु के

---

1. भारतीय कला का विभिन्न काल सीमाओं में विभाजन करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है क्योंकि एक कला दूसरे से अत्यधिक सम्बद्ध है। देखिये, अपूर्व प्रकाश; द फाउण्डेशन आफ इण्डियन आर्ट एण्ड आर्क्योलॉजी लखनऊ, 1942. देखिये—हाइमन वेटी, फेसेट्स आफ इण्डियन थाट।
2. सेन, वीरेश्वर; द करेक्टर आफ इण्डियन आर्ट—शिल्पी, जुलाई 1948.

रूप में भूदेवी का उद्धार करने में समर्थ होती है अथवा शेषशायी विष्णु के समान समुद्र के अनवरत अंतः प्रवाहों को शांत रखने में समर्थ होती है।

पाषाणकालीन शस्त्र, प्रागैतिहासिक युगीन सामग्री तथा ऐतिहासिक युग की नित्य प्रति के प्रयोग की वस्तुयें, भूत और वर्तमान को जोड़ने वाली एक दृढ़ कड़ी हैं, भविष्य की प्रेरणा और मनुष्य की असीम प्रकृति को सीमित करने की निरन्तर चेष्टा की कहानी है, जिसे इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है तथा जिसे कला के नेत्रों से ही समझा जा सकता है।

आदि मानव की मूलभूत आवश्यकताओं, उदर पोषण, जीवन रक्षा आदि के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। इसके लिए उसे पर्वत के सीने पर व सरिता की घाटी में उपयुक्त साधन उपलब्ध हुए। उसने पाषाण शस्त्रों का सृजन किया। यह सृजन कला का प्रथम चरण है। भारतवर्ष की दो प्रधान पाषाणकालीन शस्त्रों की शैलियों का सुगम संगम मध्य प्रदेश में नर्मदा के निकटवर्ती क्षेत्र में दर्शनीय है, जिसका विस्तार इटारसी, रायसेन, विदिशा, ग्यारसपुर तक देखा गया है। उत्तर पाषाण युग में शनैः शनैः शस्त्रों के प्रकार में आधिक्य तथा रूप में सूक्ष्मता आती गई। स्थूल से सूक्ष्म तक आने के प्रयास में मनुष्य को सहस्रों वर्ष लग गये, सम्भवतः ठीक उसी प्रकार जैसे स्थूल संसार से सूक्ष्म, निस्सीम सत्ता को समझने में उसे अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। लघु पाषाण शस्त्रों के सामूहिक प्रयोग को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक से अनेक होना और पुनः अनेक से एक में विलीन होना मनुष्य की सहज प्रगति तो है ही, प्रकृति भी हो गयी है।[1] अनवरत अभ्यास से आदि मानव को विभिन्न पाषाणों के गुणों का पूर्ण आभास हो चुका था। नवीन पाषाण शस्त्रों पर पालिश करने से इनकी धार ही तीव्र नहीं होती थी अपितु इनमें अत्यधिक दृढ़ता भी आ जाती थी। इस प्रकार के शस्त्र विदिशा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के अन्य स्थानों से भी उपलब्ध हुए हैं।

प्रागैतिहासिक युग की ऐसी अपूर्व कला को सृजन की अभिव्यक्ति से भिन्न नहीं किया जा सकता। मातृ देवी की मूर्तियाँ, जो विश्व के विभिन्न स्थानों से प्रागैतिहासिक युग में ही प्रयोग की जाने लगी थीं तथा जो पत्थर, हाथी दाँत अथवा मिट्टी की बनाई जाती थीं, कला के द्वितीय चरण की द्योतक हैं। इनके वक्ष, नितम्ब आदि आवश्यकता से अधिक दीर्घ बनाये जाते थे, जो जनन क्षमता से सम्बद्ध हैं। अचेतन मन में प्रकृति के प्रति उत्पन्न भय, विश्वास या जिज्ञासा ने मातृदेवी का मूर्त रूप ग्रहण कर लिया।

प्रागैतिहासिक युग की कला का अन्तिम किन्तु बलिष्ठ चरण भित्ति चित्रित गुफाओं में विद्यमान है। जितनी अधिक चित्रित गुफायें मध्य प्रदेश में उपलब्ध हैं, उतनी अभी तक संसार के किसी क्षेत्र में नहीं देखी गई हैं। इनमें सर्व प्रसिद्ध समूह भीमबेटका गुफाओं का है। होशंगाबाद, रायसेन, भोपाल जिलों में इनका आधिक्य है। विभिन्न रंगों से विभिन्न

---

1. खरे, महेश्वरीदयाल; पुरातत्व दर्शन, मध्य प्रदेश सन्देश, अगस्त 1970, पृ० 16, 17.

कालों की चित्रकारी सहज तथा बोधगम्य शैली में समसामयिक जीवन का दर्पण है। सबसे प्राचीन चित्रों का काल 10,000 से 4,000 ई० पू० का निर्धारित किया गया है। इन गुफाओं के किये गये उत्खनन से उपलब्ध सामग्री से ज्ञात होता है कि यहाँ पूर्व पाषाण काल से ही आदि मानव निवास करता था। भित्ति चित्रों के काल में लघुपाषाण शस्त्रों का प्रयोग होता था। द्वितीय काल 4,000 से 3,500 ई० पू० का अनुमाना गया है तथा इनके उपरांत के चित्र ऐतिहासिक काल के हैं।

यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आधुनिकता आदिकालीन अवस्था का पर्याय होता जा रहा है। अभी तक वनजातियों को असभ्य तथा त्याज्य समझा जाता था, किन्तु अब इनके जीवन सम्बन्धी सभी क्षेत्रों का अध्ययन किया जाने लगा है क्योंकि सैंधव अथवा वैदिक-पौराणिक सभ्यताओं में भारतीय संस्कृति का सर्वांग रूप प्रकट नहीं होता। चित्रित शैलियों को वनजातियों से संबद्ध किये जाने के लिये इनकी कला का अध्ययन आवश्यक है। यही (चित्र) आदि मानव की भाषा थी, जिसमें उसकी सरलता, आत्मीयता, सामूहिक जागरूकता तथा मानवजाति की रक्षा की तीव्र भावनाएँ विद्यमान हैं। वर्तमान कला को ही नहीं अपितु, धर्मनिष्ठा, सामूहिक विकास आदि के ज्ञान के लिए, जिससे वर्तमान को जीवित रखना तथा भविष्य को उज्ज्वल बनाना सम्भव है, चित्रित शैलाश्रयों में व्यक्त भावों का अध्ययन अभीष्ट है। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय कैलीफोर्निया में मान चिकित्सा के प्रोफेसर डेविड हमबुर्ग का कथन है कि आदि मानव का सर्वोत्तम अवशेष वर्तमान मानव है।[1]

भारतवर्ष के पाँच सहस्र वर्षों के इतिहास में, वैदिक काल के अतिरिक्त, जिसमें उसकी कला का मूर्त रूप अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है, कला का अविरल प्रवाह दर्शनीय हैं। सैंधव सभ्यता की कला व स्थापत्य से इस विशाल भारतीय कला भवन के द्वार खुलते हैं जिसके प्रांगण में विशाल गढ़, अनेक मंजिलों के ग्रह, चौड़े मार्ग, भव्य मूर्तियाँ, मातृदेवी की प्रतिमायें, विविध आसनोंवाली मृण्मूर्तियाँ, अलंकृत मुद्रायें आदि बिखरे पाये जाते हैं।

सैंधव सभ्यता के विलुप्त हो जाने पर सम्पूर्ण आर्यावर्त में प्रचलित सौन्दर्य के आदर्श वैदिक ऋचाओं में विद्यमान हैं। श्री देवी को सौन्दर्य का प्रतीक मानकर उसकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि मानी जाती थी।

महाजनपद काल के राजनैतिक परिवर्तनों के अनुसार सामूहिक जीवन ने भी नया रूप लिया। विशाल नगरों के निर्माण तथा उनकी सुरक्षा हेतु दुर्ग और प्राकारों की आवश्यकता होने लगी। मौर्यकाल में दुर्गों को सुदृढ़ बनाने के अतिरिक्त मूर्ति कला में पत्थर का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। शुंग-शातवाहन तथा कुषाण काल की स्थापत्य तथा मूर्ति कलाओं में उत्तरोत्तर विकास दर्शित है। गुप्त काल को भारतीय इतिहास का स्वर्णिम युग कहा जाता है क्योंकि इस समय कला का प्रत्येक अंग पूर्ण विकसित हो चुका था। उत्तर गुप्तकालीन

1. होवेल, एफ० क्लार्क; अर्ली मैन, लाइफ नेचर लाइब्रेरी (लाइफ बुक्स), पृ० 172.

मंदिरों में भावी आर्य शैली (शिखर शैली) के मंदिरों के निर्माण की कोंपलें प्रस्फुटित होने लगी थी। भारत में मुसलमानों के प्रवेश के साथ एक नवीन विचारधारा का प्रवेश हुआ। इसका स्थापत्य प्रारम्भिक अवस्था में पश्चिमी एशिया से प्रेरित होने पर भी कालान्तर में अपने वैशिष्ट्य के लिये प्रसिद्ध है, जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम शैलियों का समन्वय है।

स्थापत्य की दृष्टि से प्रागैतिहासिक युग के दुर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कोट-दीजी का दुर्ग बन्द नगर जो हरप्पा से 25 मील पूर्व में है, आयताकार बुर्जों से सशक्त था, जिसमें पत्थर व ईंटों का प्रयोग किया गया था।[1] मजूमदार के अन्वेषण के फलस्वरूप[2] अमरी सभ्यता की एक दुर्गबन्द बस्ती, कोहतरास बुठी (सिंध) प्रकाश में लाई गई थी। पर्वत शिखर पर निर्मित यह दुर्ग, तीन ओर से अतीव दुर्गम है, इसके दक्षिणी ढाल पर एक नीची प्राचीर तथा उसके पश्चात् इससे अधिक दीर्घ व दृढ़ प्राकार है, जिसमें चार बुर्जों व एक दक्षिण-पूर्वी द्वार के अवशेष पाये गये।[3]

हरप्पा[4] की सुरक्षात्मक प्राचीरें समानान्तर चतुर्भुज का सा आकार प्रस्तुत करती है, जिसकी भुजायें 460 गज लम्बी तथा 215 गज चौड़ी हैं। पश्चिम की ओर एक जटिल द्वार विद्यमान था, जिसमें समारोहों के लिये वेदियों का आयोजन किया गया था, तथा जिसके बाह्य किनारों पर प्रहरी-गृह बने थे।[5] मोहनजोदड़ो में भी पश्चिमी टीला इसी प्रकार के सुरक्षात्मक निर्माण से घिरा था।[6]

कालीबंगान (राजस्थान) में, जो घग्घर (प्राचीन सरस्वती) नदी के तट पर बसा हुआ है, 1960–61 में प्रारम्भ किये गये उत्खनन से तथा जिसमें लेखक ने भी भाग लिया था, चौथाई किलोमीटर के क्षेत्र में दो विशाल टीलों पर सैंधव सभ्यता के नगर-दुर्ग के अवशेष प्राप्त हुए थे।[7] इसके तत्कालीन संचालक लाल के अनुसार कालीबंगान इस सभ्यता का तृतीय राजधानी नगर प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में वर्णित दुर्गों के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है। इसी प्रकार जातकों में विशाल नगरों की सुरक्षा भित्तियों के अनेक वर्णन विद्यमान हैं। ई० पू० की चतुर्थ

---

1. व्हीलर, सर मोर्टिमर; अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० 106-107.
2. आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट 1930–34, पृ० 102
3. चक्रवर्ती, पी० सी०; द आर्ट आफ वार इन ऐशियेण्ट इण्डिया, पृ० 126, ओरिएंटल पब्लिशर्स, दिल्ली, 1972.
4. ऐशियेण्ट इण्डिया, अंक 3, पृ० 64.
5. डॉ० सिंह, सर्वदमन; ईसा पूर्व भारत में दुर्गों का सामरिक महत्व, मालविका, उज्जैनी, पृ० 4.
6. व्हीलर: इंडस सिविलाइजेशन, पृ० 20.
7. इण्डियन आर्क्यॉलॉजी 1961-62, ए रिव्यू, पृ० 31–32.

शताब्दी में संपूर्ण भारत में अनेक दुर्ग थे। एरियन[1] ने मल्लोई राजधानी की सुरक्षा की अत्यधिक प्रशंसा की है तथा अन्य संरक्षित नगरों का सविस्तार वर्णन किया है। ईसा पूर्व की तीन चार शताब्दियों में दुर्गबंदी कला में दृढ़ता आ चुकी थी। दुर्ग के सर्वाधिक सुरक्षित स्थान में गढ़ी बनाई जाती थी, जिसकी दीवार का बाह्य भाग परकोटे की दीवार होती थी।[2] अर्थशास्त्र में दुर्गों के प्रकार, उनके निर्माण के माप आदि के विस्तृत उल्लेख विद्यमान हैं।[3] कौटिल्य के पश्चात से अनेक शताब्दियों तक इस कला में मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ प्रतीत होता। इतना अवश्य है कि गुप्तकाल के उपरान्त दुर्गों की बुर्जों की ऊँचाई तथा दृढ़ता में कुछ अंतर दर्शित है तथा कालान्तर में पार्वत-प्रकार के दुर्गों को प्रधानता दी जाने लगी।

कौशाम्बी,[4] राजगिरि,[5] उज्जैन,[6] श्रावस्ती,[7] पाटलिपुत्र,[8] वैशाली,[9] शिशुपालगढ़,[10] नागार्जुनाकोंडा[11] आदि के पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त अवशेष दुर्ग-निर्माण कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिनकी झलकियाँ बोधगया, साँची के शिल्प में विद्यमान हैं।

विदिशा के दुर्ग प्राचीर के सम्बन्ध में पहले ही बहुत लिखा जा चुका है। समकालीन नगरों के सदृश यहाँ भी लगभग दस मीटर की ऊँचाई की एक दीवार प्राचीन नगर की उस अरक्षित दिशा में (उत्तर-पश्चिम) की गई थी जहाँ वेत्रवती अथवा वेस के तट नहीं है। लगभग 15 मीटर ऊँची एक बुर्ज अभी तक सुरक्षित है, जहाँ से मीलों दूर के क्षेत्र पर नियंत्रण रखा जा सकता था। इस प्राचीर भित्ति के बाहर एक गहरी खाई भी बनाई गई थी। तीनों ओर सरिताओं द्वारा प्राकृतिक सुरक्षा को देखकर वायु पुराण वर्णित नदी दुर्ग का स्मरण हो आता है।[12] इस नगर के एक सुरक्षित कोने में प्रासाद था, जिसकी दीवार का विवरण उत्खनन के संदर्भ में किया जा चुका है। भिन्न-भिन्न अवसरों पर आवश्यकतानुसार इस प्रासाद की दीवार को ऊँचा किया गया तथा पुश्ता द्वारा दृढ़ किया गया। शुंगकाल में निर्मित इस प्रासाद दीवार में पत्थरों का प्रयोग किया गया था, जिसके

---

1. मैक्क्रिंडल; इण्डिया एण्ड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेंडर, पृ० 62.
2. चक्रवर्ती, पूर्वनिर्देशित।
3. कौटिल्य, ग्रंथ 6, अध्याय 1.
4. शर्मा, गोवर्धनराय; द एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, 1957–58.
5. इण्डियन आर्क्योलॉजी, 1953-54, ए रिव्यू, पृ० 9.
6. वही, 1957-5८, ए रिव्यू, पृ० 34.
7. वही, पृ० 47–50.
8. ऐंशियेण्ट इण्डिया, अंक 9, पृ० 147.
9. वही, अंक 3, पृ० 62.
10. वही।
11. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1957–58, ए रिव्यू।
12. पाटिल, देवेन्द्र कुमार राजाराम; कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम वायु पुराण, पृ० 78.

बाहरी पत्थर गढ़े तथा क्रोड में अनगढ़ पत्थरों की सूखी चिनाई की गई थी। ईसा की प्रथम शताब्दी में इसे पकी ईंटों से ऊँचा किया गया, जिसके ऊपर पत्थर का एक रद्दा लगाया गया था। लगभग चौथी शताब्दी में इसे पुनः ईंटों से ऊँचा किया गया। इस दीवार के दोनों ओर पुश्ता बनाई गई थी। दीवार के ऊपर तथा निकट से पत्थर के अनेक गोले भी पाये गये थे, जिनसे किसी यंत्र द्वारा शत्रु दल पर प्रहार किया जाता होगा।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि कृत्या यंत्र के द्वारा प्रवर्तित होती थी। कृत्या मूर्तिमयी होती थी और स्वयंमेव चलने में समर्थ थी। रामायण के अनुसार रामसेतु की रचना मंत्रों के द्वारा उठाये हुये शिलापट्टों से हुई थी। महाभारत के अनुसार यंत्रसूत्र का युद्ध में उपयोग होता था।[1] कौटिल्य ने भी युद्धोपयोगी बहुविध यंत्रों का वर्णन किया है। उसके अनुसार चक्रयंत्र भ्रमणशील था। चलयंत्र उपयोग के लिये इधर उधर चलाये जा सकते थे। इन संदर्भों से विदित है कि ई० पू० की अंतिम शताब्दियों में दुर्ग-बन्दी तथा युद्धकला का लगभग पूर्ण विकास हो चुका था, जिसके अवशेष विदिशा में विद्यमान हैं।

विदिशा का राजप्रासाद त्रिवेणी संगम पर स्थित था। नगर के परकोटे की दीवार इसकी बाह्य दीवार थी। इस प्रासाद के भीतर उत्खनन नहीं किया जा सका। किन्तु समकालीन प्रासाद-निर्माण-कला के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रासाद भी यथोचित ढंग से निर्मित किया गया होगा।

इस संदर्भ में महाउम्मग्ग जातक के प्रासाद निर्माण का विवरण उल्लेखनीय है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि उस प्रासाद की लम्बाई-चौड़ाई राजमहल के योग्य थी। बहुत बड़ी मात्रा में गंगा से बालू और मिट्टी लाई गई। उसे हाथियों के पैरों से रौंदवा कर जमाया गया। हाथियों के पैर चमड़े के जूतों से मढ़े थे। जब इस प्रकार मिट्टी कुट पिट गई तब उस चौड़े वप्र या टीले पर प्राकार या नगर का परकोटा चिनवाया गया। मिट्टी को खूब पानी मिलाकर साना गया जिससे धूलकोट खूब पोढ़ा रहे। प्राकार में बहुत से द्वार थे। उनमें से एक द्वार का मुँह नगर की ओर था। प्राकार या परकोटा 27 फीट या 18 हाथ ऊँचा था। द्वारों में महाकपाट और उनके खोलने, बंद करने के यंत्र लगाये गये थे (यंत्र युक्त द्वार), जिन पर कपाटों के बड़े पल्ले आगे पीछे दौड़ते थे। पल्लों के पीछे एक अग्गि लगी थी, जिसमें अग्गिद्वार झूलता था। उसमें एक खड़ी हुई इन्द्रकील या बेड़ी सिटकिनी भी थी, जिसका एक सिरा भूमि छिद्र में पिरोया रहता था। सम्भवतः यही यंत्र खनक या भुँइतासी ताला था। तोरणद्वार के दोनों ओर ईंटों की बनी दीवारें (इष्ट का प्राकार) थी। भीतों पर सुधाकम्म या चूने-बरी का पलस्तर चढ़ाया हुआ था। कोठों के ऊपर लकड़ी के बड़े पटरों की छत बाँधी गई थी (पदर छन्न)। छत के नीचे की ओर विशेष प्रकार की मिट्टी का लेप किया गया (उल्लोयमृत्तिका)। उल्लोयमृत्तिका के कई मोटे-महीन लेप किये जाते थे। (लेपयित्वा) जिनमें से अंतिम पीतश्वेत रंग का होता था जिसे आजकल की भाषा में दोगामस्का कहते हैं क्योंकि वह मस्का या मक्खन के समान चिकना या घुटा

---

1. सभापर्व 5 : 110 रामजी उपाध्याय, पूर्वनिर्देशित, पृ० 1105 से उद्धृत।

हुआ होता है। इसके लिये विशेष प्रकार का मसाला बनाया जाता था। महावंश में इसे नवनीत मृत्तिका कहा है। इसी नाम का अनुवाद मस्का है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्र सूत्र में उसके लिये 'मपकं कपम्' अर्थात् मस्के का कस प्रयुक्त हुआ है। यह कस छोटी नहला या नख जैसी कसी में घोटा जाता था।[1]

"राजप्रासाद के वर्णन में 40 महाद्वारों का और 60 छोटे द्वारों (चुल्ल द्वार) का उल्लेख है। वे राजप्रासाद के चतुर्दिक प्राकार में लगे थे और प्रायः सभी यंत्रों की सहायता से खुलते और बंद किये जाते थे। उन्हें बंद करने के लिये और खोलने के लिये अलग-अलग सिटकनियाँ थी। प्रासाद की महती कक्षा में सौ कमरे थे। वे भी खोलने और बंद करने के लिये यंत्रों से युक्त थे। दीप रखने के लिये सौ आले बने थे। स्वाभाविक है कि इतने बड़े राजप्रासाद में 101 बड़े कमरे हों, जिन्हें शयनगर्भ यह सार्थक नाम दिया गया है (एक शत शयना गब्भा)।" ''''प्रत्येक गर्भ में एक महाशयन या पलंग बिछाया गया था। उस पलंग के ऊपर श्वेत छत्र लगाया गया और इसी के पास बैठने का आसन रखा गया। हरेक पलंग के पास मिट्टी और गन्ध की ढाली हुई एक स्त्री मूर्ति या पुतली खड़ी की गई (मातु-गाम पोत्थक रूपक)। वे अत्यन्त सुंदर थीं (उत्तम रूपधरा) वे बिलकुल ऐसी जीती-जागती जान पड़ती थीं कि वे बिना छुये यह नहीं ज्ञात होता था कि सचमुच की हैं या कृत्रिम (हत्यने अनभसित्वा न मनुस्म-रूपक ति न सक्का ञातुम)। ये पुतलियाँ हाथों में धूप-दीप आदि लिये हुये थीं।" ''''महाउम्मग्ग प्रासाद के मुख्य गर्भ में जो बड़ा आस्थान-मण्डप ज्ञात होता है। चतुर चित्रकारों ने बहुत से भित्ति चित्र लिखे थे (कुसल चित्रकारा नानप्पकार चित्तकम्मं करिसु)।[2]

"इस वर्णन में प्राचीन प्रासादीय वास्तु शिल्प के सभी अंगों का समावेश हुआ है। उसमें तीन कक्षायें या चाकू थे। तृतीय कक्ष्या जो गंगा के तीर पर थी उसमे राजप्रासाद का राजकुल नामक भाग था जिसमें सैकड़ों सुविदित और सुविभक्त गृहशालायें थीं। कमरों के खम्भों पर कढ़ी हुई शालभंजिकाओं का उल्लेख रोचक है।

"प्रासाद की दूसरी कक्ष्या में महान गर्भ का आस्थान मण्डप था जिसमे कुशल चित्रकारों ने भित्तिचित्र बनाये थे" ''''

"पहली कक्ष्या में हस्तिशाला या राजा के निजी हाथियों का अवस्थान मण्डप था, जो महल के पिछवाड़े बनाई गई थी।"[3]

"राजप्रासाद, चैत्यप्पर, बोधि घर और मण्डपों को बनाने की सामग्री यह थी— काष्ठ जो थूनी, खम्भे, धरन, छतों की कड़ी, बरगे खिड़की, सोपान, जालों और भीतों की

---

1. अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० 79.
2. अग्रवाल, वही, पृ० 79-80.
3. वही, पृ० 82.

अटालियों के काम आता था। ईंट कम ही काम में ली जाती थीं और पत्थर का उपयोग और भी कम था…… ''[1]

मंदिर स्थापत्य

ईश्वर या परम शक्ति के प्रतीक का पूजा हेतु प्रतिष्ठापन जिस इमारत में किया जाये, वह मंदिर कहलाता है। मंदिर मनुष्य की ऐसी शांतमय कल्पना है जहाँ वह अपने आराध्यदेव की आराधना तो करता ही है, उसके सान्निध्य तथा उससे एकात्म होने का आनन्द भी प्राप्त करता है। मंदिर का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदि मानव प्रकृति के रचनात्मक व ध्वंसात्मक रूपों से प्रभावित हो जादू-टोने तथा नाच व गाने में विश्वास करने लगा। विश्वास और भय के क्षितिज में धर्म ने जन्म लिया और मिट्टी व पत्थर की मूर्तियाँ तथा गुफाओं में रंगीन चित्र वनाये जाने लगे। कालान्तर में रंगीन चित्र वनाये जाने लगे। फिर प्राकृतिक शक्तियों ने देवताओं का रूप ले लिया। मूर्तिरूप में ईश्वर की उपासना करना तथा मूर्तिवान ईश्वर को मंदिर मे स्थापित करना मनुष्य के सामाजिक व आध्यात्मिक विकास का प्रथम चरण है।

मातृदेवी की मूर्तियाँ उत्तर पाषाणकाल ही में (ई० पू० 2500) उपलब्ध होने लगी थीं। किन्तु आद्य प्रकार के गुफा मंदिर भूमध्यसागरीय क्षेत्र के माल्टा द्वीप में लगभग 5000 वर्ष ई० पू० बनाये गये थे। इनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ, इनके द्वार अथवा कारीगरी इत्यादि प्रशंसनीय हैं। इनमें लिंग व देवियों की पूजा की जाती थी। मिस्र में आवू सिम्बेल के गुफा मंदिर उपर्युक्त मंदिरों के विकसित रूप कहे जा सकते हैं।

नवीन पाषाण युग के पश्चात् जो मन्दिर मिस्र, पश्चिमी एशिया, ग्रीक आदि में वनाये गये उनके विस्तार और ऊँचाई को देखकर यह स्पष्ट है कि यह सब मनुष्य की उस अपरिचित निस्सीम शक्ति की ओर अग्रसर होने की स्वाभाविक चेष्टा थी। जैसे मिस्र के मंदिरों की विशेषता है उनका अग्रभाग चौड़ा होना तथा धीरे-धीरे पिछला भाग संकीर्ण व अंधकार पूर्ण होना, उसी प्रकार भारतीय मंदिरों के गर्भगृह भी प्रायः अंधकारमय बनाये जाते थे। मंदिर के अंतःकरण को अकारण ही अप्रकाशित नहीं रखा जाता था। ईश्वर या इष्टदेव के समक्ष शांत भाव व एकाग्रचित होकर उसकी आराधना में अंधकार विशेष सहायक होता है।

संसार के प्राचीनतम मंदिर के अवशेष सियाल नदी के तट पर जेरिको नामक स्थान के उत्खनन से प्राप्त हुये है। इसकी 'कार्बन 14 तिथि' 7800 ई० पू० निर्धारित की गई है। इसी स्थान से नवीन पाषाण युग के द्वितीय उपकाल स्तर में एक आयताकार मंदिर दृष्टिगोचर हुआ जिसमें चमकदार चपटे पत्थर का एक लिंग स्थापित था।

नदी घाटी सभ्यताओं के विशाल मंदिरों के अवशेष उल्लेखनीय हैं। मेसोपोटामियाँ में उरुक (एरेख) नामक स्थान के मदिर वहुत प्रसिद्ध है, जिनमें ऊँचे न्याधार, सुसज्जित

---

1. वही, पृ० 85.

अग्रभाग तथा आलों की विस्तृत प्रणाली है। संसार के मंदिर स्थापत्य के इतिहास में, नीव के भीतर पत्थर का प्रयोग उरुक में ही सर्व प्रथम हुआ। यहाँ के ऊँचे बुर्जों वाले ठोस मंदिरों (जिग्गुरत टावर) के निर्माण की प्रथा भी बड़ी अनूठी थी। सहस्रों वर्षों तक एक ही स्थान पर प्राचीन मंदिर के भग्नावशेषों के ऊपर ही नवीन मंदिर निर्मित किया जाता था। जब यह मंदिर विनष्ट हो जाता था तो उसी के ऊपर दूसरा मंदिर बना दिया जाता था। फलस्वरूप उनकी ऊँचाई स्वतः ही उन्नतोत्तर होती जाती थी। उसमें न गर्भगृह होता था न अन्तराल। यह ठोस स्तूप पर निरंतर ऊपर छोटा होता जाता चौकोर आयोजन था जिसके शिखर पर पहुँचने के लिए बाहर से सोपान-मार्ग होता था और ऊपर बने कमरे में एक शय्या होती थी जिस पर जग्गुरत की पुरोहितिन के साथ देवरूप पुरोहित रमण करता था।

मिस्र के उत्तरी क्षेत्र में अमरेशियन काल में लगभग 3800 ई० पू० में छोटे मंदिर बनाये जाते थे जिनका आकार मधुमक्खी के छत्ते सदृश होता था।

प्रागैतिहासिक युग की नगर सभ्यताओं की मन्दिर स्थापत्य कला में समकालीन जीवन की जटिलता परिलक्षित होती है। इन मन्दिरों के गर्भगृह मध्य में न बनाकर सबसे अंत में बनाये जाते थे। इस प्रकार के गर्भगृह का निर्माण देवता के निकट पहुँचने की कठिनाई का संकेत है क्योंकि इन सभ्यताओं की प्रगति का आधार भौतिकवाद था और भौतिकवाद के वशीभूत समाज का ईश्वर के प्रति दृष्टिकोण भी भिन्न हो जाता है।

हाबुर घाटी स्थित सुमेर का "चक्षुमंदिर" इस युग के जटिल जीवन का प्रतिबिम्ब है। इनमें मध्यभाग, कोने के चबूतरे, जिनके दूसरी ओर दो द्वार होते थे, के अतिरिक्त भण्डार तथा धर्मक्रिया हेतु पश्चिम की ओर कक्ष होते थे। उप गर्भगृह पूर्व की ओर था। इनके कीलाकार प्लान में ईसाई प्रणाली का पूर्वाभास होता है। इनके स्थापतियों ने जो माप अपनाये उनसे विदित होता है कि विशेष अनुपातों से इनका निर्माण किया गया था।

सुमेर में खफजा का 'ओवलमंदिर' बड़े शक्तिशाली प्राकार से सुरक्षित था, जिसके भीतर विशाल प्रांगण, भण्डार, पूजागृह तथा पुजारी के निवास का आयोजन था।

चार हजार वर्ष ईसा पूर्व मिस्र में शासक देवतुल्य था, देवदूत नहीं, जिसका प्रमाण सक्कारा का पिरामिड है। इसका महाकाय प्राकार उल्लेखनीय है।

कांस्य युग के अनातोलिया के मंदिरों में आयताकार पूजागृह के जोड़े होते थे। प्रत्येक पूजागृह में वेदी बनी होती थी। विचित्र बात तो यह है कि 'पुरुष पूजागृह' में एकाकी लकड़ी का दण्ड होता था।

क्रीट में क्नोसोस के उत्खनन भी इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। लगभग 1450 ई० पू० पश्चात् क्रीट में राजकीय समाधियाँ. (थोलो टोम्ब) बनाई जाने लगी, जिनमें गोलाकार मेहराबी छत के प्रकोष्ठ होते थे जो आधे पृथ्वी के भीतर बनाये जाते थे तथा जिनके द्वार पथ बहुत लम्बे होते थे।

सिंधु घाटी की सभ्यता समकालीन नदी घाटी सभ्यताओं के सदृश ही विकसित व परिपक्व थी, जिसका स्पष्टीकरण हरप्पा, मोहनजोदड़ों, कालीबंगान (राजस्थान) तथा लोथाल (सौराष्ट्र) आदि के उत्खनन से अनावृत नगरों से हो जाता है। मोहनजोदड़ो का (एस० डी० एरिया, ब्लोक 1) कालेज आफ प्रीस्ट्स अथवा कोलेजियेट बिल्डिंग[1], मकान ए 1 जो कि एच० आर० एरिया में था, विशाल स्नानागार तथा कालीबंगान में की जाने वाली अग्निपूजा के अवशेष धार्मिक रुचि के द्योतक है। आचार्य[2], साहनी[3] ने मोहनजोदड़ों तथा हरप्पा के कुछ अवशेषों को मंदिर अनुमाना है। यहाँ से प्राप्त मुद्राओं पर बने चित्रों में शिव व पशुपति के अतिरिक्त अनेक धार्मिक आकृतियां देखी गई हैं।[4] मोहनजोदड़ो से प्राप्त पत्थर का एक लिंग यथा स्थान एक ट्रेंच में उपलब्ध हुआ था। इस काल के निर्मित मंदिर हों अथवा अन्य कोई इमारत, सभी में सिंधु घाटी के निवासियों के व्यक्तित्व की छाप है, जिसमें व्यावसायिकता, दृढता, सर्वदेशीयता लक्षित होती है।

मातृदेवी की मूर्तियां लगभग प्रत्येक घर से प्राप्त हुई हैं, जिनसे विदित होता है कि यह लोग व्यक्तिगत जीवन में सर्वाधिक धार्मिक निष्ठा रखते थे। प्रत्येक घर में पाये गये स्नानागार अथवा पानी के बहाव के लिये बनाई गई अच्छी नालियाँ स्वच्छता की द्योतक है। सम्भवतः स्वच्छ शरीर में स्वच्छ मन रहता है, जिससे पूजा के समय शांति व एकाग्रता सम्भव होती है, ऐसी उनकी धारणा थी। मोहनजोदड़ो का 85 फीट वर्गाकार सभामण्डप सामाजिक बैठक के लिये ही नहीं अपितु धार्मिक गोष्ठी के लिये सामूहिक रूप से भी प्रयुक्त होता होगा, इसमें संदेह नहीं। इसी प्रकार महास्नानागार जो 39 फीट लम्बा, 23 फीट चौड़ा तथा 9 फीट गहरा था, तथा उससे सम्बद्ध इमारतें सामाजिक व धार्मिक कृत्यों के निमित्त निर्मित की गयी प्रतीत होती हैं।

वैदिक काल में आर्य प्रकृति के उपासक थे। हवन के लिए जो कुण्ड उस समय बनाये गये उनके अवशेष प्राप्त होना कठिन ही है। यज्ञार्थ बनाई गई वेदी अथवा चबूतरे प्रारम्भिक अवस्था में साधारण बनावट के होने के कारण धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुये भी, अस्थाई रूप के थे। ऋग्वेद (43, 13) के यक्ष सदन से विदित होता है कि सबसे प्राचीन चबूतरे यक्ष-पूजा के लिये बनाये जाते थे। किन्तु नागपूजा के लिये बनाये गये चबूतरे यक्ष पूजा से भी प्राचीन विदित होते है।[5]

---

1. मैके, ई० जे० एच०, फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहनजोदड़ो, पृ० 10-13.
2. आचार्य, पी० के० मानसार; हिंदू आर्किटेक्चर इन इण्डिया एण्ड एब्रोड, पृ० 36, 38.
3. मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, ग्रंथ 1, पृ० 188–190.
4. देखिये, मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड इट्स सिविलाइजेशन, ग्रंथ 1, 2, 3. व्हीलर-इण्ड्स सिविलाइजेशन पृ० 83, वत्स-एक्सेकेवेशन्स एट हरप्पा, ग्रंथ 1, 2.
5. खरे, महेश्वरी दयाल, प्राचीन मंदिर स्थापत्य एवं विदिशा, मालविका, उज्जयिनी, 1972, पृ० 73.

समयोपरान्त इन चबूतरों के चारो ओर जंगले (रेलिंग) का आयोजन किया जाने लगा, जो प्रारम्भ में बाँस या काष्ठ का होता था। किन्तु तत्पश्चात् इसमें पत्थर का प्रयोग होने लगा। ई० पू० की दो तीन शताब्दियों में वेदिका मंदिरों, स्तूपों का अभिन्न अंग बन चुकी थी, जिसके प्रमाण विदिशा के अतिरिक्त नगरी (राजस्थान) में पाये गये। हेलियोदोरस के समकालीन विष्णु मंदिर में दोनों प्रकार की वेदिका, खुली हुई तथा ठोस पाई गई थी। नगरी का 'पूजा शिला प्राकार' ठोस श्रेणी का है, जिसे डॉ० भण्डारकर ने ई० पू० की तीसरी शताब्दी का अनुमाना है।

भारतवर्ष का प्राचीनतम मंदिर विदिशा के उत्खनन में अनावृत किया गया था, जिसके विभिन्न अंग, गर्भगृह, अंतराल, प्रदक्षिणापथ तथा मण्डप, इस बात के द्योतक हैं कि ई० पू० चौथी-तीसरी शताब्दी में ही मंदिर स्थापत्य का विकास हो चुका था। गर्भगृह के समान प्रदक्षिणा पथ भी वृत्तायत बनाया गया था। सभामण्डप का द्वार जो गर्भगृह के द्वार के सम्मुख था, पूर्व की ओर था। इसका फर्श सुर्खी, चूना व कूटी हुई ईंट का बना हुआ था। इसकी नींव के भीतर तथा आसपास भिन्न प्रकार व नाप की लोहे की कीलें पाई गई थीं तथा कहीं-कहीं नींव में फँसी हुई पकी ईंटें अथवा खपरैल भी मिले। इससे यही अनुमान लगता है कि केवल न्याधार ईंटों का बना था तथा शेष भाग काष्ठ का था, उसके ऊपर मेहराबी छप्पर खपरैल से सुरक्षित किया जाता था। लगभग इसी प्रकार का वृत्तायत मंदिर तथा इसी का समकालीन नगरी में भण्डारकर ने अनावृत किया था।

वृत्तायत मंदिर पुरातात्विक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, स्थापत्य कला के क्षेत्र में भी इसका अनूठा स्थान है। जिस प्रकार से गोल आकार का प्रयोग सबसे प्राचीन और सम्भवतः सहज रहा है और जो बाह्य प्रयोग के लिये लाभदायक है, वृत्ताकार की वक्रता भीतरी प्रयोग के लिये छोटे अथवा बड़े आकार के लिये समान रूप से उपयोगी सिद्ध होती है, विशेषकर ऐसे स्थान पर जहाँ गोल आकार सम्भव न हो। यह भी स्पष्ट है कि जहाँ चौड़ाई की अपेक्षा लम्बाई अपेक्षित हो और वक्रता भी आवश्यक हो, वहाँ वृत्तायत के अनेक लाभ हैं।[1]

भारतीय प्राचीन वस्तुविद्या के पाँच रूपों में वृत्तायत (मनिक) रूप का वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के चैत्य तथा चैत्य स्तूप भी वैदिक वृत्ताकार से प्रेरित हुये हैं। वृत्तायत विष्णु मंदिर का वर्णन विष्णु धर्मोत्तर, पंचरात्र-प्रासाद-प्रसाधन आदि ग्रंथों में मिलता है।

विदिशा तथा नगरी के अतिरिक्त राजगिरि में भी वृत्तायत कक्ष मिले हैं, जो ई० पू० की शताब्दियों के हैं। ई० सदी के प्रारम्भिक वर्षों में श्रावस्ती तथा उदयगिरि (उड़ीसा) में वृत्तायत आकार का प्रयोग किया गया। इन उदाहरणों से विदित होता है कि वृत्तायत की परम्परा बहुत प्राचीन है।

---

1. आर्थर स्ट्रेटन; एलीमेण्ट्स आफ फार्म एण्ड डिजाइन इन क्लासिक आर्किटेक्चर, पृ० 49.

चौथी शताब्दी के अन्त अथवा तीसरी शताब्दी ई० पू० में यह मंदिर बाढ़ग्रस्त हुआ, जिसके कारण इसकी नीव मात्र शेष रह गई। इसके विनष्ट होने पर वृत्तायत मंदिर के मिट्टी का एक विशाल चबूतरा बना दिया गया जिसकी सुरक्षा हेतु चारों ओर पत्थर की धारक दीवार बनाई गई। इस चबूतरे पर जो मंदिर निर्मित किया गया, वह भी नष्ट हो गया किन्तु पत्थर की धारक दीवार जो हेलियोदोरस तथा अन्य स्तम्भ अवशेषों के समकालीन थी, सुरक्षित रही। इसकी लम्बाई व चौड़ाई 35 मीटर है तथा ऊँचाई तीन मीटर है। मूल रूप में इस दीवार के चारों ओर पत्थर की वेदिका थी।

इस मंदिर का द्वार भी पूर्व की ओर रहा होगा जैसा कि पूर्व में पाये गये हेलियोदोरस स्तम्भ के अतिरिक्त सात अन्य स्तम्भों से स्पष्ट है। हेलियोदोरस को मिलाकर एक ही पंक्ति में, जिसका अनुविक्षेप उत्तर-दक्षिण था, सात स्तम्भ थे। आठवाँ स्तम्भ चौथे स्तम्भ के सम्मुख तथा निकट ही पूर्व दिशा में स्थापित था। इन सभी स्तम्भों को स्थापित करने के लिये जो गड्ढे खोदे गये थे, उनमें वर्तमान सतह से दो मीटर गहरी सुदृढ़ नींव डाली गई थी, जिसमें मुर्रम और काली मिट्टी की कुछ परतें देने के पश्चात् चौरस पत्थर की एक मोटी या दो पतली शिलायें रख दी गई, जिसके ऊपर एक-एक स्तम्भ खड़ा किया गया। स्तम्भ के नीचे तथा शिला के ऊपर लोहे और पत्थर के पच्चड़ लगाये गये जिससे स्तम्भ सीधा खड़ा रह सके। तदुपरान्त नीव के इन गड्ढों को पुनः मुर्रम और काली मिट्टी की तहें देकर बन्द कर दिया गया। प्रत्येक स्तम्भ के चारों ओर ईंटों का एक छोटा सा चबूतरा भी बनाया गया था।

ई० पू० की दूसरी शताब्दी के इस मंदिर में ईंटों के साथ पत्थर का प्रयोग अत्यधिक स्वतंत्रतापूर्वक किया गया जो मंदिर स्थापत्य कला में विशेष महत्वपूर्ण पग है।

भण्डारकर ने यहाँ से प्राप्त मौर्य कालीन गारे का कुछ भाग डॉ० एच० एच० मन, प्रिंसिपल, पूना एग्रीकल्चर कालेज के पास विश्लेषण के लिये भेजा था, जिसकी रिपोर्ट निम्नलिखित है :

1. सम्पूर्ण सिलिकामय भौतिक तत्व	51.60 प्रतिशत
2. विलेय सिलिका	8·20 ,,
3. सम्पूर्ण चूना (सी ए ओ)	14·11 ,,
4. मैग्नीसिया (एम जी ओ)	2.74 ,,
5. मिश्रित कार्बोनिक एसिड	5.64 ,,
6. (कैल्सियम कार्बोनेट के बराबर)	12.81 ,,
7 आइरन तथा एल्यूमिना ऑक्साइड	20.00 ,,
8. पोटैसियम एण्ड सोडियम क्लोराइड्स	0·30 ,,

इस विश्लेषण से भली प्रकार तैयार किये गये गारे का ज्ञान होता है जिसे रेत, मिट्टी व चूने के गुणों से पूर्णरूप से अवगत होने पर बनाया गया था। इस संदर्भ में यह गारा फिनीशिया तथा ग्रीक गारे से अत्यधिक परिष्कृत प्रतीत होता है, जो चूना अधिक तथा.

रेत कम प्रयोग किये जाने के कारण उतना लाभदायी न हो सका।[1] इसी प्रकार लोहे के पच्चड़ का विश्लेषण रोवर्ट हैड फील्ड द्वारा किया गया था, जिसमें 70 प्रतिशत कार्बन पाया गया था।[2] इससे स्पष्ट है कि यह स्टील है जो गर्म करने के पश्चात् पानी से ठण्डा करने पर दृढ़ किया जा सकता है। अतः यह नमूना असाधारण महत्व का है। इस तथ्य से विदिशा के धातु कर्मकारों की क्षमता का ज्ञान होता है।

विदिशा के मध्य में किये गये उत्खनन से तीन यज्ञ कुण्ड अनावृत हुये थे, जिनमें एक वर्गाकार, दूसरा आयताकार तथा तीसरा योनिकुण्ड था। उनके बीच की जमीन में ईंटों के बने फर्श के अवशेष पाये गये। कहीं-कहीं कुछ नीचे के स्तर पर ईंटों की बनी नालियाँ थीं जो कुण्डों से सम्बन्धित थीं। इनके निकट ही पूर्व तथा दक्षिण में दो विशाल मण्डपों के अवशेष पाये गये, जिनका प्रयोग, मार्शल के अनुसार सभा के अतिरिक्त सामूहिक भोज के लिये भी किया जाता होगा। भण्डारकर का मत है कि यह कुण्ड विशाल यज्ञों हेतु निर्मित हुये थे, जो एक वर्ष अथवा उससे भी अधिक समय के लिए किये गये थे। इन यज्ञों में अनेक ऋषि तथा शास्त्रों में निपुण ब्राह्मण सम्मिलित होते थे, जो इन मण्डपों में बैठकर दार्शनिक-विषयों पर चर्चा तथा पुराणों के पाठ में यदाकदा तल्लीन हो जाते थे। यही कारण है कि इन मण्डपों की आवश्यकता धर्म चर्चा तथा भोजन के लिये हुई होगी।[3]

यज्ञ के महत्व पर भी विचार करना उपर्युक्त यज्ञ कुण्डों के संदर्भ में उपयुक्त ही होगा। यज्ञ को यज्ञ के उपयुक्त भाव से ही किया जाना चाहिये, जिसके द्वारा मनुष्य व ईश्वर का तादात्म्य ही नहीं होता अपितु वह चिर भ्रजन का वाहन भी है। वेदों में यज्ञ ब्रह्माण्डीय क्रियाशीलता का प्रतीक है, सृष्टि का अपने नियत उद्देश्य की प्राप्ति का अभियान है, अचेतन को चेतनावस्था में लाने का प्रयास है। इसका मूल आधार तप है जिसमें जीवन त्यागमय हो जाता है। इसके अनुशासन से तन, मन शुद्ध होता है, भौतिक उपलब्धियों के प्रति उदासीनता की वृद्धि होती है, स्वयं में नियंत्रण का प्रादुर्भाव होता है, परिष्कृत मार्ग की ओर उन्मुख होने की रुचि उत्पन्न होती है तथा मानवीविकार व दोष, शक्ति, सौन्दर्य व प्रेरणा में परिणित हो जाते हैं। जब मनुष्य अपने अहं, चिताओं, धन-लिप्सा, भय, क्रोध, घृणा, दंभ आदि को अर्पित कर देता है तो उसमें उच्च, रचनात्मक शक्ति का आविर्भाव होने लगता है जिसके पश्चात् वह ब्रह्माण्डीय क्रम से सुन्दरता का सान्निध्य प्राप्त करता है। इस तप शक्ति में दृढ़ता आते ही, स्नेह शक्ति का परिष्कार होता है, जिससे न केवल व्यक्तिगत जीवन में ही परिवर्तन आता है, अपितु सम्पूर्ण मानव जाति भी प्रभावित हो जाती है।[4]

---

1. आर्क्योलॉजिकल रिपोर्ट, 1913-14, पृ० 206.
2. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, भाग 1, पृ० 19.
3. वही, पृ० 19-20.
4. सीसियो; रिलीजियस सिग्नीफिकेंस आफ यज्ञः भवन्स जर्नल, अगस्त 8, 1971, पृ० 26.

उपर्युक्त उपलब्धियों से स्पष्ट है कि विदिशा में उत्तरी भारत के अन्य केन्द्रों के समान आर्य तथा अनार्यों की क्रमशः यज्ञ तथा पूजा पद्धतियों का पूर्ण समन्वय ई० पू० की शताब्दियों में ही हो चुका था, जिसकी झलक मंदिर स्थापत्य कला मे विद्यमान है।

वर्ग तथा समभुजी त्रिकोण अपने संतुलित आकार के कारण वृत्त से संवद्ध हैं। भारतीय स्थापत्य में इन दोनों आकारों को धार्मिक महत्व देकर अंगीकार किया गया है। भारतीय स्थपति के लिये जो केवल स्थापत्य कला में ही पारंगत नहीं होता था अपितु योग्य पुजारी तथा संगीत, कला, नाटक, साहित्य आदि में भी दक्ष होता था, वर्ग एक रहस्यमय, सम्पूर्ण मूल रूप था, जिसमें निर्माण के समय किसी भी प्रकार के परिवर्तन का निषेध था। इस आकार में अलंकरण को वृद्ध करने की इतनी क्षमता है कि स्वयं के आकार को भी अल्प दृश्य करने में समर्थ होता है।[1]

पुरातात्विक अवशेषों के अतिरिक्त साँची, भरहुत आदि की मूर्तिकला में मंदिरों के जो रूप दर्शनीय हैं, उनमें वृत्त, वर्ग तथा त्रिभुज उनके मूल आधार हैं। साँची स्तूप के दक्षिण तोरण द्वार के एक स्तम्भ पर, जिसे विदिशा के हाथीदाँत के कारीगरों ने निर्मित किया था, वृत्तायत मंदिर भी है, जिससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि विदिशा में निर्मित ईसा पूर्व की चौथी-तीसरी शताब्दी के वृत्तायत विष्णु मंदिर का आकार अनेक शताब्दियों तक प्रचलित रहा।

ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में वृक्ष, नाग तथा यक्ष पूजा हेतु निर्मित मंदिरों के रूप भी साँची के तोरण द्वारों मे देखने को मिलते है, जिनमें वर्गाकार या गोल आकार के खुले मण्डपों का आधिक्य है। ई० सन् की चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित मंदिर उदयगिरि (गुफा क्रमांक 1) तथा साँची के मंदिर 17 में वर्गाकार को ही प्रधानता दी गई है। नागों के समय में एक विशेष वास्तु शैली का जन्म हुआ। "वास्तुशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है—नगर शैली। इस शब्द की व्याख्या केवल इस आधार पर नहीं की जा सकती कि इसका सम्बन्ध नगर (शहर) शब्द के साथ है। मत्स्यपुराण में, जिसमें 243 ई० तक की, अर्थात् गुप्तकाल की समाप्ति के पहले की ही राजनीतिक घटनायें उल्लिखित हैं, इस शैली का नाम नहीं मिलता। हाँ 'मानसार' में यह नाम अवश्य आया है और वह ग्रंथ गुप्तकाल में या उसके बाद बना था। नागर शैली से जिस शैली का अभिप्राय है, जान पड़ता है, उसका प्रचार नाग राजाओं ने किया था।"[2]

"इस शैली के मंदिरों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें काफी सादगी रहती है और उनकी छेंकन चौकोर होती है जिस पर का शिखर भी चौकोर ही रहता है और जो ऊपर की ओर क्रमशः सँकरा होता जाता है। शुंगकाल में जैसे मंदिर होते थे उन्हीं का यह क्रम विकास है, जो शकों के बाद पुनः चल पड़ता है। तालवृक्ष (ताड़) नागों का चिन्ह

---

1. देखिये, एण्ड्रियास फोल्सवासेन, लिविंग आर्किटेक्चर इण्डियन, पृ० 3-5.
2. जायसवाल: अंधकार युगीन भारत, पृ० 119 (यह मत विवादास्पद है).

था। अतः इस शैली के अलंकरणों में ताड़ का अभिप्राय अक्सर आता है। ऐसे पूरे खम्भे मिलते हैं जो ताल वृक्ष के रूप में गढ़े गये हैं। शेष अलंकरणों में भरहुत मथुरा की परम्परा विद्यमान है।"[1]

पर्सी ब्राउन का कथन है कि गुप्त काल की स्थापत्य कला में दो महत्वपूर्ण प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ दर्शनीय हैं, जिनमें से एक सौन्दर्य बोधक तथा दूसरी संरचनात्मक पद्धति से सम्बन्धित है। प्रथम प्रवृत्ति में नवीन सवेदनशीलता उत्पन्न होती है, जिसमें केवल अनुकरण-शीलता से अनन्त रचनात्मक, अपरिष्कृत मस्तिष्क के अर्थहीन रूपों तथा अकुशल शक्तियों से विवेकपूर्ण मूलभूत सिद्धान्तों का परिवर्तन विद्यमान है। द्वितीय पद्धति में गढ़े हुये पत्थरों की चिनाई का सर्वप्रथम प्रयोग, वास्तु निर्माण कला का सुनिश्चित पग है, जिसके द्वारा कारीगरों को एक नवीन शक्ति प्राप्त हुई। स्थापत्य कला की इस प्रारंभिक अवस्था में देवालय की धारणा का प्रादुर्भाव हुआ।[2] इस पृष्ठभूमि में अमूर्त ईश्वर को मूर्तरूप दिया गया, जो काष्ठ अथवा हाथीदाँत के सदृश शीघ्र नष्ट न हो सके।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य का उद्गम उदयगिरि के मंदिर (गुफा क्र० 1) से ही हुआ है जिसे कृत्रिम गुफा भी कहते हैं। यह एक गुफा मंदिर है, जिसकी एक भित्ति तथा मण्डप निर्मित किया हुआ है, किन्तु छत का सपाट शिला-फाटक प्राकृतिक है। इसका गर्भगृह 7 फीट × 6 फीट है तथा चार स्तम्भों पर खड़ा मण्डप 7 फीट वर्ग है। मंदिर का द्वार पूर्व की ओर है जिसके सम्मुख खुला हुआ मण्डप है। इसके भीतर की दीवारें सादा हैं किन्तु द्वार अलंकृत है। स्तम्भों पर घट व फुलकारी सुशोभित है।

साँची का मंदिर 17, उपर्युक्त मंदिर के कुछ ही वर्षो पश्चात् निर्मित किया गया होगा। नीचे आधार पर जिसमें गढ़े हुये पत्थरों की चिनाई है, एक वर्गाकार गर्भगृह तथा उसके सम्मुख चार स्तम्भों का मण्डप है। गर्भगृह की दीवारें अनलंकृत हैं तथा छत सपाट है। अलंकृत द्वार पर लिटल के निकट दोनों ओर गंगा-यमुना की प्रतिमायें रही होंगी, जो अब नहीं है। गुप्त शैली के अनुकूल द्वार चौखट पर फुलवारी उत्कीर्ण है, जो गर्भगृह की अनलंकृत पृष्ठभूमि में अतीव आकर्षक है। मंडप स्तम्भ नीचे वर्गाकार से प्रारम्भ होकर अष्ट भाग शोडष भुजी हो जाते हैं तथा घण्टाकार कमल के ऊपर फल का खण्ड चार सिंह आकृतियों से सुसज्जित है। इस मंदिर के संरचनात्मक औचित्य, संतुलन, अलंकार नियंत्रण आदि में अपना ही वैशिष्ट्य है।

कनिंघम[3] के अनुसार गुप्तकालीन मंदिरों की निम्नलिखित विशेषतायें है :

1. समतल छत।
2. लिटेल (उत्तरंग) का द्वार की चौड़ाई से अधिक होना।

---

1. रायकृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला, पृ० 103.
2. ब्राउन, पर्सी; इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू), पृ० 57.
3. आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, अंक 10.

3. द्वार पक्ष पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ :

4. स्तम्भों की सिंह अलंकृत चोटियाँ जिसमें दो सिंह पीठ से पीठ लगा कर बैठे होते हैं और बीच में एक वृक्ष होता है।

वत्स[1] ने भी गुप्तकालीन मंदिरों की निम्नलिखित विशेषतायें देखी हैं :

(अ) वर्गाकार या घनाकार कोष्ठ, जिसकी छत समतल तथा सामने चार वर्गाकार स्तम्भों पर खड़ा हुआ मंडप हो। उदाहरणार्थ उदयगिरि, साँची आदि।

(ब) वर्गाकार या घनाकार कोष्ठ जिसके चारों ओर वर्गाकार प्रदक्षिणालय समतल छत के नीचे बनाया गया हो। इसके उदाहरण नचना-कुठारा, एहोली में लाडखाँ और दिनाजपुर में बैग्राम के मंदिर हैं। गर्भगृह के सम्मुख आयताकार मण्डप होता है, जिस पर सीढ़ियों द्वारा पहुँचा जा सकता है।

(ब1) इस श्रेणी के मंदिरों में दो मंजिलें होती थीं, लेकिन छत समतल ही रहती थी (नचना-कुठारा का पार्वती मंदिर तथा अहोली का लाडखा मंदिर)।

(स) शिखर वाले मन्दिर जिनके उदाहरण शिव मंदिर नचना-कुठारा। पठारी और गोप के मंदिरों में मिलते हैं।

पठारी का शिव मंदिर आयताकार है तथा दो स्तम्भों पर उसके सम्मुख एक मंडप है। इसका शिखर मंदिर की चौड़ाई का दुगुना है।

उदयगिरि की शैलकृत सभी गुफायें गुप्तकालीन है। इनके विषय में लिखने के पूर्व शैलकृत गुफाओं की परम्परा पर भी दृष्टिपात करना उचित प्रतीत होता है।

जैसा कि अन्यत्र कहा गया है[2] प्रागैतिहासिक काल मे शिलाओं के आवास आदि मानव द्वारा आवास तथा उपासना दोनों के लिये प्रयोग किये जाते थे। प्रारम्भिक कांस्य युग में क्रेट की गुफाओं में ऊपर से खुले हुये बाड़े तथा पवित्रतम स्थल होते थे। पहाड़ियों के शिखर पर बने गर्भगृह, जिन्हें "पीक सैंक्चुअरी" कहते थे, बहुत सामान्य थे। भारत में विभिन्न सम्प्रदाय के सन्यासी अति प्राचीन काल से ऐसी गुफाओं का प्रयोग रहने के लिये करते आ रहे हैं। परन्तु बौद्ध भिक्षुओं ने भी किसी विशेष कारणवश ही इन गुफाओं की स्थापत्य कला को ग्रहण किया। सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, जाति-पाँति और यज्ञों अथवा पूजा-पद्धति को अधिक बल मिलने के कारण, महावीर तथा बुद्ध की शिक्षायें जन साधारण में बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई। इसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन हुआ, जिससे कला और संस्कृति भी अछूती न रह सकी। ब्राह्मणों की प्रधानता के सम्बन्ध में गृह-निर्माण भी एक धार्मिक कृत्य माना जाता था और उच्च वर्ग के लोग नगर के विशिष्ट भागों में रहते थे। जैन तथा बौद्ध धर्म के सुधारवादी आंदोलन

---

1. वत्स०, एम० एस०; मेमाइर्स आफ द आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, क्र० 70.
2. खरे, महेश्वरी दयाल; बाघ की गुफायें, पृ० 24-26.

सामान्य जनता के थे और इसी कारण इनके अनुयायियों के रहने के लिये "आरामों" (विश्रामगृहों) और बिहारों की आवश्यकता हुई। इन इमारतों में उस समय तक प्रयोग में लाई जाने वाली लकड़ी के स्थान पर अधिक टिकाऊ सामग्री को वरीयता दी जाने लगी। अधिकतम लाभ उठाने के लिए उन्होंने घने बसे हुये नगरों के आस-पास की पहाड़ी का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इन्हीं पहाड़ियों में गुफाओं की श्रेष्ठतम स्थापत्य कला ने जन्म लिया और विकसित भी हुई। इस प्रक्रिया में अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो गई।

भारतीय स्थापत्य कला-विज्ञान ईसा के जन्म से बहुत पूर्व ही पूर्ण विकसित हो चुका था, जिसके अनेक साहित्यिक प्रमाण विद्यमान हैं। जिस समय पालि ग्रंथों की रचना हुई, वास्तु विद्या विज्ञान के रूप में विकसित हो चुकी थी। धर्म के अतिरिक्त स्थापत्य कला के कलात्मक एवं व्यावहारिक आधार भी थे। बुद्ध ने अपने शिष्यों के प्रयोग के लिये पाँच प्रकार के निर्माण की आज्ञा दी थी, जिनके नाम बिहार, अध्योग, प्रासाद, हर्म्य (अनेक मंजिल का राजभवन) तथा गुहा थे। शैल्यकृत प्राचीन गुफाये, जिनमें बिहार तथा चैत्य भी थे, पालि सिद्धांतों के अनुसरण पर बनाई गई। टी० भट्टाचार्य ने सही कहा है कि चुल्लवग्ग में बिहार का उल्लेख यह इंगित करता है कि बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व ही बिहार बनाये जाते थे। बुद्ध घोष के अनुसार गुहा ईंट, पत्थर, लकड़ी, रेत से निर्मित होती थी तथा इसका तात्पर्य भूमितल के नीचे की इमारतों से था। "शिला गुहा" शब्द शैल्यकृत गुफाओं के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र के अनुसार इसका अर्थ राजप्रासादों के भूमि तल के कक्षों से भी हो सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था में अधिकांश स्थापत्य कला काष्ठ निर्मित थी। यही कारण है कि शिल्पकार मूलरूप से केवल काष्ठ-निर्माण पद्धति को ही सोच सकते थे, जिसका प्रतिबिम्ब प्रारम्भिक शैलकृत गुफाओं में स्पष्ट है। इनके द्वार, स्तम्भ, बीम तथा छतें सभी काष्ठ-स्थापत्य कला में पूर्ण कुशल कारीगरी का प्रदर्शन करते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि गुफा जितनी प्रारम्भिक है उतनी ही काष्ठ स्थापत्य-कला के निकट है।

कालान्तर में काष्ठ के स्थान पर पत्थर का प्रयोग किया जाने लगा। पहले काष्ठ अथवा पलस्तर की हुई सतह पर जो सजावट की जाती थी, शनैः शनैः पत्थर पर वही उत्कीर्ण की जाने लगी। तथापि स्तम्भों, द्वारों आदि के परम्परागत प्रयोग में कोई परिवर्तन नहीं आया तथा वर्ग व वृत्त जैसे मौलिक आकारों को भी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार अंगीकार किया जाता रहा। इस सम्बन्ध में बुह्लर के विचार उद्धरणीय हैं:

"अब यह सर्वमान्य तथ्य है कि ब्राह्मणवादी, जैन तथा बौद्ध सभी ने एक ही समय पर गुफा मंदिरों की स्थापत्य कला के विकास में योगदान दिया है, जो पहले बौद्धों की स्वकीयता समझी जाती थी।"[1]

---

1. बुह्लर; स्पेसीमेंस आफ जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा, एपीग्राफिया इण्डिका, ग्रंथ 2, पृ० 322.

उदयगिरि की गुफा क्रमांक 1 के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। यहाँ की अन्य गुफाओं में अधिकांश छोटे-छोटे उत्खनन हैं, किन्तु सभी में गुफा एक की निर्माण पद्धति को परिष्कृत किया गया है। आयताकार गर्भगृह व मण्डप के अतिरिक्त इनके अलंकृत द्वार व मूर्तियों का विन्यास अतीव उत्कृष्ट कला के द्योतक हैं। पर्सी ब्राउन[1] के अनुसार यहाँ की परिपक्व मूर्तिकला के समक्ष स्थापत्य अत्यन्त आदिकालीन प्रतीत होता है। किन्तु उन्होंने स्वयं यह लिखा है कि विस्तृत, अलंकृत द्वार, जिन पर प्रलम्बित लिंटेल है, तथा ऊपर गंगा-यमुना तथा नीचे द्वारपालों की मूर्तियाँ हैं, गुप्तकालीन कलाकौशल के द्योतक है। इन द्वारों में अर्ध स्तम्भ उत्कीर्ण है। यदा कदा द्वारपालों के अतिरिक्त भी अन्य मूर्तियाँ बनी हुई हैं। प्राय. सभी गुफाओं की भीतरी भित्तियाँ सादा हैं। तवा गुफा की छत में एक विशाल कमल पुष्प डिजाइन दर्शनीय है। गुफा 20 अन्य गुफाओं से भिन्न है क्योंकि उसका विभाजन करके अनेक कोष्ठ बने हैं। स्तम्भों में गुप्तकालीन शैली लक्षित है। इनके नीचे का भाग वर्गाकार है, जिसके ऊपर अष्टभुजी तथा सर्वोपरि भाग शोडष-भुजी हो जाता है। स्तम्भशीर्ष कुम्भवल्ली से सुशोभित है।[2]

जैसा इन गुफाओं के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि सभी गुफायें एक ही समय में निर्मित नहीं हुई थीं, गुफा क्रमांक 19 सभी गुफाओं के पश्चात् बनाई गई थी। इसका गर्भगृह अन्य गुफाओं के गर्भगृह से लगभग दुगना है, (22 फीट × 19 फीट 4 इंच), जिसके मध्य में 8 फीट ऊँचे चार महाकाय स्तम्भ हैं। परिष्कृत तथा अलंकृत द्वार के सम्मुख तीन द्वार वाला एक मण्डप था, जिसे कालान्तर में विस्तृत किया गया था। इस प्रकार सम्पूर्ण मण्डप 27 फीट वर्ग था। यह गुफा विभिन्न कलाओं का आधान प्रतीत होती है। गर्भगृह के स्तम्भों में प्रथम शताब्दी ई० पू० के नासिक गुफाओं के स्तम्भों का प्रभाव है जैसा पहलूदार घण्ट या मृगशावक प्रकार के पशुओं से स्पष्ट है। मण्डप के स्तम्भों पर गुप्त प्रणाली के घट शीर्ष हैं। बेस नगर के कलाकार गुप्तकाल में भी शुंगकालीन कला के गुण तथा प्रकृति से प्रेरित दिखाई देते थे। परिष्कृत उत्कीर्ण मूर्ति विन्यास, जो इन गुफाओं का एक अभिन्न अंग है, इनके दृढ स्थायित्व का द्योतक है।[3]

अभी तक स्थापत्य कला के विकास का जो विवरण दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि ई० पू० की शताब्दियों में ही मंदिर के विभिन्न अंगों का निर्माण होने लगा था किन्तु उस समय काष्ठ के प्रयोग की सहजता थी। पत्थर के प्रयोग ने स्थापत्य में एक क्रांति ला दी, जिससे स्थपति शक्तिशाली तो हो गया किन्तु उसकी कला सीमित ही रही। गुप्तकालीन मंदिरों के निर्माण में शनैः-शनैः ऊँचाई लाने का प्रयास किया। यही कारण है कि जिस चबूतरे पर मंदिर निर्मित किया जाता था, सर्व प्रथम उसी की ऊँचाई में वृद्धि

---

1. ब्राउन, पर्सी; पूर्वनिर्देशित, पृ० 59.
2. आर्क्योलॉजिकल रिमेंस मान्युमेंटस एण्ड म्यूजियम, भाग 1, पृ० 131.
3. ब्राउन, पर्सी; पूर्वनिर्देशित, पृ० 60.

की गई। गर्भगृह के ऊपर एक मंजिल और बनाई जाने लगी तथा क्रमशः शिखर का प्रादुर्भाव हुआ जो आर्य शैली के मंदिरों की विशेषता हो गई।

लगभग आठवीं शताब्दी में इस अभियान का प्रारम्भ मानना श्रेयष्कर होगा, जबकि सम्पूर्ण भारत में एकाकी अथवा मंदिरों के समूह बनाये जाने लगे थे। यहाँ यह स्मरणीय रहे कि भारतीय स्थापत्य कला में, मूर्तिकला के समान ही, धर्म, दर्शन तथा अभौतिक गुणों की सदैव से प्रधानता रही है। स्थापत्य कला की डिजाइनों को अलंकार का रूप देना भारतीय स्थपति के ही योग्य था, जिन्हें उसने कलात्मक किन्तु सुनिश्चित व तर्कसंगत ढंग से प्रयुक्त किया।

मंदिरों की शिखर प्रणाली की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। एक मत के अनुसार पूर्वी तथा मध्यभारतीय गुम्बदीय कुटीरों के शिखर से प्रेरित कही गई है। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति बौद्ध स्तूप के अण्डाकार के प्रलम्बन में देखते हैं तथा कतिपय विद्वान् मंदिर को रथरूप मानकर रथयात्रा के रथ पर प्रयुक्त विशाल आवरण से व्युत्पन्न मानते हैं।

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पटना में अन्वेषित एक मुद्रा जिस पर खरोष्ठी में एक लेख है, तथा जो ईसा की दूसरी शताब्दी के पश्चात की नहीं है, निस्संदेह ईंटों द्वारा निर्मित बहुत लम्बे, सीधे किनारों वाले शिखर मंदिर को चित्रित करती है। इसमें प्रवेश द्वार के ऊपर स्पष्ट रूप से पूर्ण मेहराब है और गर्भगृह में बुद्ध की बैठी हुई मूर्ति स्थापित है।

जो कुछ भी हो, श्रेणियों तथा शिल्पियों के सम्मिलित प्रयास से मंदिर स्थापत्य में दृढ़ता तथा समुचित सौंदर्य व भव्यता का समन्वय संभव हुआ। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से श्रेणियों में कार्य कुशलता की वृद्धि होती गई तथा शिल्पशास्त्र से उन्हें स्थापत्य कला के सिद्धान्तों का अपूर्व संबल व मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा। यही कारण है कि वास्तु शास्त्र में स्थापत्य सम्बन्धी प्रत्येक अंग का सविस्तार विवरण अत्यन्त सतर्क परिकलन से दिया गया है। स्थापत्य में कला के स्थान पर सम्भवतः शिल्प की प्रधानता कही जा सकती है क्योंकि इतने विशाल मंदिरों का निर्माण एक व्यक्ति के द्वारा न होकर सैकड़ों व्यक्तियों द्वारा किया जाता था, जो अपने-अपने अंग के विशेषज्ञ थे।

साधारण जीवन तथा उच्च विचार वाले भारतीयों के मंदिर स्थापत्य में उनके सहज किन्तु प्रभावपूर्ण-जीवन की छाप विद्यमान है। परंपरागत तकनीक के आधार पर गुरुत्वाकर्षण के नियमों का अतीव संतुलित व विवेकपूर्ण ढंग से बिना पलस्तर के प्रयोग के पत्थर के ऊपर पत्थर रखते गये। सम्पूर्ण मंदिर के निर्माण होने पर उसके भव्यरूप में यांत्रिक कला के स्थान पर परिष्कृत व उदार कला के दर्शन होते है। इस भव्यता में कला के लिये आवश्यक प्रकाश व छाया का यथोचित ध्यान रखा गया है।[1]

---

1. ब्राउन, पर्सी; पूर्वनिर्देशित, पृ० 77–80.

नवीं शताब्दी के अंत में निर्मित ग्यारसपुर का मालादेवी मंदिर अपने समय का अत्यन्त अलंकृत व विकसित स्मारक है, जो अंशतः संरचनात्मक तथा अंशतः शैल्यकृत है। इसके अंग हैं, प्रवेश मण्डप, मण्डप, अंतराल तथा गर्भगृह, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणापथ है तथा ऊपर आठ लघु शिखरों के समूह में उच्च पंच रथ शिखर हैं। द्वार पर पांच अलंकृत बंद हैं। गर्भ गृह के लिंटल पर खड़ी हुई जिन मूर्तियों की एक पंक्ति है तथा मण्डप के लिंटल पर यक्षी चक्रेश्वरी है। इसके अलंकृत स्तम्भ भी अत्यन्त अनूठे हैं।

उदयपुर के शिवमंदिर में भारतीय मंदिर स्थापत्य कला की पूर्णता का दिग्दर्शन होता है। यह मंदिर विस्तृत खुले क्षेत्र में ऊँचे आधार पर लाल पत्थर से निर्मित किया गया है। यह प्रागण-भित्ति से घिरा हुआ है, जिसका विस्तार 210 फीट वर्ग है तथा उसका बाह्य पार्श्व कलापूर्ण पत्थर की कटाई से अलकृत है। इस भित्ति के भीतरी पार्श्व में इसी के तारतम्य में पृष्ठाधार सहित पत्थर की मचिकाओ की पंक्ति है तथा इसकी प्रत्येक दिशा में चार द्वार थे, जिनमें अब केवल पूर्वी द्वार प्रयोग में लाया जाता है। प्रधान मंदिर के चारों ओर जो छोटे देवालय थे, वे अब ध्वंस की विभिन्न अवस्थाओं में है। मदिर के सम्मुख एक वर्गाकार बाह्य कोष्ठ है, जो वेदी कहलाती है। सम्भवतः इसमें न दी प्रतिष्ठापित रहा होगा।

मदिर के मुख्य भाग गर्भगृह तथा सभामण्डप हैं। गर्भगृह प्लान में तारांकित व गोल है। सभामण्डप मे तीन ओर प्रवेश अलिद है और प्रधान प्रवेश अलिद पूर्व दिशा मे है। द्वारों के पार्श्व को अत्यन्त सुदरता से उत्कीर्ण किया गया है। मुख्य द्वार का निर्माण इस कुशलता से किया गया है कि उदीयमान सूर्य की किरणें देव-प्रतिमा को आलोकित कर सकें। सभामण्डप की छत ह्रस्वकाय शैली जैसी दिखती है। मदिर का शिखर अपनी विशालता, अनुरूपता, सौंदर्य एवं सौष्ठव से नेत्रों को तत्काल प्रफुल्लित करता हुआ गगनचुम्बी दृष्टिगत होता है। लम्बरूप पार्श्वों में स्थापित सूक्ष्म अभिप्रायों की पुनरावृत्तियों से इसे अलंकृत किया गया है। देव एवं देवियों की मूर्तियां महामुद्रा में जड़ी गई हैं।

सभा मंडप 2 फीट 9 इंच के वर्गाकार तल वाले चार स्तम्भों पर उत्तंभित है। तल से 5½ फीट की ऊँचाई तक इन स्तम्भों की आकृति चतुष्कोण है और उसके पश्चात् 3 फीट 8 इंच तक वे अष्टकोण हैं। इस अष्टकोण की प्रत्येक भुजा 11 इंच है। ये स्तम्भ अप्सराओं की मूर्तियों तथा अन्य शिल्पाकृतियों से आवृत्त है, जिनकी शैली मध्यकालीन वास्तुकला की अनोखी विशेषता है।

मंदिर का शिखर 37 फीट 9 इंच व्यास के वृत्ताकार आधार पर 162 फीट ऊँचा है। शिखर के पूर्व भाग पर महामुद्रा का शिल्प अत्यन्त सुंदर है। मंदिर की लम्बाई 99 फीट तथा चौड़ाई 72 फीट है। इसका बाह्य पार्श्व हिन्दू देवी एवं देवों की शिल्प कृतियों से अलंकृत है, जिनसे ब्रह्मा, विष्णु, गणेश एवं कार्तिकेय आदि की मूर्तियां हैं। अष्ट दिग्पाल यथास्थान पर हैं। शिव एवं उनकी सहचरी दुर्गा की आकृतियां अनेक स्थलों पर अभिनिर्मित हैं।

भव्य आकार तथा समानुपात मूर्तियों से अलंकृत यह मंदिर उत्तर भारत के मंदिरों की वास्तु निपुणता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, जो अभी तक अक्षुण्ण है।

बौद्ध-स्थापत्य

स्तूप, चैत्यघर, बिहार, स्तम्भ आदि प्रायः बौद्ध स्थापत्य के अंतर्गत माने जाते हैं। किन्तु स्तूप का प्रारम्भ वैदिक युग की समाधियों में पाया जाता है। ऋग्वेद में अग्नि की उठती हुई ज्वालाओं को स्तूप कहा गया है (ऋ० 7.2.11)। वितान लेकर फैले हुये वृक्ष के साथ स्तूप की तुलना की गई है (ऋ० 1.24.7)। ऋग्वेद में अंगिरस के एक पुत्र का नाम हिरण्य स्तूप पाया जाता है। हिरण्य स्तूप का शब्दार्थ था सोने का थूहा या ढेर। वैदिक कल्पना के अनुसार सूर्य हिरण्य स्तूप है।[1] उस समय मृतक भय की वस्तु थे और इसलिये जीवित प्राणियों की छेड़छाड़ से इन्हें परे रखने के लिये उनके ऊपर मिट्टी के ढेर चढ़ाये जाते थे। समाधि मृतक के शरीर का एक प्रकार का वास्तुशिल्पीय अनुकल्प थी।

भौतिकता की स्थूलता के अतिरिक्त अभौतिक सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति सभी परम्परावादी स्थापत्य कलाओं में विद्यमान है। अतः सम्भव है कि स्तूप और इसके भागों को ब्रह्माण्ड की रचना सम्बन्धी पूर्ववर्ती अवधारणाओं को समाविष्ट करने के लिये विशिष्ट रूप से आविष्कृत अथवा रूपांकित किया गया हो। पृथ्वी का प्रतीतीकरण करते हुए वर्गाकार अथवा गोलाकार आधार पर अर्ध गोलाकार अण्ड बनाया गया, जो स्वर्गिक गुम्बज का अथवा ब्रह्माण्डीय डिम्ब का वास्तुशिल्पीय प्रतिरूप ही था। इस अण्ड के अन्तर्गत विश्व पर्वत मेरु था। इसी प्रकार हर्मिका, देवताओं के दुर्ग सदृश था, जिसके ब्रह्माण्डीय शिखर से देवगण स्वर्ग का पहरा देते थे।[2] बुद्ध के पूर्ववर्ती युग में वास्तुकला में एक ऐसे ब्रह्माण्ड की रचना का उद्देश्य, मृतक के आवास हेतु एक जादुई लघु ब्रह्माण्ड का निर्माण करना था, जिसे मृतक अपने जीवनकाल में विश्व के ऊपर शासन करने की शक्ति को वर्तमान संसार के लाभार्थ छोड़ सके। अतः स्पष्ट है कि स्तूप के आकार में भगवान बुद्ध तथा उनके धर्म की सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से समकक्षता ही नहीं है, अपितु इसके ऊपर उनकी प्रभुता भी प्रमाणित होती है। बुद्ध के जीवन में ब्रह्म और छत्र इन दोनों तत्वों का समन्वय था, अर्थात् वे योगी और चक्रवर्ती इन दो आदर्शों के प्रतीक थे।

ये स्तूप भगवान बुद्ध के पवित्र स्मृति चिन्हों के सान्निध्य से शक्तिशाली और अमर हो गये तथा इस प्रकार ये निर्वाण में विलीन बुद्ध की मरणोत्तर वास्तुशिल्पीय काया बन गये। इस प्रकार समाधि के एक प्राचीन रूप जो बौद्ध धर्म में विस्तृत एवं परिष्कृत किया गया, जिसमें ब्रह्माण्ड तथा उसके सृजन से अभिज्ञात मृतक प्रतीकात्मक रूप पुनरुज्जीवित है।

स्तूप का निर्माण पाषाण कुट्टिम या शिलाओं की नींव पर किया जाता था। चबूतरे के ऊपर बिछाये हुये शिला पट्टों पर औंधे कटोरे की आकृति का या लम्बोतरे बुद्बुद् की

---

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण; भारतीय कला, पृ० 156.
2. सिंह, मदनजीत; हिमालयन आर्ट, यूनेस्को प्रकाशन, 1968, पृ० 18.

आकृति का एक थूहा बनाया जाता था जिसे अण्ड कहते थे। आरम्भ में स्तूप के व्या
और उसकी ऊँचाई का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता था, पर क्रमशः उत्सेध या उच्छाय
वृद्धि होती गई। स्तूप की चोटी अपनी गोलाई पूरी न करके सिरे पर कुपुटी हुई बना
जाती थी। उसी चपटे भाग पर स्तूप का सबसे महत्वपूर्ण अंग रहता था। उसे हर्मिक
कहते थे। हर्मिका के बीच में एक यष्टि लगाई जाती थी। यष्टि का निचला भाग स्तूप
मस्तक में वातुगर्भ मंजूषा के ऊपर पिरोया रहता था और उसके ऊपरी सिरे पर तीन छ
या छत्रावली लगाई जाती थी। हर्मिका के चारों ओर छोटे खम्भों की एक वेदिका बना
जाती थी।[1]

क्रमशः स्तूप के वास्तु विधान में विकास हुआ। उसके सबसे प्रमुख रूप में स्तूप
चारों ओर वेदिका समेत तोरणों की रचना हुई। कुछ प्रारम्भिक स्तूपों की वेदिका (रेलि
अनुविशेष में स्वस्तिक की भुजाओं के सदृश बनाई जाती थी, जो निश्चित रूप से अने
प्राचीन सौर संकेतों में से एक का सौद्देश्य अंगीकरण है। दाहिने कंधे को टीले की ओ
घुमाये हुये दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा द्वारा स्तूप की उपासना की निर्धारित पूजा पद्धति भी सू
पूजा-पद्धति का ही अनुकरण है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि बौद्ध धर्म की पूज
पद्धति का कितना भाग प्राचीन सूर्य-पूजा-पद्धति से साम्य रखता है।

चार तोरण द्वार और वेदिका के चार तुरीय भागों की वास्तु रचना के मूल में
दार्शनिक मान्यता थी। चारों दिशायें ही स्वस्तिक की चार भुजायें हैं। चार दिशाओं
अधिपति चार लोकपाल थे। भरहुत साँची के स्तूपों में उनका वहाँ निवास बनाया गया
जो इस प्रकार है—उत्तर में यक्षों के राजा वैश्रवण कुबेर, पूर्व में गन्धर्वों के राजा धृतरा
दक्षिण में नागों के राजा विरूढक और पश्चिम में कुम्भाण्डों के राजा विरूपाक्ष।

पर्सी ब्राउन के अनुसार तोरण द्वारों की प्रेरणा प्रारम्भिक आर्य प्रणाली से
गई है। उस समय ग्रामों की सुरक्षा हेतु निर्मित काष्ठ के घेरों में इस प्रकार के द्वारों
परिकल्पना है। इसी प्रकार वेदिका के प्रमाण, नगरी, विदिशा के विष्णु मंदिरों की चा
दीवारी में विद्यमान है। वेदिका के निर्माण के लिये अनेक खम्भे खड़े किये जाते थे। प्रत्ये
खम्भे का सिरा पंदी के पत्थर से जड़ा रहता था, उसे आलम्बन पिण्डिका कहा जाता थ
खम्भे के ऊपर का चोटिया एक दूसरे पत्थर में चूल काटकर पिरोया जाता था। पत्थ
की उस मुण्डेरी को उष्णीष कहते थे। दो खड़े खम्भों के बीच में तीन आड़े पत्थर लम्बोत
छेदकाट पर फँसाये जाते थे। उन आड़े पत्थरों को सूची कहा जाता था[2] और जिस
में यह सूची डाली जाती थी उसे सूची-मुख।

साँची, सोनारी, सतधार, अंधेर आदि के स्तूपों के सम्बन्ध में पहले ही लिखा
चुका है। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि साँची का महास्तूप, जो अभी तक लगभग अप
मौलिक अवस्था में अक्षत है, बौद्ध स्थापत्य कला का एक परिष्कृत व अद्वितीय उदाहरण

---

1. अग्रवाल, पूर्वनिर्देशित, पृ० 157-158.
2. वही, पृ० 159.

स्तम्भ

प्रयोग के अनुसार ये दो प्रकार के होते हैं : एकाकी स्तम्भ या लाट, जिसमें उस मंदिर के देव के उचित प्रतीक बने होते हैं, जिस मंदिर के पार्श्व में ये स्थित हों, दूसरे, मंदिरों या धर्म निरपेक्ष भवनों के इमारती खम्भ हैं। इन दोनों प्रकार के स्तम्भों में विविधता है, किन्तु इनके शरदण्ड, कत्तल तथा अष्टभुजी अनुभाग अत्यन्त विशिष्ट हैं। ये सभी एकाश्म होते हैं। इनके स्तम्भ शीर्ष भी विभिन्न प्रकारों के है। ठेठ प्रारम्भिक रूप में इनके तीन भाग पाये जाते हैं। निचले भाग में प्रतिस्थापित कमलकण्टिका, मध्य भाग में चार जुड़े हुए पशु, सामान्यतया शेर और वृष और सबसे ऊपरी भाग में गद्दी के साथ छोटे-छोटे मेहराबदार कोने होते हैं। अधिकांशतया यक्ष आकृतियों से सुसज्जित दीवालगीर सभी युगों की विशिष्टता है।

इस स्तम्भों के पूर्ववर्ती काष्ठ स्तम्भों में प्रागैतिहासिक काल में भी धार्मिक चिन्ह अंकित रहते थे। मैसी का कथन है कि लम्बे खम्भे और उनकी लटकती हुई पताकायें, समर्थक चक्र, पक्षी तथा अन्य प्रतीक वर्तमान में बौद्ध मंदिरों के सामान्य अंग हैं, जैसे वर्मा में देखे जा सकते हैं और ये स्तूपों तथा मंदिरों के निकट दिखाई देने वाले व्रतानुष्ठित खम्भों के सदृश हैं। ये प्रतीकात्मक खम्भे वैक्ट्रियन तथा भारतीय मुद्राओं पर भी सामान्य रूप से पाये जाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत शब्द 'लिंग' का साहित्यिक अर्थ एक चिन्ह, एक स्तम्भ अथवा एक आश्रय है। यही अर्थ यूनानी शब्द 'फैलस' का भी है। अतएव यह असम्भव नहीं कि भारतीय तथा यूनानी लैंगिक उपासना के अनेक कल्पित संकेत प्राचीन लेखकों के उन उद्धरणों पर आधारित हों, जिनमें धार्मिक जुलूसों में ले जाये जाने वाले प्रतीकात्मक स्तम्भों अथवा सूर्य स्तम्भों का वस्तुतः उल्लेख है।[1] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार लकड़ी के खम्भों पर लकड़ी की ही पुतलियों के रूप निकाले जाते थे। कालान्तर की चन्द्रशालाओं के खम्भों पर इस प्रकार की शालभंजिका पुतलियों का बहुत उल्लेख आया है।[2]

अभी तक प्राप्त अशोक कालीन चौदह स्तम्भ है, जिनमें एक साँची स्तम्भ है, जो सारनाथ स्तम्भ के सदृश ही है। उसमें भी चार सिंह पीठ सटाये बैठे हैं और एक गोल अंड पर चुगते हुए हंसों की पंक्ति है, जो रामपुरवा शीर्ष सदृश है। साँची की उकेरी अधिक रूढ़िग्रस्त है। संभवतः उसका काल सारनाथ के बाद है।[3]

विहार

स्तूप, स्तम्भ, वेदिका, तोरण आदि के समान विहारों की उत्पत्ति भी प्रागैतिहासिक युग में प्रयुक्त कन्दराओं से हुई प्रतीत होती है। यही कारण है कि विनय में भी यह विव-

---

1. मैसी, एफ० सी०; सांची एण्ड इट्स रिमेंस, 1892, पृ० 50.
2. अग्रवाल, पूर्वनिर्देशित, पृ० 81.
3. वही, पृ० 138.

रण प्राप्त होता है कि प्रारम्भिक काल में भिक्षु प्राकृतिक स्थानों में निवास करते थे, जिनमें वृक्ष के नीचे जंगल, पहाड़ी गुफाओं तथा स्मशानों का विशेष उल्लेख है।[1] विनय का काल निर्धारण 600–300 ई० पू० किया गया है।[2] कालान्तर में, जलवायु तथा मौसम की असुविधाओं के कारण विहारों के निर्माण किये जाने लगे। चुल्लवग्ग के विवरण से स्पष्ट है कि बुद्ध ने भिक्षुओं को ऐसे विहारों में निवास करने की अनुमति दे दी थी। बुद्ध ने श्रावस्ती से ही अनाथपिंडिक को 60 विहार निर्माण करने के उपलक्ष्य में बधाई दी थी। समकालीन तपोमय आदर्श के परिवर्तन के कारण भिक्षुओं ने एकांतवास के स्थान पर मठवासी होना अधिक श्रेयस्कर समझा।

विहार निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में एक खुले स्थान के चारों ओर छोटे-छोटे कुटीर बनाये जाते थे, जैसा भरहुत व साँची के तोरण द्वारों पर उत्कीर्ण कुटीरों से सम्भावित होता है। क्रमशः ईंट व पत्थर के प्रयोग से उनका रूप विकसित हो गया। साँची का विहार 51, एक सुगठित इकाई है, जिसके विशाल प्रांगण के चारों ओर भिक्षुओं के निवास हेतु 22 कोष्ठ बने हुये है जिनके सम्मुख 7 फीट चौड़ा एक वरण्ड है। इसकी लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 109 फीट तथा चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 107 फीट है। इसकी वाह्य भित्तियाँ $4\frac{1}{2}$ फीट तथा भीतरी भित्तियाँ 3 फीट मोटी हैं। गढ़े हुये पत्थरों से उसके दोनों पार्श्व बने हुये हैं तथा क्रोड में रोड़े तथा अनगढ़ पत्थरों का प्रयोग किया गया है। पत्थर की दीवारों पर चपटी ईंटों का पृष्ठावरण विशेष उल्लेखनीय है।

पूर्वी दीवार में मुख्य द्वार है जिसके दोनों ओर एक-एक तोरण है। प्रांगण के फर्श में ईंटों की चिनाई है, जो 54 फीट वर्ग है। वरण्ड व प्रांगण के मध्य में पत्थर का एक लघु प्राकार है, जिसमें काष्ठ स्तम्भ लगाने के लिये छिद्र किये गये हैं। इन स्तम्भों पर वरण्ड की छत आश्रित रही होगी। प्रांगण से पानी के निकास के लिए दक्षिण पूर्वी कोने में एक नाली है।

चार कोनों में बने चार कोष्ठों के दोनों ओर वरण्ड हैं, जिसके कारण वे अन्य कोष्ठों से अलग हैं। पश्चिमी भाग का मध्यस्थ कोष्ठ शेष कोष्ठों से बड़े आकार का है तथा इसके सम्मुख वरण्ड को छोटी दीवारों द्वारा विभाजित करके उपकक्ष में परिवर्तित कर दिया गया है। इसकी छत तथा वरण्ड में काष्ठ का प्रयोग किया गया था, जैसा यहाँ से प्राप्त कोयले से विदित होता है।[3]

इसलामी स्थापत्य

मुसलमानों के भारतवर्ष में प्रवेश करते ही एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ। इस धर्म के अनुयायियों के संस्कृति, रीति-रिवाज आदि हिन्दुओं से सर्वथा पृथक् थे। यदि

---

1. चुल्लबग्ग, पृ० 239.
2. मिश्र, जी० एस० पी०; ईस्ट एण्ड वेस्ट, अंक 1–2, ग्रंथ 19, पृ० 116
3. श्रीमती मित्रा, पूर्वनिर्देशित।

मुसलमान यथार्थवादी थे तो हिन्दू आदर्शवादी। भौतिकता का स्वप्नद्रष्टा से विरोध स्वाभाविक था। इस दृष्टि से मस्जिद तथा मंदिर इन दोनों धर्मों की कसौटी समान थे, जिनमें उनकी विचारधाराओं का दिग्दर्शन होता है। मस्जिद की स्पष्टता व सादगी मंदिर के रहस्यमय गर्भगृह से भिन्न थी।

पश्चिमी एशिया से प्रेरित इसलामी स्थापत्य की अनूठी देन चूने के गारे तथा मेहराब का प्रयोग है, जिसका उपयोग कालान्तर के स्थापत्य में विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ। हिन्दू स्थपति पत्थर के कार्य में संस्कारगत दक्षता प्राप्त कर चुके थे, उन्हें मुसलमान शासकों ने प्रोत्साहित किया और दो विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य होने लगा। वैभवशाली निर्माण की व्यस्तता ने आंतरिक विषमतायें दूर कर दीं, जिससे सम्पूर्ण भारतीय समाज एकता के सूत्र में बँध गया।

इसलामी स्थापत्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग मस्जिद है जिसका अर्थ साष्टांग प्रणाम करने का स्थान होता है। मस्जिद प्रारंभिक अवस्था में एक खुला हुआ अहाता था, जिसके चारों ओर दीवार होती थी। क्रमशः क्रियात्मक आधार पर उसका रूप विकसित होता गया। मस्जिद के विभिन्न अंग हैं—आयताकार रिवाक, रहन, हौज तथा लिवान (मंडप), जिसका दिग् विन्यास पश्चिम की ओर होता है। प्रार्थना या सभामण्डप के दो अंग होते हैं। एक किब्ला दीवार पश्चिम दिशा में होती है, जिसकी ओर खड़े होकर प्रार्थना की जाती है तथा दूसरा अंग मेहराब है। इसके दाहिनी ओर खुत्बा पढ़ने के लिये मिम्बर होता है। मण्डप की छत गुम्बदीय होती है तथा उसके कोनों पर मीनारें होती हैं।

विदिशा की विजय मण्डल मस्जिद का प्लान लगभग इसी प्रकार का है। उसकी छत पर गुम्बदें नहीं हैं, दो कोनों में केवल दो मीनारें हैं। उदयपुर में भी एक मस्जिद है, जिसकी भित्ति पर एक लेख है।

इसलामी स्थापत्य का दूसरा रूप मकबरा है, जिसकी साम्यता हिन्दुओं की समाधि से की जा सकती है। एक वर्गाकार अथवा आयताकार प्रकोष्ठ में एक चबूतरे पर मृतक की समाधि बना दी जाती है तथा ऊपर एक गुंबज होती है। यदि मृतक संतात्मा होता है, तो उसे दरगाह कहा जाता है। विदिशा में गुंबज का मकबरा है, जिसमें 1487 ई० स० का एक फारसी लेख है।

भारतवर्ष का इसलामी स्थापत्य तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जिसे शाही, प्रांतीय तथा मुगल कहा गया है।[1] प्रारम्भिक शाही मस्जिदों में भारतीय स्थापत्य की छाप दर्शनीय है, जिसके कारण उनका रूप इमारत सदृश है। प्रान्तीय स्थापत्य में विभिन्न प्रांतों की अपनी विशिष्टतायें हैं, किन्तु उनका मूल स्रोत शाही स्थापत्य ही रहा है। मुगल काल में अभूतपूर्व क्रियाशीलता देखी जाती है किन्तु औरंगजेब के पश्चात् उसका पतन हो गया। विदिशा में लोहांगी पहाड़ी पर एक मस्जिद है, जिसमें जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, मालवा के महमूद प्रथम खिलजी तथा अकबर के लेख हैं।

---

1. ब्राउन, पर्सी; इण्डियन आर्किटेक्चर (इसलामिक पीरियड)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विदिशा में गत दो सहस्र वर्षों की स्थापत्य कला, भारतीय स्थापत्य कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से इसकी व्युत्पत्ति तथा इसका विकास व वैभव अभूतपूर्व है।

मूर्तिकला

भारतीय संस्कृति में मूर्तिकला एक ऐसे विशाल दृढ़ कल्पवृक्ष सदृश है, जिसमें न केवल सुंदर व सुगंधित पुष्प सदैव खिलते रहे हैं, अपितु अमरत्व प्रदान करने वाले, सुस्वादु फल भी लगते रहे हैं। इस विशाल वृक्ष की सघन छाया में तपस्वी निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा से रमते देखे गये हैं, थके बटोही क्षणिक विश्राम लाभ करके नवीन स्फूर्ति प्राप्त करते रहे हैं तथा अनेक भौतिकतावादी जन जीवनयापन हेतु अथवा विभिन्न अभिप्रायों से इसकी शाखाओं को क्षत-विक्षत भी करते देखे गये हैं। अनेक जातियों व धर्मों के अनुयायियों ने अपनी सांस्कृतिक निष्ठाओं के जलसिंचन से इसकी जड़ों को धरातल तक पहुँचाकर दृढ़तर से दृढ़तम बना दिया तथा अपने आदर्शों से उसके गगनचुम्बी शिखर पर पताकायें फहराई, जिनके अगणित रूप, रंग, उद्देश्य अनेकता में एकता का प्रादुर्भाव करते रहे हैं। क्या वास्तव में इस प्रकार के कल्पवृक्ष की विदिशा से प्राप्त प्रस्तर प्रतिकृति, जो भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में संरक्षित है, इसी अभिप्राय का द्योतक नहीं है ? यह कल्पवृक्ष हेलियोदोरस स्तम्भ के समकालीन विष्णु-मंदिर के सम्मुख प्रतिष्ठापित किया गया होगा।

विदिशा की मूर्तिकला पर चर्चा करने के पूर्व भारतीय कला की पृष्ठभूमि पर कुछ विचार व्यक्त करना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कहा जा चुका है, प्राचीन भारत की दो परम्पराओं—वैदिक व आगमिक को क्रमशः आर्य अथवा ब्राह्मणवादी तथा द्रविड़ अथवा लोकप्रिय की संज्ञा दी गई है। प्रथम प्रकार की परम्परायें यज्ञों एवं मंत्रों के माध्यम से प्रकृति पर श्रद्धा और उसकी आराधना के लिये प्रसिद्ध है। इनमें किसी भी प्रकार की भक्तिमयी धार्मिक पूजापद्धति अथवा मूर्तियों की पूजा को महत्व नहीं दिया गया है। दूसरे प्रकार की परम्परा प्रथम वर्ग की परम्परा से अधिक प्राचीन व मौलिक है, जो जन-जीवन का गुणात्म एवं प्रमुख तत्व रही है। इसके अन्तर्गत यक्ष (जिन, वृक्ष, आत्मा आदि), नाग (सर्प, झरनों और झीलों की आत्माओं आदि) व स्थानीय उपदेवी की पूजा होती रही है। विस्तृत ब्रह्माण्ड विज्ञान, अनेक पौराणिक कथायें, पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्त, सन्यास और योग की साधना इस आगमिक परम्परा की सम्पत्ति रही हैं, जो उत्तर वैदिक काल में दृष्टिगोचर होती हैं।

वैदिक संस्कृति में देशज धार्मिक आस्थाओं के व्याप्त हो जाने से, उपनिषद् तथा बौद्ध धर्म की प्रतिक्रियावादी शिक्षा का उदय हुआ। जीवन का लक्ष्य मोक्ष और इसे प्राप्त करने का माध्यम ज्ञान है। इसमें देशज देवता वेदों में वर्णित देवताओं के साथ मिश्रित हो गये तथा उनकी व्याख्या भी दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक चिंतन द्वारा की जाने लगी।

इस प्रकार निर्मित हिन्दुत्व की महान् संस्था, जिसमें एक ओर धार्मिक ग्रंथों की स्वीकृति तथा दूसरी ओर जनप्रिय धार्मिक आस्थाओं एवं विश्वासों की मान्यता थी,

वास्तविक रूप में राष्ट्रीय विचारधारा का वाहन बन गई। हिन्दू धर्म-विज्ञान और पौराणिक कथाओं की मौलिक एवं दृश्य अभिव्यक्तियों में मानवीय आत्मा तथा ब्रह्माण्ड की प्रकृति के विषय में अनुभूति एवं चिन्तन के साधन उपलब्ध हुये। इसी समय नये देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें एक बुद्ध थे।

भारतीय कला मौलिक रूप से एक ऐसी क्रमबद्ध कला है, जो व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तथा दैवी कार्यों को समर्पित है। अविकृत ग्रंथों की भी यही घोषणा है कि स्वर्ग की प्राप्ति मनुष्य की प्रवृत्ति के निर्माण से नहीं, प्रत्युत दैवी प्रतिमाओं के निर्माण से होती है, जो किसी व्यक्ति विशेष की कल्पना को सुखद हो, वह सुंदर नहीं. अपितु जो धर्म विधानों के अनुरूप हो, केवल वही भक्त की दृष्टि में सुंदर है।

मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला के विकास काल में भारतीय कला को सौंदर्यानुभूति की दृष्टि से निर्मित नहीं किया गया था, यहां तक कि इसे कला की भाँति भी नहीं माना जाता था। विशेषकर मूर्ति-श्रजन को कलाकृति न मानते हुये आत्मिक उन्नति की साधना का आधार माना जाता था। पूजक और देव की चेतना में तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से की जाने वाली वैयक्तिक उपासना में प्रयुक्त मूर्ति एक यंत्र मानी गई। देवता की पूजा करने के लिये पूजक को देवतुल्य होना आवश्यक है। इस आध्यात्मिक अभ्यास के लिये दो प्रकार के यंत्रों का उपयोग किया जाता है, एक तो पूर्णतः ज्यामितीय व रेखाकार और दूसरे त्रिविमितीय और बहुत कुछ मानवता रोपी अथवा पशु रूप। इन दोनों प्रकारों में कोई अंतर नहीं है तथा दोनों ही लगभग समान रूप से समाधिस्थ ध्यान में उत्पन्न दिव्य दृष्टि के दिव्य रूप है।

मौर्य और शुंग कला मौर्यों से पूर्ववर्ती कला की परम्परा को बनाये रहती है। भारतीय तथा प्रारंभिक पारसी कला, दोनों समस्त पश्चिमी एशिया की एक समान परम्परा का परवर्ती पक्ष है। मार्शल के अनुसार मौर्य और शुंग कलाओं में अभी भी सम्मुखता नियम अपनाया जाता था तथा 'स्मृति-चित्रों' के स्थान पर प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन को महत्व नहीं मिला था। कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि स्मृति-चित्र अथवा पूर्व अनुभवों पर आधारित कृत्रिम-मूर्ति-प्रारम्भ से अंत तक भारतीय कला का आवश्यक आधार है। भारतीय पद्धति सदैव ही मानस-दर्शन की पद्धति है, जो आदिकालीन कला में अचेतन तथा परिपक्व कला में क्रमबद्ध रही। यदि व्यक्ति किसी मूर्ति अथवा चित्र की गति से प्रभावित होते हैं तो इसलिए नहीं कि कलाकार अथवा चित्रकार ने गतिविधि का निरीक्षण किया है, प्रत्युत इसलिये कि अपनी कृति के संकल्पन तथा निर्माण के समय कलाकार को स्वयं तदनुकूल उत्तेजना की अनुभूति हुई है।

मूर्तिकार अपनी पटुता तथा कला की प्रशंसा से इतने अधिक अभिज्ञ थे कि उनके विषय में अनेक कहानियाँ प्रचलित है।[1] इसी प्रकार उनकी कार्यतल्लीनता के भी विभिन्न वृत्तान्त मिलते हैं। कुछ प्रतिभाशाली मूर्तिकारों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे बिना

---

1. शिवराम मूर्ति, इण्डियन स्कल्पचर, पृ० 19.

"वहाँ दो मण्डप तथा दो स्तम्भ हैं। वाम भाग के स्तम्भ पर चक्र आकृति है तथा दक्षिण भाग पर एक वृष मूर्ति है।" उसमें यह भी उल्लिखित है कि राजा प्रसेनजित ने बुद्ध की चंदन की प्रतिमा बनवाई थी जिसका वृष-शीर्ष था। इस प्रतिमा के लिए बुद्ध की स्वीकृति प्रसेनजित को प्राप्त थी तथा "यह फो की सर्व प्रथम प्रतिमा थी जिसकी अनुकृति कालान्तर में की जाने लगी।"[1] इसी प्रकार से जीवन्त स्वामी की प्रतिमा की उत्पत्ति के विषय मे आवश्यक चूर्णी में, जो 733 ई० सन् की रचना मानी जाती है, उल्लेख मिलता है कि विद्युन्माली ने महाहिमवंत पर्वत से चंदन की लकड़ी की महावीर की एक प्रतिमा बनाई थी। यह प्रतिमा किसी प्रकार से महावीर के समकालीन राजा उदयन ने प्राप्त की थी। उदयन तथा उसकी रानी इसकी पूजा करते थे। रानी की मृत्यु के पश्चात् इसकी पूजा देवदत्ता नामक दासी को सौंपी गई, जिसका प्यार उज्जैन के राजा प्रद्योत से हो गया। देवदत्ता तथा प्रद्योत उस प्रतिमा को लेकर भाग गये तथा उसके स्थान पर एक अन्य प्रतिमा छोड़ गये। हेमचन्द्र के अनुसार विद्युन्माली ने महावीर को देखकर यह प्रतिमा बनाई थी। इसके वृतान्त से स्पष्ट है कि जीवन्त स्वामी की प्रतिमा विदिशा में संरक्षित थी।[2]

मौर्यकाल के पूर्व की प्रतिमाओं में लौरिया-नंदनगढ से प्राप्त स्वर्ण की एक छोटी उभारदार पट्टिका पर नग्न देवी की प्रतिमा के अतिरिक्त परखम यक्ष (मथुरा संग्रहालय), बेसनगर यक्षी (भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता) तथा पटना से प्राप्त दो मूर्तियों की गणना की जाती है। कुछ विद्वानों ने[3] इन मूर्तियों को मौर्य तथा शुंगकालीन सिद्ध करने की भी चेष्टा की है।* किन्तु बुद्ध तथा महावीर के जीवनकाल में उनकी प्रकृत आकार की मूर्तियों की प्रथा इन मूर्तियों में विद्यमान है। जिस प्रकार प्रारंभिक शैल्यकृत गुफाओं अथवा स्तूप वेदिकाओं में काष्ठ निर्माण विधि की अनुकृति स्पष्ट है, इन विशाल प्रतिमाओं में भी भारतीय कला का मौलिक रूप है, जिनमे कल्पना के स्थान पर शक्ति का प्रदर्शन किया गया है। राय कृष्णदास इन्हें यक्ष अथवा देवयोनि की मूर्तियाँ नहीं मानते अपितु मानव प्रतिमायें मानते हैं, जो राजा-रानियों की रही होंगी। इनकी सम्मुख दर्शन शैली, इनका जीवित आकृति से भी विशाल आकार, दृढ़ता, अदक्षता तथा अपरिष्कृतता आदिकालीनता का परिचय देते हैं। ये आकृतियाँ सुदृढ़तापूर्वक पृथ्वी पर आरोपित हैं, जो उस समय की शारीरिक शक्ति की प्रत्यक्ष एवं साकार अभिव्यक्ति हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रारंभिक

---

1. मैसी; साँची एण्ड इट्स रिमेंस, पृ० 88. देखिये–चंद्रा, रामप्रसाद; ओरीजिन आफ द इमेज आफ बुद्ध आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, 1920-30, पृ० 191-192 व 214.
2. शाह, यू० पी०; ए यूनिक जैन इमेज आफ जीवन्त स्वामी, जर्नल आफ ओरियेटल इन्स्टीट्यूट बरोदा, 1, 1951-52.
3. रे, निहार रंजन; मौर्य एण्ड शुंग आर्ट, पृ० 38-41.

* दीदारगंज यक्षी (पटना संग्रहालय) को भी प्राग्-मौर्य कहा गया है, किन्तु जैसा उपाध्याय, भगवतशरण का भी मत है, इसे मौर्यकालीन कहा जा सकता है।

मूर्तिकला सीधे उस धरती से उत्पन्न है जिस पर वह स्थापित है और सहज ही उत्तरवर्ती विकास की कुंजी प्रदान करती है।

उपर्युक्त बेसनगर यक्षी जो कलकत्ते में है, के अतिरिक्त दो अन्य मूर्तियाँ विदिशा संग्रहालय में संरक्षित हैं तथा एक यक्ष का धड़ मात्र लेखक को वहाँ पर अन्वेषण करते समय मिला था। इनकी अपनी विशिष्ट शैली है, जो लगभग मौर्यकालीन अथवा कुछ पूर्व की होते हुये भी[1] राजकीय कला के प्रभाव से अछूती हैं क्योंकि ये प्राचीन समय से प्रचलित यक्ष पूजा से सम्बद्ध है और लोक कला का प्रतिनिधान करती हैं।

कलकत्ता संग्रहालय की यक्षी 6 फीट 7 इंच ऊँची है, तथा विदिशा स्थित यक्षी 5 फीट ऊँची है। तीसरी मूर्ति, जो 12 फीट ऊँची है, यक्ष कुबेर की है तथा अब विदिशा संग्रहालय में संरक्षित है। ये सभी मूर्तियाँ चारों ओर से कोर कर बनाई गई हैं जिनमें यथातथ्य चित्रण की प्रवृत्ति तथा पृष्ठ भाग की अपेक्षा सम्मुख भाग को अधिक विस्तृत करने का प्रयास है। इनकी शक्ति, महाप्रमाण या और प्रभविष्णु रूप के कारण वासुदेव शरण ने इन्हें देवताओं की मूर्तियाँ माना है, जो सर्वथा उचित है। इस प्रकार की अन्य तेरह मूर्तियाँ कुरुक्षेत्र, मथुरा, पवाया अहिच्छत्र, वाराणसी, पटना, शिशुपालगढ़ आदि स्थानों से प्राप्त हुई है। विदिशा यक्ष कुबेर के शीर्ष पर, अन्य यक्ष मूर्तियों के सदृश पगड़ी है, कंधों व भुजाओं पर उत्तरीय है तथा नीचे धोती है तथा हाथ में एक अमृतघट। यक्षी मूर्तियों के कानों में कुंडल, गले में भारी कंठा जो वक्षों के ऊपर से पेट तक लटकता है तथा कमर से धोती के ऊपर मेखला है। यक्ष तथा यक्षिणी की धोतियाँ कटि में कायबंध या मेखला से बँधी हैं। विदिशा यक्षिणी के हाथ में एक फूल है। इनका केश विन्यास भारी और प्रभावशाली है। पीछे बालों की दो गुँथी हुई चोटियाँ कमर के नीचे तक लटक रही हैं।

इन मूर्तियों की अपनी विशिष्टता के कारण कालान्तर के शिल्पियों को इनसे प्रेरणा मिली। भरहुत तथा साँची की यक्ष मूर्तियों में इनका प्रभाव लक्षित है।

यह मूर्तियों को इतना विशाल बनाने का कारण था। उन्हें गाँव के चौरे पर पूजा हेतु प्रतिष्ठापित कर दिया जाता था। शुंग काल में भी यक्ष-पूजा अत्यधिक लोकप्रिय थी, जिसका प्रभाव साँची स्तूप के यक्षों से दर्शित है।

यक्ष का एक नाम राजा या चमकने वाला था। इसीलिए उनके अधिपति कुबेर को राजराज या महाराज कहा गया है। यक्ष का एक महत्वपूर्ण पर्याय ब्रह्म था तथा पुराकाल से ही इनका सम्बन्ध अमरता, दीर्घ जीवन और स्वास्थ्य के साथ हो गया था। इसीलिए इनके हाथों में अमृत घट देखा जाता है। इनका तीसरा लक्षण तपसिक्रांतम्, अर्थात् तप या अग्नि के रूप में चलता हुआ कहा गया है।[2]

---

1. खण्डेलवाला, कार्ल; इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग (ए इन्ट्रोडक्टरी स्टडी) के अनुसार यह यक्ष मूर्तियाँ मौर्यकालीन हैं जिनमें से कुछ, भवनों के द्वारपाल की हो सकती हैं।
2. अग्रवाल; भारतीय कला, पृ० 148-152.

यक्ष शब्द ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, उपनिषद आदि में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन ग्रंथों में इसे "आश्चर्यजनक अथवा भयंकर" के अर्थ में कहा गया है किन्तु स्पष्टतया परिभाषित नहीं है।[1] फर्ग्यूसन के अनुसार यक्ष तथा नाग उर्वरता तथा वर्षा की शक्तियाँ हैं जिनमें यहाँ के मूल निवासी दस्युओं की आदिकाल से ही श्रद्धा थी।[2] कीथ ने यक्ष शब्द की मूल धातु यज, अर्थात् पूजा करना, कहा है।

मौर्यकालीनस्तर से उत्खनन में मातृदेवी की कुछ मृण्मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई है, जिनके कुछ लक्षण सैंधव परम्परा की मृण्मूर्तियों के है। यही कारण है कि इन्हें "चिर-नूतन" कहा गया है। इनके सम्बन्ध में पहले ही सविस्तार वर्णन किया जा चुका है। इसी प्रकार मौर्यकालीन मिट्टी के अलंकृत भाण्डे तथा काले ओपदार उत्तरी भाण्डों के विषय में यथोचित प्रकाश डाला जा चुका है।

मौर्यकालीन राजदरबारी कला का उदाहरण साँची महास्तूप के दक्षिण द्वार पर प्रतिष्ठापित अशोक का स्तम्भ है, जिसका चार सिंह युक्त शीर्ष साँची संग्रहालय में है। उसी स्थान पर अशोककालीन स्तूप के छत्र के अवशेष भी प्रदर्शित है। अशोक के स्तम्भों के विकास में सारनाथ तथा साँची के स्तम्भ अंकित चरण के माने जाते हैं।[3]

विदिशा शुंग कला का प्रधान केन्द्र रही है जिसके पुष्प देश की विभिन्न दिशाओं को अभी तक सुवासित कर रहे हैं। भरहुत व साँची इस कला के प्रेरणात्मक स्रोत हैं, जिनमें सामान्य जन जीवन की झाँकी, प्राचीन अलंकरणों की विविधता, राजप्रासादों व विशाल नगरों की वैभवपूर्ण दृढ़ता, मंदिरों की मौलिकता, नाग, नागी, यक्ष-यक्षी का निरूपण, वृक्ष, लता, पुष्प, सरोवर आदि के अभिप्राय, बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनायें, जातक कथायें, बौद्ध धर्म के प्रतीक, पशुओं का वास्तविक चित्रण, स्त्रियों का लावण्य आदि अतीव मनोहारी, ज्ञानप्रद, आकर्षक व रोचक विषयों का समावेश है।

साँची के स्तूप दो की मूर्तिकला महास्तूप से कुछ पूर्व की है, जिसमें महास्तूप की मूर्तियों का परिष्कार नहीं है। किन्तु सौन्दर्योत्कर्ष को शिल्पकारिता की पूर्णता का पर्यायवाची समझना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अपरिष्कृतता की निष्कपटता व सरलता परिष्कृत कृति से अधिक प्रभावपूर्ण होती है। इस स्तूप में तोरण न होने के कारण इसकी वेदिका पर ही आकृतियाँ तथा विभिन्न अभिप्राय उकेरे गये हैं, जिनमें प्रायः वही विषय वस्तु है जो महास्तूप के तोरणों पर है। उसे देखकर यह प्रतीत होता है जैसे कलाकारों का प्रस्तर पर यह अप्रयुक्त प्रयास हो, जिसमें आकृतियों को उभार न देकर केवल उकेरा गया

---

1. कुमारस्वामी; यक्ष, पृ० 5.
2. फर्ग्यूसन; ट्री एण्ड सर्पेंट वर्शिप, पृ० 244, यक्ष सम्बन्धी विवरण के लिये देखिये— टानी; कथा सरित सागर 1, पृ० 127, 337, 2-594 तथा कालावे; यक्कुन नट्टानवा, लन्दन, 1829.
3. रे, निहार रंजन; मौर्य एण्ड शुंग आर्ट, पृ० 23.

है। अभी तक काष्ठ या हाथीदाँत पर नक्कासी में अभ्यस्थ कलाकारों को प्रस्तर पर उसी दक्षता का प्रदर्शन करने में कुछ कठिनाई होना स्वाभाविक ही है।

महास्तूप के तोरण द्वारों पर दर्शित कला से यह अनुमान लगाना कठिन है कि स्तूप दो तथा एक के निर्माण समय में इतना कम अन्तर होते हुये भी, यहाँ के कलाकार अपूर्व कुशलता का परिचय देने मे समर्थ हो सकते है। इस कला में मानवाकृति ने, जिसकी अनुपस्थिति मौर्य कला में सुस्पष्ट है, महत्वपूर्ण भाग लिया है। किन्तु उसका निरूपण प्रकृति के विभिन्न अवयवों के समान ही किया गया है, उसे प्रधानता नहीं दी गई है। प्रवाहित रेखीय लय, सभी पृथक् विषयों को जीवन के अविरल प्रवाह से संबद्ध करती है।

सामान्य जन जीवन के दृश्यों में पूर्वी द्वार के दाहिने स्तम्भ पर स्त्रियाँ अपनी गृहस्थी का कार्य करती हुई दिखाई देती है। किसी के हाथ में मूसल है, तो कोई सूप लिये है। जल भरती हुई झुकी हुई स्त्री का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक है। उत्तरी द्वार के बाये स्तम्भ के भीतरी भाग पर स्तूप की पूजा करती हुई दो स्त्रियाँ हैं, उनके मध्य में एक छोटा बालक उन्हीं का अनुकरण करते हुए बड़े रोचक ढंग से हाथ जोड़े हुये है। दक्षिणी द्वार के पृष्ठ भाग पर तथा पश्चिमी द्वार के दाहिने स्तम्भ पर सुखी मिथुन कल्प वृक्षों की छाया में नृत्य, गीत, प्राकृतिक श्रोन आदि का आनंद ले रहे है। यहाँ पर उत्तर कुरु प्रदेश के जीवन का अंकन है। पश्चिमी द्वार के दक्षिण स्तम्भ के भीतरी भाग पर एक यक्ष द्वार-पाल असाधारण युद्धकारी मुद्रा मे खड़ा है। इसकी पारदर्शक धोती में गुप्तकालीन वस्त्र विन्यास का पूर्वाभास है। कुछ दृश्यो में माया देवी पूर्ण विकसित कमल पर दिखाई गई है। कुछ मे आसन्न प्रसव के रूप में खड़ी है। फूशे ने दो नागों से अभिषिक्त श्रीलक्ष्मी की पहचान माया देवी से की है जिसे हम गजलक्ष्मी कहते हैं।[1] ऋग्वेद मे लक्ष्मी का बहुत महात्म्य है। रामायण में इसे पद्माश्री[2] और महाभारत में शरीरिणी पद्मरूपाश्री[3] कहा गया है। श्री और लक्ष्मी का उद्देश्य यजुर्वेद में आया है जहाँ उन्हें नारायण विष्णु की पत्नी कहा है।[4] पुनः उनका उल्लेख अलग-अलग देवियों के रूप में श्रीसूक्त तथा सभापर्व में (11/40 जहाँ ब्रह्मा की सभा में श्री और लक्ष्मी दोनों उपस्थित की गई है), हुआ है। अथवा, कालान्तर में वे दोनों मिलकर एक ही देवी श्री लक्ष्मी वन गई। यह स्मरणीय रहे कि देवी श्री लक्ष्मी की पूजा और मान्यता तक्षशिला से कलिंग और सौराष्ट्र तक प्रचलित थी। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी समान रूप से इसकी पूजा करते थे।[5]

लक्ष्मी से सम्बन्धित एक सुवर्ण यष्टि उत्तरी द्वार तोरण के बायें स्तम्भ पर अंकित है। उसमे नागदंत या खूँटियों के जोड़े है, जिन पर सोने की मालायें लटकाई जाती थीं।

---

1. अग्रवाल; भारतीय कला, पृ० 195.
2. अयोध्याकाण्ड, 79/14.
3. अरण्य पर्व, 21,8/3.
4. युजुर्वेद, 31/22.
5. अग्रवाल; पूर्वनिर्देशित, पृ० 113.

इस प्रमाण लट्ठि में अनेक अभिप्रायों का मिश्रण है, एक सुवर्णयष्टि, दूसरे, खूँटियों पर टँगी हुई हेम मालायें, तीसरे, दो मांगलिक मालायें, चौथे, श्रीवृक्ष, पाँचवें, नीचे की ओर बुद्ध की पादुका और छठे, ऊपर की ओर चक्र और त्रिरत्न के चिन्ह—इस प्रकार श्रीलक्ष्मी, श्रीवृक्ष और पादुका, धर्मचक्र एवं त्रिरत्न के अभिप्रायों को एक साथ मिलाकर शिल्पी ने बुद्ध के शरीर को मूर्तरूप देने का विचित्र प्रयास किया और उसमें उसे अद्भुत सफलता मिली।

साँची कला की सर्वोत्कृष्ट कृति पूर्वी तोरण द्वार की संसार प्रसिद्ध यक्षी है जिसने अपने दो हाथों से आम के वृक्ष को पकड़ रखा है तथा जिसका दाहिना पैर सीधा खड़ा है और बायाँ मुड़ा हुआ है, इसके केस विन्यास मे कुछ लोग पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव देखते हैं। इसकी कटि तथा पृष्ठभाग में लटकती तहों से ही पारदर्शक धोती का भास होता है। हाथों व पैरों में चूड़ियाँ हैं, गले में मनकों का हार तथा कटि पर मेखला है। आम की मंजरी सदृश तरंगित लय है जो साँची व भरहुत के देवता में इंद्रियगोचर हैं। इसके कोमल नग्न शरीर की इद्रियग्राहिता, अत्यन्त सीमित रेखीयता के अनुशासन से नियंत्रित है। पूर्ण विकसित कली के सदृश संतुलित, वह उत्तेजक नहीं है, अपितु अपनी भव्यता तथा अपने हर्षित जीवन में तल्लीन है। द्रविड़ ऐंद्रिक पूर्णता यहाँ आर्यों तक अनुशासन व कल्पना के अधीनस्थ है। इसकी त्रिभंग मुद्रा, वक्र-कटि, उन्नत नितम्ब व उरोज, जो भारतीय क्लासिकल आदर्श हैं, भारतीय कला में स्त्री सौंदर्य के स्थायी अभिप्राय बन गये। कालिदास ने ऐसे नारी सौंदर्य का विपद चित्रण किया है :

> "तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वविम्बाधरोष्ठी
> मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
> श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
> या तत्र स्याद्युवतिविषये श्ष्टिराद्येव धातुः।[1]

(छरहरी, तरुण, मनोहर दंतावलि व विम्बाफल के समान लाल अधर, क्षीण कटि, भयभीत मृगी सदृश नयन, गहरी नाभि, नितम्ब भार से मंदगति, उन्नत स्तनों से किंचित झुकी हुई कामिनी तुष्टा की प्रथम व सर्वोच्च कृति हैं।)

यह एक असाधारण बात है कि कैसे भारतीय मूर्तिकला की प्रारंभिक अवस्था में, इस यक्षी में इतनी प्रफुल्लता, ओज, सुगढ़ता, सुनम्य लय की स्वतंत्रता का मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण, तीव्र उल्लासिता, स्वेच्छाचारिता तथा मनोभावों के उग्र प्रवाह से मिश्रण हो सका है, जिसमें जन समुदाय को मंत्रमुग्ध करने की क्षमता आ सकी है।[2]

इस प्रकार की यक्षी को साहित्य में शालभंजिका कहा गया है। शालभंजिका का अभिप्राय मूल में फूले हुये शालवृक्ष के नीचे स्त्रियों का क्रीड़ा विशेष था। अवदान शतक में

---

1. मेघदूत, 2/21.
2. मुकर्जी, राधाकुमुद; द फ्लावरिंग आफ इण्डियन आर्ट, पृ० 71.

शालभंजिका क्रीड़ा का अच्छा वर्णन है।[1] कुषाण काल में मथुरा के वेदिका स्तम्भों पर शालभंजिकाओं की अनेक मुद्रायें दर्शित हैं। उनकी विशिष्ट मुद्रा तरुशाखा को पकड़ कर झुकाना है।

विदिशा की लोहांगी पहाड़ी पर शुंगकालीन एक स्तम्भ शीर्ष संरक्षित है, जिसकी चौकी पर उतना श्रेष्ठ अंकन नहीं है जो मौर्यकालीन स्तम्भ शीर्षों में विद्यमान है। इसमें कमल पंखुड़ियों के भाग के ऊपर बटी हुई रस्सी की डिजाइन का एक कण्ठा है तथा गोल चौकी पर हंसों की एक पंक्ति है। शीर्ष पर हाथी और सिंह के पैरों के अवशेष है।

हंस को भारतीय संस्कृति व धर्म में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। हंस को दिशा का असाधारण ज्ञान होता है जैसा स्वेन हेडिन ने भी स्वीकारा है।[2] महाभारत में दुष्यन्त व शकुंतला की कहानी में हंस की बुद्धिमत्ता की चर्चा की गई है तथा उसमें दूध को पानी से अलग करने की क्षमता बतलाई है।[3] पंचरात्र में भी हंस के इस गुण का वर्णन है।[4] भारतीय कवियों ने इसे मनोहर चाल तथा मधुर वाणी का श्रेय दिया है। हंसों के विषय में प्रसिद्ध है कि युगल में किसी एक की मृत्यु पर जीवित साथी स्त्री से भी अधिक मृतक के दुख में शोक ग्रसित रहता है। यह पक्षी सदैव जोड़े के साथ उड़ते हैं।* इसीलिये जापान में नव विवाहिता के पास हंस भेजा जाता है।[5] भारतीय राजदरबारों के पालतू जानवरों में हंस को सदैव प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद में हंसों का अनेक बार वर्णन मिलता है तथा इन्हें आश्विन से संबद्ध किया गया है।[6] अथर्ववेद में इसे एकाकी भटकती हुई आत्मा सदृश कहा है। महाकाव्यों में ब्रह्मा व वरुण हंस रूप लेते वर्णित हैं। मनु ने हंस के मारने वाले को ब्राह्मण को गाय दान देकर प्रायश्चित करने का विधान किया है।[7] हिन्दु मूर्ति शास्त्र में हंस ब्रह्मा का वाहन माना गया है। सरस्वती को हसवाहिनी कहते हैं। हंस के द्रुतगामी होने के कारण उनसे संदेश वाहक का कार्य भी लिया जाता था।

अशोक के तीन स्तम्भों पर हस चित्रित किये गये है। साँची स्तम्भ शीर्ष उनमें से एक है। यहाँ पर सम्भवतः इन्हे बुद्ध के शिष्यों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जो

---

1. अग्रवाल; पूर्वनिर्देशित, पृ० 271.
2. फोगल, जीन फिलिप; द गूज इन इण्डियन लिटरेचर एण्ड आर्ट मैमोइर्स आफ द कर्न, इस्टीट्यूट, क्रमांक 2--लाइडेन, 1962, पृ० 4.
3. आदिपर्व, 74, 91.
4. कथामुख, 5, 10.

* कभी जोड़ा विलग न हो इससे भारतीय वधू 'हंसचिह्न दुकूलवान' वस्त्र धारण करतीं थी। रघुवंश और कुमार संभव, सर्ग 7.

5. फोकर, टी; द एनीमल इन फार ईस्टर्न आर्ट, लाइडेन 1950, पृ० 90.
6. मेक्डोनेल, ए० ए०; वैदिक माइथॉलोजी, 1897, पृ० 104.
7. द लाज आफ मनु; जी० बुल्हर द्वारा अनुवादित, ग्रंथ 25, 1886, पृ० 458.

गृहस्थ जीवन त्यागकर भ्रमण करते हुये तपस्वी हैं।[1] एक गुप्तकालीन शीर्ष स्तम्भ पर भी जो साँची संग्रहालय में है, हंस आकृतियाँ हैं, किन्तु उनमें पूर्वकालीन परिष्कार नहीं है।

ग्वालियर संग्रहालय में शुंग कालीन हाथी की मूर्ति है, जिसकी सूँड़ तथा सवार का ऊपरी भाग खंडित है। कल्प वृक्ष के अतिरिक्त मकर, गरुड़ तथा ताड़ शीर्ष भी इसी काल की कृतियाँ हैं।

कुषाण कला मूर्ति समूह की वास्तविकता को साथ लिये तथा भक्ति में जड़े मौलिक रूप से द्रविड़ों की कला है। यहाँ प्रत्येक प्रतिमा एक ही साथ प्रतीक और प्रतिरूप भी है। यह बहुत ही सच्चे अर्थों में पूर्व और पश्चिम का संगम थी अथवा उत्तर और दक्षिण के संगम की पूर्णता थी। क्योंकि मूर्ति के दाता यह कहते थे कि यह सभी संवेदनशील मनुष्यों के कल्याण के लिये है। यह भारतीय और पश्चिमी तकनीक का दिखावटी मिश्रण नहीं था, अपितु आत्मिक प्रवृत्तियों और प्रजातीय संस्कारों का पारस्परिक आदान-प्रदान था, जो धातु का प्रयोग होने से पूर्व ही अच्छी तरह सुनिश्चित किया जा चुका था। इस काल की बुद्ध प्रतिमा में अभी तक तपस्वी रूप है, जिसमें डिजाइन के स्थान पर शुद्ध विचार दर्शित हैं।[2]

साँची की कुषाण कालीन प्रतिमाओं मे मथुरा बालुकाश्म की एक प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। यह एक खड़ी हुई बुद्ध प्रतिमा का आधार है, जिसके ऊपरी भाग में बुद्ध के दोनों चरण तथा उसके दाहिनी ओर एक सेवक का अधोभाग है। सबसे नीचे की पट्टी में कुषाणकालीन ब्राह्मी लिपि में एक लेख है। बुद्ध के चरणों तथा लेख के मध्यवर्ती फलक पर मध्यस्थ ध्यान मुद्रा में बोधिसत्व बैठे हैं तथा उनके दाहिनी ओर मनुष्य तथा बायीं ओर सती उपासक हैं। मनुष्य उपासक कुषाण प्रणाली के लम्बे कुरते तथा स्त्रियाँ साड़ी तथा कंचुकी पहिने हैं।

भावुकता व आध्यात्मिकता से पूर्ण तथा गांभीर्य व रमणीयता से ओतप्रोत गुप्त कालीन मूर्तिकला प्राचीन भारतीय स्वर्ण युग की देन है। जहाँ कुषाण-युगीन मूर्तियाँ प्रायः विशालता और स्थूलता से प्रभाव डालती हैं, वहाँ गुप्तकालीन मूर्तियाँ तत्कालीन काव्य की भाँति अपनी प्रसादपूर्ण सुसयत शैली से आकर्षित करती हैं। इस युग में मूर्तिकला आराध्य देवी—बुद्ध, शिव और विष्णु के व्यक्तित्वों के अनुरूप प्रभावित होकर रही। सात्विक भावानुभावो की चरम अनुभूति और दर्शन के लिये इस प्रकार की अनावरण के भीतर आवरण की रीति गुप्त कला की विशेषता रही है। प्रकृति में जो कुछ सत्य, शिव और सुंदर है, उसकी परख करने में गुप्त कालीन कलाकारों को पूरी सफलता मिली है।[3] अग्रवाल ने

---

1. श्री लंका के पुरातत्वज्ञ डॉ० एस० परनवितान को उद्धृत करते हुए फोगेल; पूर्वनिर्देशित, पृ० 56.
2. कुमार स्वामी; इंट्रोडक्शन टु इण्डियन आर्ट, पृ० 41.
3. डॉ० उपाध्याय, रामजी; प्राचीन भारतीय साहित्य की सास्कृतिक भूमिका; पृ०1016-1017.

उचित ही कहा है कि विंध्याचल और नर्मदा का प्रदेश गुप्तकालीन संस्कृति का जीता-जागता क्षेत्र था और उज्जैनी से भरुत्कच्छ, दशपुर, प्रतिष्ठान और विदिशा के भौगोलिक चौखटे में उस समय कोई विलक्षण सांस्कृतिक प्राण धारा स्पंदित हो रही थी।[1]

गुप्त मूर्तिकला का सबसे महत्वपूर्ण दान बुद्ध प्रतिमा का पूर्ण व परिष्कृत रूप है, जिसमें शांति, निस्तब्धता, धैर्य आदि के अतिरिक्त जीवन स्पन्दन है तथा जिससे सम्पूर्ण क्लेश, शोक तथा उदासी एक साथ लुप्त हो जाते हैं और जीवन संगीत के समान मधुर व लयात्मक होता प्रतीत होता है।

गुप्त मूर्तियों की एक विशेषता यह है कि वे स्थिर होते हुये भी स्थूल नहीं है, अपितु यथानुपातिक है, जिसके कारण वह भौतिकता से ऊपर उठ चुकी हैं। इसी प्रकार प्रभामण्डल मनोरम लक्षणों से अलंकृत हैं। इन अलंकरणों में कमल की पत्र-लता की प्रमुखता है, जिनका प्रसार वृत्त-परिधि के भीतर किया गया है। इस प्रकार बुद्ध की मानवेतर आध्यात्मिकता अन्य सभी तत्वों को प्रदीप्त कर देती है।

वस्त्र-विन्यास की पारदर्शिकता में इस काल के कलाकार ने अपूर्व कौशल दिखलाया है। जहाँ कही ऐन्द्रिय अंगों को सवस्त्र प्रस्तुत किया गया है, वहाँ वे आवरण करने की अपेक्षा उन्हें प्रकट तो करते है, किन्तु फिर भी उनमें किसी भी प्रकार का कामुक आकर्षण नही है।

साँची के महास्तूप के चारों तोरणों के भीतर प्रतिष्ठापित बैठी बुद्ध मूर्तियों में गुप्त-कला की कुशल अभिव्यक्ति का प्रदर्शन है। इस काल की सर्व प्रसिद्ध बुद्ध प्रतिमायें सारनाथ, मथुरा तथा सुलतानगंज से प्राप्त हुई हैं।

विदिशा के त्रिवेणी मंदिर के पुजारी के संरक्षण में जो विष्णु की गुप्तकालीन प्रतिमा का शीर्ष है,[2] उसमे भी वही अनुपातिकता, सौम्यता, चित्ताकर्षकता तथा जीवन स्पन्दन है जो समकालीन बुद्ध मूर्तियों में विद्यमान है। इसी प्रकार की विष्णु प्रतिमायें उदयगिरि की गुफा क्रमांक 6 की वाह्य भित्ति पर दर्शनीय हैं, जिनमें से दाहिनी ओर की मूर्ति का अपना ही वैशिष्ट्य है। इसमें किरीट कौस्तुभ-मणि का हार व वैजयन्ती माला के अतिरिक्त, गदा और चक्र को क्रमशः स्त्री व पुरुष रूप में चित्रित किया गया है। यही पर गणेश की एक प्राचीनतम मूर्ति[3] मुकुट व ऊर्ध्वलिंग रहित तथा केवल दो हाथ वाली यह प्रतिमा गणेश मूर्तिशास्त्र का आदिकालीन उदाहरण है। इसी गुफा में चंद्रगुप्त के शिलालेख के निकट ही दुर्गा महिषमर्दिनी व सप्तमातृकाओं की मूर्तियाँ है। दुर्गा का केशविन्यास अभूतपूर्व है।

---

1. डॉ० अग्रवाल, वासुदेवशरण, मार्कण्डेय पुराण (एक सांस्कृतिक अध्ययन) पृ० 26. देखिये, सरस्वती, एस० के०; "सर्वे आफ इण्डियन स्कल्पचर"।
2. इण्डियन आर्क्योलॉजी 1963-64, ए रिव्यू।
3. गणेश की अन्य दो मूर्तियों में से एक गुफा 17 तथा दूसरी गुफा 3 के दक्षिण में है। दूसरी मूर्ति चतुर्भुजी है, एक हाथ में मोदक है तथा गणेश का वाहन मूषक भी है।

इसी प्रकार द्वारपालों का सुदृढ़ शरीर, तथा भाले आदि आतंक की भावना प्रकट करने में समर्थ हैं।

उपर्युक्त गुफा से लगी हुई गुफा क्रमांक 5 में संसार प्रसिद्ध विष्णु की वाराह मूर्ति है, जिसके मानव शरीर पर वराहशीर्ष है। विष्णु का वाम पाद ब्रह्माण्डीय सर्प अनंत शेष के मण्डलों पर, बायाँ हाथ कटि प्रदेश पर तथा दाहिना हाथ घुटने पर स्थित है। अपनी दाहिनी दाढ़ से वे नारी रूपिणी पृथ्वी को ऊपर उठाये हुये हैं। पृथ्वी प्रतिमा में गुप्तकाल के नारी चित्रण की सभी विशिष्टतायें विद्यमान हैं। विष्णु के गले में बड़ी लम्बी बैजयती माला है, जिसे गुप्तकाल में किंजल्किनी कहते थे, जो सहस्र कमलों की होती थी। आंगिक विन्यास के सौष्ठव से विष्णु की अनुपम स्फूर्ति और कर्मण्यता लक्षित होती है। वीर्य और तेज के स्वाभाविक प्रभाव से पातालमग्न पृथ्वी को बिना प्रयास उठाकर विष्णु की परम शक्ति की अभिव्यंजना बड़ी सफलता से की गई है। पृथ्वी की लघुता व समर्पण भाव उच्च कोटि का है। शेषनाग के पार्श्व में गरुड़ प्रतिमा है, जिसके हाथों में सर्प है। ऊपर गंगा और यमुना के स्वर्ग से अवतरण तथा तरंगित रेखाओं से उत्कीर्ण समुद्र में समर्पण होने का दृश्य है। दोनों सरिताओं का प्राकृतिक तथा स्त्रीरूप मे निरूपण किया गया है। स्त्री रूप में वे अपने वाहन क्रमशः मकर तथा कूर्म पर खड़ी दाहिने हाथ में पूर्ण-घट लिये हैं। नीचे खड़े वरुण के हाथों में भी एक पूर्ण घट है। नाग के पार्श्व में एक राजसी व्यक्ति है, जिसे अग्रवाल ने चन्द्रगुप्त की प्रतिमा अनुमाना है।[1] वाराह की बाईं ओर अप्सरायें तथा दाहिनी ओर देवगण, जिनमें ब्रह्मा और शिव भी हैं, असुर और ऋषि हैं। स्वर्ग में अप्सरायें विभिन्न वाद्यवादन कर रही हैं, जिनके मध्य एक अप्सरा नृत्य कर रही है। इस गुफा में तत्कालीन समस्त भारत की कलानिधि पुंजीभूत है। यह दृश्य अतिशय उदात्त है। इसमें लोक-कल्याण की भावनाओं से ओतप्रोत चातुर्दिश वातावरण का दिग्दर्शन कराया गया है। सर्वत्र सरसता और सहानुभूति की अभिव्यक्ति होती है।[2]

वराह कथा का सर्व प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। अथर्ववेद में पृथ्वी देवी वाराह से प्रेम करती वर्णित है। ब्राह्मणों तथा पुराणों में वाराह को महाविष्णु अथवा नारायण के अवतार रूप मे गुणगान किया गया है। वाराह सम्बन्धित अनुश्रुति मे एक निश्चित ब्रह्माण्डकीय महत्व है। इसकी कल्पना की दो अवस्थायें हैं, प्रथम, कि पृथ्वी देवी आदि समुद्र में विलुप्त थी, द्वितीय, कि विष्णु ने वाराह अवतार में अपनी दैवी शक्ति से उसका उद्धार किया था। पृथ्वी, जिससे ब्रह्माण्ड तथा सभी जीवधारियों की उत्पत्ति हुई है, मातृत्व के सिद्धान्त का प्रतीक है। वह रचनात्मक प्रकृति प्रथम कारण अथवा अमूर्त अभिव्यक्ति के प्रतीक आदि प्रलय के नीचे छुपी रहती है। वाराह सृष्टि निर्माण के उस बल का प्रतीक है, जो सूर्य रूप में दर्शित आदिदेव अग्नि के मध्य में क्रियाशील है। अतः समुद्र तथा वाराह, हिम तथा अग्नि तत्वों के संघर्ष के द्योतक हैं।[3]

---

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण; यज्ञ वाराह-सोलर सिम्बोलिज्म आफ द बोर, पृ० 37.
2. डा० उपाध्याय, रामजी; पूर्वनिर्देशित, पृ० 1021.
3. अग्रवाल; यज्ञवाराह (प्रस्तावना)।

38, 39, 40. आदिनाथ, नेमिनाथ, तीर्थंकर तेरहवीं शताब्दी
41. अम्बिका दसवीं शताब्दी
42. दीप वाहिनी ,,
43. नंदी ,,
44. अम्बिका (खण्डित) ग्यारहवीं शताब्दी
45 चँवरधारिणी बारहवीं शताब्दी
46. दम्पति तेरहवीं शताब्दी

ग्वालियर संग्रहालय

1. यक्ष (खण्डित)—शुंगकालीन
2. स्तम्भ-शीर्ष (गरुड़) शुंगकालीन
3, 4. ,, (मकर) ,,
5. ,, (सिंह) ,,
6. ,, (ताड़) ,,
7. वेदिका अंश ,,
8, 9. मुख लिंग गुप्त कालीन
10. मातृ देवी ,,
11. षष्ठभुजी देवी ,,
12. योगिनी ,,
13. नदी ,,
14. पार्वती ,,
15. स्कन्द ,,
16. शिव-पार्वती ,,
17. विष्णु ,,
18. ?
19. विष्णु (धड़) गुप्तकालीन
20. नृसिंह ,,
21, 22. कुबेर ,,
23. गंगा ,,
24. स्त्री प्रतिमा ,,
25. युगल ,,
26. द्वारपाल ,,
27. जैन तीर्थंकर ,,
28, 29. ,, पूर्व मध्यकालीन
30. जैन चौमुखी ,,
31. गरुड़ासीन विष्णु ,,
32, 33. ब्रह्मा ,,
34. शिव-पार्वती ,,

उपसंहार

□

मानवता के क्रमबद्ध विकास में जिसे इतिहास की संज्ञा दी जाती है, विदिशा ने अभूतपूर्व योगदान किया है। मनुष्य प्रकृति की अंतिम विलक्षण कृति है, जिसने उसी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके जीवन यापन के साधन प्राप्त किये, उसके तत्वों व पदार्थों के उपयुक्त प्रयोग से उत्तरोत्तर प्रगति की, उसकी शक्तियों से प्रेरित होकर अतिमानवीय रूप की कल्पना की, उसके अक्षुण्ण किन्तु प्रच्छन्न भण्डार से परिचित होने के लिये दर्शन व विज्ञान का आश्रय लिया तथा उसके ध्वंसात्मक रूपों से सुरक्षित रहने के लिये उसी से निरंतर संघर्ष किया। उसके द्वारा निर्मित पाषाण-शस्त्र इस संघर्ष के प्राथमिक प्रयास के परिणाम हैं, जो संसार के विभिन्न क्षेत्रों से उपलब्ध हुये हैं।

इसी परम्परा में निर्मित उत्तर तथा दक्षिण भारत की दो पृथक् पाषाण शैलियों का सुगम संगम मध्यदेश मे हुआ था, जिसके कुछ अवशेष विदिशा के विस्तृत प्रांगण में, वेत्रवती के अंचल में विद्यमान हैं। यह मनुष्य की प्रगति का उषा-काल था तथा उसकी बुद्धि का बाल्यकाल जिसकी धूमिल प्रतिकृति इस क्षेत्र की चित्रित गुफाओं मे दर्शित है। यहाँ के ताम्र-पाषाणयुगीन अवशेष बुद्धि की क्रमशः प्रखरता की ओर इंगित करते हैं, जिनमें कला का आविर्भाव हो चुका था।

आर्यों के भारत में आने के पश्चात् विदिशा का महत्व बढ़ता गया। संहिता तथा ब्राह्मण में वर्णित 'वि-दस', भारत का मध्यस्थ प्रदेश, जहाँ से विविध दिशाओं को मार्ग जाते थे, सम्भवतः कालान्तर मे विदिशा कहलाने लगा। वरुण के महल में वर्णित विदिशा नदी, इस नगर के प्राचीन महत्व का प्रमाण है। रामायण, महाभारत व पुराणों अथवा बौद्ध साहित्य में इसे विभिन्न नाम दिये गये हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय वेदिस, वेसनगर और दशार्ण हैं। जनपद काल में विदिशा महत्वपूर्ण नगर बन चुका था।

मौर्यकाल में इस नगर को विशेष ख्याति प्राप्त हो चुकी थी, जिसका अधिकांश श्रेय विदिशा कुमारी और अशोक के पुत्र व पुत्री को है। किन्तु इसके महत्व का श्रेष्ठतम काल ई० पू० की द्वितीय शताब्दी में प्रारंभ हुआ, जब विदिशा के शुंग राजाओं ने इसे अपनी राजधानी बनाया, जिसके फलस्वरूप यह व्यापार के अतिरिक्त, धर्म और कला का भी अभूतपूर्व प्रसिद्ध केन्द्र बन गयी। सातवाहनों, क्षत्रपों व नागों के उपरान्त गुप्तकाल तक इसका राजनैतिक प्रभाव यथावत् रहा, जो अपने मौलिक स्थान से वर्तमान विदिशा नगर

पर स्थानान्तरित होते ही समाप्त हो गया, किन्तु जिसकी धार्मिक तथा सांस्कृतिक महिमा व गरिमा निरंतर प्रगति पथ पर आरूढ़ रहने के कारण अक्षुण्ण रही।

इसका प्रमुख प्रमाण है विष्णु का वृत्तायन मंदिर जिसमें एक विशाल मंदिर के विभिन्न अंग विद्यमान हैं। इसी की समकालीन, पकाई ईंटों की अभियांत्रिक दक्षता से निर्मित, पानी की नहर है, जो सिंचाई के साधनों की प्रगति का प्रतीक है। सुदृढ़ प्राकार भित्ति और पूर्णरूपेण संरक्षित प्रासाद यहाँ के वैभव को दर्शित करते हैं। वासुदेव मंदिर की धारक दीवारों के चारों ओर प्रयुक्त ठोस व खुली वेदिका का परिष्कृत रूप स्तूप वेदिकाओं के लिये अनुकरणीय हो गया। उदयगिरि और साँची के मंदिरों से कालान्तर के मंदिरों का प्रारम्भ हुआ। विदिशा से प्राप्त यक्ष, यक्षी, कल्पवृक्ष आदि भारतीय लोक कला और लोक धर्म के मौलिक अंग बन गये। उदयगिरि में दर्शित गंगा-यमुना के मानवी, गणेश व विष्णु प्रतिमाओं और समुद्र मंथन के प्रारंभिक रूप भारतीय मूर्तिकार के आदर्श बन गये। अशोक के राज्यकाल में बौद्ध धर्म का प्रचार तथा शुंग काल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार विश्वव्यापी होने लगे।

भारतीय संस्कृति व धर्म एक दूसरे के प्रेरक हैं तथा पूरक भी। ब्राह्मण धर्म के देवों के महादेव को शंभु-स्वयंभू कहा गया है। इस धारणा में यह सत्य निहित है कि जीव स्वयं का निर्माता होता है। हेनरी बर्गसन, जो 1927 के नोबेल पुरस्कार विजेता हैं, के अनुसार यह कहना उचित है कि जो हम है, वही हम करते हैं, किन्तु यह भी कहना आवश्यक है कि किसी सीमा तक हम वह हैं, जो हम करते हैं तथा हम स्वत: का निरन्तर ही निर्माण करते रहते हैं।[1] स्वयंभू को शिव भी कहते हैं, जिनके अर्धनारीश्वर रूप की अभिव्यक्ति भारतीय कला की अमूल्य निधि है। शिव के इस रूप में आधुनिक वैज्ञानिकों के इस विचार की कि प्रत्येक व्यक्ति में नर व मादा दोनों प्रकार के शुक्राणु विद्यमान रहते हैं, पूर्व कल्पना विद्यमान है। डॉ० पाण्डे के शब्दों में मनुष्य की इस द्विस्वभावता का यह परिणाम है कि संस्कृति के विकास में हमेशा ही एक आंतरिक और एक बाह्य कारण-परम्परा विचारणीय रहती है। इसमें (संस्कृति में) अनुभव की अतर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी वृद्धि होती रही जिसने परिच्छिन्न भेदमय जगत से अपरिच्छिन्न अभेद की ओर द्वार खोला है।[2] सामाजिक अनुप्रदाय के रूप में संस्कृति के भौतिक पक्ष की चर्चा करते हुये उन्होंने व्यक्त किया है कि हर समाज की परम्परा में कृत्रिम पदार्थों के एक संसार का प्रवेश स्वरूपत: नहीं किन्तु व्यंजकतया होता है। उनकी भौतिकता उनकी सांस्कृतिकता की ओर एक पारदर्शक आवरण बन जाती है। इमारतों या हथियारों को हम पत्थर या लोहे के होने के कारण ही संस्कृति का अंग नही मानते हैं। किसी चेतन प्रवृत्ति के साधन अथवा कृति होने के कारण ही उनकी संस्कृति में गणना करते हैं। संस्कृति के भौतिक पक्ष की सार्थकता इसी में है कि वह मानव चेतना से अभिसंस्कृत है।[3]

---

1. हेनरी बर्गसन; एवोल्यूशन आफ लाइफ-लेख फिलोसफर्स आफ साइंस में प्रकाशित।
2. डॉ० लल्लन जी गोपाल और डॉ० वृजनाथसिंह; भारतीय संस्कृति, पृ० 11.
3. वही, पृ० 4.

विदिशा के उत्खनन से प्राप्त सामग्री जिसमें विदिशा नगर राज्य के सिक्के, रोमन तावीज भी हैं, साँची के बौद्ध स्तूप, बेसनगर का हेलियोदोरस स्तम्भ व कल्पद्रुम, उदयगिरि की गुफ़ायें, वदोह पठारी आदि के स्मारक, ग्यारसपुर और उदयेश्वर के मंदिर, भेलसा की विजयमण्डल मस्जिद तथा अन्य पुरा व भग्नावशेष भारतीय संस्कृति के दृढ़ स्तम्भ है, जिनके विशाल मण्डप के नीचे जीवन से संघर्ष करता मानव विश्राम का सुखानुभव तो करता ही है, कला के मद्यपान में आत्मविभोर होकर, पारलौकिक चिन्तन में निमग्न भी हो जाता है, जिसके अनन्त अथाह सागर में व्यक्ति अथवा समाज विशेष नहीं, अपरंच सम्पूर्ण मानवता में अभिन्नता की तरंगें निरन्तर संचरित होती रहती हैं।

पूर्ण रूप से विकसित व्यक्ति विज्ञान से उत्पन्न सत्यों के योग से भी अधिक विस्तृत और क्षमतापूर्ण है। ऐसे व्यक्ति का जन-साधारण के लिये पूर्ण परिष्कृत रूप में बोधन असम्भव हो जाता है।[1] उसका साधारणीकरण कला के माध्यम से ही सम्भव है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में कलाविहीन व्यक्ति को पुच्छ रहित पशु माना गया है। कौन जानता था कि विदिशा की सांस्कृतिक अक्षय निधि के निर्माता आगामी सतति के लिये अप्रत्यक्ष रूप से कुवेर की धनराशि भी छोड़ जा रहे हैं, जिसकी देश-विदेश के पर्यटक, विद्वान्, कलामर्मज्ञ तथा दिमित्रियस व हेलियोदोरस के सदृश धर्मोत्साही आज तक वृद्धि करते रहेंगे।

1. खरे, महेश्वरी दयाल; बाघ की गुफायें, पृ० 75.

सहायक ग्रंथ सूची

अलेक्सिस, कैरैल; मैन द अननोन

अल्तेकर; वाकाटक गुप्त एज

आयंगर, पी० टी०; लाइफ इन एँशेंट इण्डिया

अग्रवाल, वासुदेव शरण; भारतीय कला

,, ,, पाणिनिकालीन भारतवर्ष

,, ,, मार्कण्डेय पुराण

,, ,, यज्ञवाराह

अपूर्व प्रकाश; द फाउण्डेशन आफ इण्डियन आर्ट एण्ड आर्क्योलाजी

आचार्य, पी० के०; मानसार एन एनसाइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर

,, ,, मानसार हिन्दू आर्किटेक्चर इन इण्डिया एण्ड एब्रोड

आर्थर, स्ट्रेटन; एलीमेंट्स आफ फार्म एण्ड डिजाइन इन क्लासिक आर्किटेक्चर

एलैन; कोइन्स आफ ऐशेंट इण्डिया

एण्ड्रियास, फोल्सवासेन; लिविंग आर्किटेक्चर—इण्डिया

भगवद्दत्त; भारतवर्ष का इतिहास

भण्डारकर, रामकृष्ण; इण्डियन कल्चर

भण्डारकर, डी० आर०; आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 1913-14, 1914-15

,, ,, एपेडिक्स, विसुद्धि मग्ग

भण्डारकर, आर० जी०; वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत (अनुवादक—महेश्वरी प्रसाद)

भट्टसाली, एन० के०; आइकोनोग्राफी आफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मनीकल स्कल्पचर्स इन ढाका म्यूजियम

भट्टाचार्य, हरिदास सिद्धान्त वागीश; मुद्राराक्षस

बरुआ, बी० एम०; अशोक एण्ड हिज इंस्क्रिप्शन्स

,, ,, आस्पेक्ट्स आफ लाइफ एण्ड आर्ट

बनर्जिया, जे० एन०; द डेवेलपमेंट आफ हिंदू आइकोनोग्राफी

बर्गेस, जे०; द ग्रेट स्टूप एट साँची—कानाखेड़ा (जर्नल आफ एशियाटिक रायल सोसाइटी, 1902)

बर्ग्सन, हेनरी; एवोल्यूशन आफ लाइफ—लेख (फिलोसफर्स आफ साइंस)

वाजपेई, कृष्णदत्त; बुलेटिन आफ ऐशेंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आक्योंलॉजी

,, ,, सागर थ्रू द एजेज

,, ,, जर्नल आफ मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, भाग 2

,, ,, मध्यप्रदेश का पुरातत्व

बील; सी–यू– की I

ब्राउन, पर्सी; इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू)

,, ,, इण्डियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड)

बुहलर, जी०; स्पेसीमेंस आफ जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा (एपीग्राफिया इण्डिका, ग्रंथ 2)

,, ,, (द्वारा अनुवादित)–द लॉज आफ मनु, ग्रंथ 25

बेंकिंग; (अनुवादक)—मुंतखाबुत–तवारीख

बंजई, पी० एन० के०; हिस्ट्री आफ कश्मीर

बरुआ एण्ड सिन्हा; भरहुत इंस्क्रिप्शन्स

कर्निघम, ए०; भिल्सा टोप्स

,, ,, आक्योंलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट्स, IX, X, XIII

,, ,, कोइंस आफ ऐशेंट इण्डिया

,, ,, स्टूप आफ भरहुत

कलवे; यक्कुन नहनवा

कुमार स्वामी, ए० के०; यक्षाज

,, ,, इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन आर्ट

कॉवेल, इ० बी०; जातक स्टोरीज

कॉवेल एण्ड नील; (अनुवादक) दिव्यावदान

कॉवेल एण्ड टोमस; हर्षचरित

चक्रवर्ती, पी० सी०; द आर्ट आफ वार इन ऐशेंट इण्डिया

चंद्रा, रामप्रसाद; ओरीजिन आफ द इमेज आफ बुद्ध (आक्योंलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट 1929-30)

डे, उपेन्द्रनाथ; मेडीवल मालवा

डीटेरा एण्ड पैटर्मन; स्टडीज इन द आइस एज इन इण्डिया एण्ड एसोसियेटेड ह्यूमैन कल्चर्स

दीक्षित, एम० जी०; त्रिपुरी 1952

द्विवेदी, हरिहर निवास व विजय गोविंद; मध्य भारत का इतिहास, प्रथम खण्ड

द्विवेदी, हरिहर निवास; ग्वालियर राज्य के अभिलेख, विक्रम स्मृति ग्रंथ

द्विवेदी, एच० व्ही०; कैटालॉग आफ द कोइंस आफ द नाग किंग्स आफ पद्मावती

" " ए न्यू सिल्वर कोइन आफ चष्टन एज महाक्षत्रप (जो० ऑ० द न्यू० सो० आफ इण्डिया, अंक 14, भाग 1)

" " जर्नल आफ द न्यूमिस्मैटिक सोसायटी आफ इण्डिया, 15

इलियट एण्ड डाग्रोसन; हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स

फर्ग्यूसन; ट्री एण्ड सर्पेंट वर्शिप

फर्ग्यूसन एण्ड वर्गेस; द केव टेम्पिल्स आफ इण्डिया

फुट, रोवर्ट ब्रूस; द मेसोलिथिक इण्डस्ट्रीज आफ इण्डिया

फोकर, टी; द एनीमल्स इन फार ईस्टर्न आर्ट

फ्लीट, जे० एफ; कोरपोरस इंस्क्रिप्शनम् इंडीकैरम्, ग्रथ 3

गाई, जी० एस; थ्री इंस्क्रिप्शन्स आफ राम गुप्त (जर्नल आफ द ओरियेंटल इंस्टीट्यूट, वड़ौदा, ग्रंथ 18, क्र० 3, 1969)

" " एपीग्राफिया इण्डिका, ग्रंथ 38, भाग 1, 1969 (जून)

गुलेरी, चंद्रधर शर्मा; शिशुनाग मूर्तियाँ (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् 1977, भाग 1)

गुप्त, के० के०; प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1939

ग्रियर्सन; लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, ग्रंथ 8, भाग 2

गोपाल लल्लनजी और वृजनाथ सिंह; भारतीय संस्कृति

गोर्डन, डी० एच०; मैन (फरवरी 1938) सख्या 19

घोष, एन० एन०; अर्ली हिस्ट्री आफ कौशाम्वी

घोष, वी० के०; हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ द इण्डियन पीपुल, खण्ड 1

घोष, ए०; द सिटी इन अर्ली हिस्टोरिकल इण्डिया

" " इण्डियन आर्क्योलॉजी 1953–54, 1956–57, 1957–58, 1958–59, 1959–60, 1960–61, 1962-63, 1963-64,—ए रिव्यू

" " ऐंशेंट इण्डिया, ग्रंथ 3, 6, 9, 14

" " आर्क्योलॉजिकल रिमेंस मोनुमेंट्स एण्ड म्यूजियम्स, भाग 1

हमीद, एम०; एक्सकेवेशन्स आफ मौर्य मौनास्ट्री एट साँची, (एनुअल रिपोर्ट, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1936-37)

हाइमन, वेट्टी; फेसेट्स आफ इण्डियन थॉट

हाल, एफ० ई०; जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ वंगाल, ग्रंथ 31

हाईमन, एरिक; मदर गॉडेस

हावेल, एफ० क्लार्क; अर्लीमैन, लाइफ नेचर लाइब्रेरी

हैवेल; आर्यन रूल इन इण्डिया

जग्गी, ओ० पी०; डॉन आफ इण्डियन साइंस

जायसवाल, के० पी०; हिस्ट्री आफ इण्डिया

" " अंधकारयुगीन भारत

जायसवाल, सुवीरा; द ओरीजिन एण्ड डेवेलपमेंट आफ वैष्णविज्म

जोशी, आर० बी० एण्ड खरे, एम० डी०; एक्सकेवेशन्स एट ए पैलियोलिथिक साइट आन द आदमगढ़ हिल नियर होशंगाबाद (प्रोसीडिंग्स आफ द 49 सेसन आफ द इण्डियन साइंस कांग्रेस, 1962)

कर्न, एच०; मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म

कृष्णदेव; मालवों का संक्षिप्त परिचय (विक्रम स्मृति ग्रंथ)

खण्डेलवाल, कार्ल; इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग (एन इंट्रोडक्टरी स्टडी)

खरे, महेश्वरीदयाल; बाघ की गुफायें

" " रिलीजियो कल्चुरल एमीसरीज़ फ्राम इण्डिया, (इण्डियाज़ कंट्रीब्यूशन टु वर्ल्ड थाट एण्ड कल्चर)

" " द बियरिंग आफ एक्सकेवेशन्स ऑन द क्रोनोलोजी ऑफ द लोकल कोइंस आफ सेंट्रल इण्डिया (मेमोइर्स आफ द डिपार्टमेंट आफ ऐंशेन्ट इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्क्योलॉजी, अंक 2, 1968)

खरे, एम० डी०; डिसकवरी आफ ए विष्णु टेंपिल नियर हेलियोदोरस पिलर (ललित-कला–13)

" " स्टडी आफ पाटरी–ए न्यू एप्रोच (पॉटरीज़ इन ऐंशेंट इण्डिया, 1969)

" " डेवेलपमेंट आफ सील्स एण्ड सीलिंग्स (जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 1964, दिसम्बर)

लाल, बी० बी०; द प्रीहिस्टोरिक एण्ड प्रोटोहिस्टोरिक पीरियड (आर्क्योलॉजी इन इंडिया, 1950)

" " इण्डियन आर्क्योलोजी 196[illegible]-68–ए रिव्यू

ल्यूडर्स, एच०; ए लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम द अर्लिएस्ट टाइम्स

मजूमदार, आर० सी०; क्लासिकल एकाउण्ट्स आफ इण्डिया

मार्शल, जान; द मोनुमेंट्स आफ साँची, 3 ग्रन्थ

" " ए गाइड टु साँची

" " मोहनजोदरो एण्ड इट्स सिविलाइजेशन

श्रीमती मित्रा, देबला; साँची

मिश्र, जी० एम० पी०; मोनास्टिक एण्ड सिविल आर्किटेक्चर इन द एज आफ विनय
(ईस्ट एण्ड वेस्ट–न्यू सीरीज़) क्रं० 1–2, ग्रन्थ 19,1969

मुंशी, के० एम०; सागा आफ इण्डियन स्कल्पचर

मुकर्जी, राधाकुमुद; द फ्लावरिंग आफ इण्डियन आर्ट

मुकर्जी; हर्ष

मेक्डोनेल, ए० ए०; वैदिक माईथॉलोजी

मेरिंजर, जे०; गोड्स आफ प्रीहिस्टोरिक मैन

मैक्समूलर; लास्ट एसेज सेकण्ड सीरीज

मैक्क्रिडल; ऐशेंट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन

,, ऐशेंट इण्डिया एज इन क्लासिकल लिटरेचर

,, इण्डिया एण्ड इट्स इन्वेजन बाई अलेजेन्डर

मैसी एफ० सी०; साँची एण्ड इट्स रिमेंस

मोतीचंद्र; (जनरल एडीटर–एस० पी० गुप्त); कस्ट्यूम्स टेक्सटाइल्स कोस्मेटिक्स एण्ड कोइफर
इन ऐशेंट एण्ड मेडीवल इण्डिया

मोतीचंद; सार्थवाह

मोदी; अर्ली हिस्ट्री आफ द हूनाज (जर्नल आफ द बोंबे एशियाटिक सोसाइटी, 24)

मैके, ई० जे० एच०; फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहनजोदरो

न्यूमन, एरिक; द ग्रेट मदर

ओल्डेनवर्ग, एच०; विनयपिटक, ग्रंथ 1

ओझा; राजपूताना का इतिहास

पंथारी; हर्षवर्धन शीलादित्य

पार्जिटर; ऐशेंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन

,, ,, डाइनेस्टीज आफ कलि एज

पाण्डे, राजवली; अशोककालीन अभिलेख

पाणिकर; हर्ष

पाइ, गोविन्द; जीनियोलोजी एण्ड क्रोनोलोजी आफ द वाकाटकाज (जर्नल आफ इण्डियन
हिस्ट्री–14, 1935)

पाटिल, डी० आर०; कल्चुरल हिस्ट्री फ्राम वायु पुराण

,, ,, विदिशा (विक्रम स्मृति ग्रंथ)

पिगट; डान आफ सिविलाइजेशन

पुरी, बैजनाथ; सुदूर पूर्व में संस्कृति और उसका इतिहास
„ „ इण्डिया इन द टाइम आफ पतंजलि
प्रसाद, हरिकिशोर; जर्नल आफ द न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी, 17
रायकृष्ण दास; ऋष्यमूक किष्किंधा की भौगोलिक अवस्थिति—(नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 52)
„ „ भारतीय मूर्तिकला
राधेशरण; प्राचीन भारतीय इतिहास का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप
राय चौधरी; पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशेंट इण्डिया
रीस डेविड्स; बुद्धिस्ट इण्डिया
रे, निहाररंजन; मौर्य एण्ड शुंग आर्ट
रेवर्टी; (अनुवाद) तबक्काते-नासिरी
रोलां, बेंजामिन; द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया
सरकार, डी० सी०; सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स
„ „ स्टडीज इन द रिलीजस लाइफ आफ ऐंशेंट एण्ड मेडीवल इण्डिया,
„ „ एपीग्राफिया इण्डिका, ग्रंथ 30
सरस्वती, एस० के०; सर्वे आफ इण्डियन स्कल्पचर
सचाउ; अलबरूनीज इण्डिया
संकालिया, एच० डी०; महेश्वर एण्ड नवदा टोली
„ „इन्वेस्टीगेशन्स इन टु प्रीहिस्टोरिक आॅर्क्योलॉजी इन गुजरात
सेन, वीरेश्वर; द करैक्टर आफ इण्डियन आर्ट
सिंह, सर्वदमन; ईसा पूर्व में दुर्गों का सामरिक महत्व (मालविका, उज्जयिनी)
सिंह, मदनजीत; हिमालयन आर्ट
स्पियरिंग एच० जी०; द चाइल्डहुड आफ आर्ट
स्टोक्स, विलियम ली०; एसेंशियल्स आफ अर्थ हिस्ट्री एन इन्ट्रोडक्शन टु हिस्टोरिकल जियोलोजी
स्मिथ, व्ही० ए०; अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
शास्त्री, नीलकण्ठ; (अनुवादक—मंगलनाथ सिंह); नंद-मौर्य युगीन भारत
„ „ एज आफ द नन्दाज एण्ड मौर्याज
शाम शास्त्री; अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य
शर्मा गोवर्धन राय; द एक्सकैवेशन्स एट कौशाम्बी 1957-58
शुक्ल, डी० एन०; वास्तु शास्त्र, ग्रंथ 2

शाह, यू० पी०; ए यूनिक जैन इमेज आफ जीवन्त स्वामी (जर्नल आफ ओरियेंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, I, 1951-52)

शिवराममूर्ति; इण्डियन स्कल्पचर

,, ,, सम आस्पेक्ट्स आफ इण्डियन कल्चर

शिवराम मूर्ति; ज्योग्रफीकल एण्ड क्रोनोलोजिकल फैक्टर्स इन इण्डियन आइकानोग्राफी (ऐन्शेन्ट इण्डिया–अंक 6, 1950)

शीफनेर (अनुवादित); हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म (गेशिश्टे डेसबुद्धिस्मुस इन इण्डियेन)

टर्नर; पाली बुद्धिष्ट एनल्स

टाड, के० आर० यू०; जर्नल आफ द रायल ऐन्थ्रोपोलोजिकल इंस्टीट्यूट आफ द ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड 69, 1939

टार्न, डब्लू० डब्लू०; द ग्रीक्स इन इण्डिया एण्ड बैक्ट्रिया

टॉनी; कथा सरित सागर

टॉमस; अर्ली बुद्धिस्ट स्क्रिप्चर्स

उपाध्याय, भगवत शरण; विक्रमीय प्रथम शताब्दी का संक्षिप्त भारतीय इतिहास (विक्रम स्मृति ग्रंथ)

उपाध्याय, रामजी; प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका

विश्वनाथ; रेशल सिंथेसिस इन हिंदू कल्चर

वेदालंकार, चंद्रगुप्त; वृहत्तर भारत

विद्यालंकार, जयचंद; भारतीय इतिहास की रूपरेखा

,, ,, सुराष्ट्र-क्षत्रप इतिहास की पुनः परीक्षा (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् 1994)

वत्स, एम० एस०; मेमोइर्स आफ द आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, क्रमांक 70

,, ,, एक्सकेवेशन्स एट हरप्पा

फोगेल; आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट 1908-1909

विंटरनित्स; ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर

ह्वीलर मोर्टिमर; अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान

,, ,, इण्डस सिविलाइजेशन

चित्र 1

प्राचीन वेसनगर (विदिशा) कंटूर प्लान
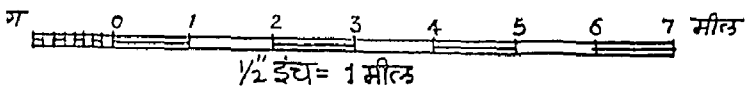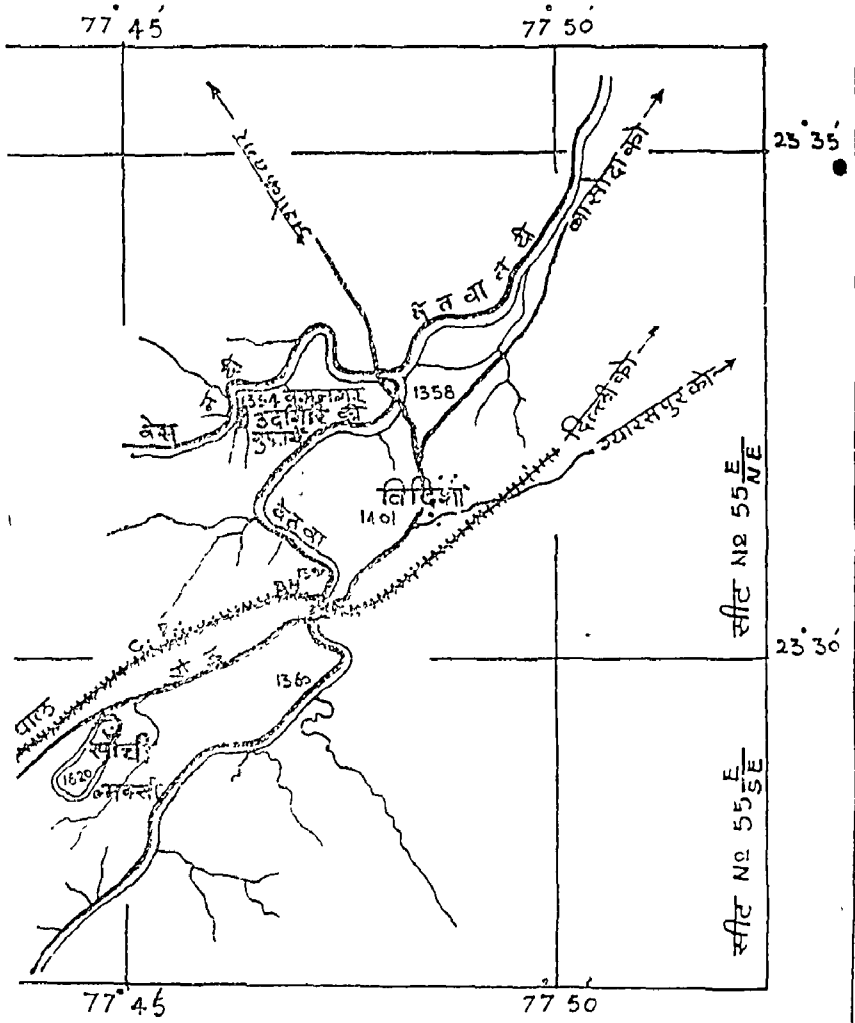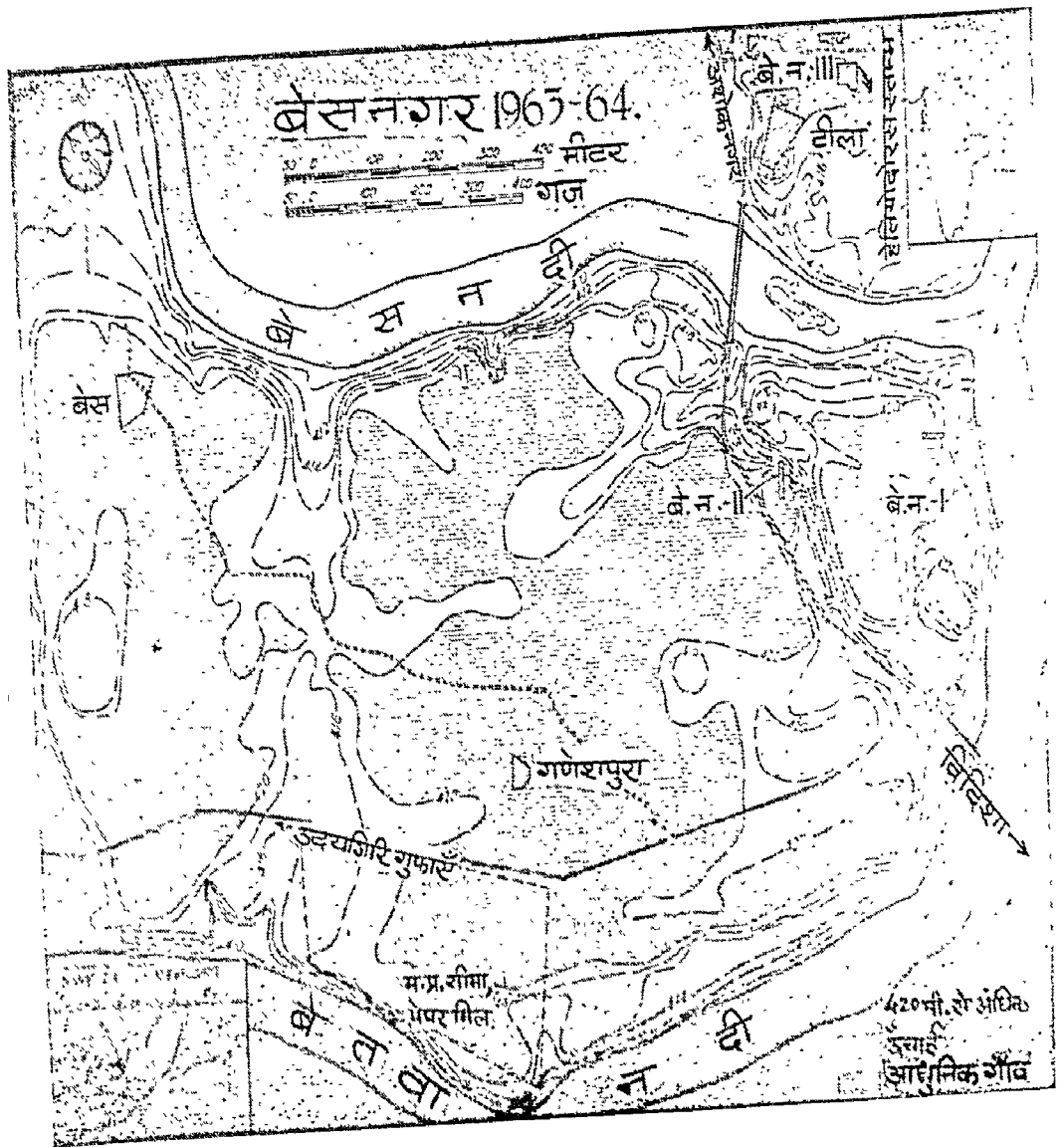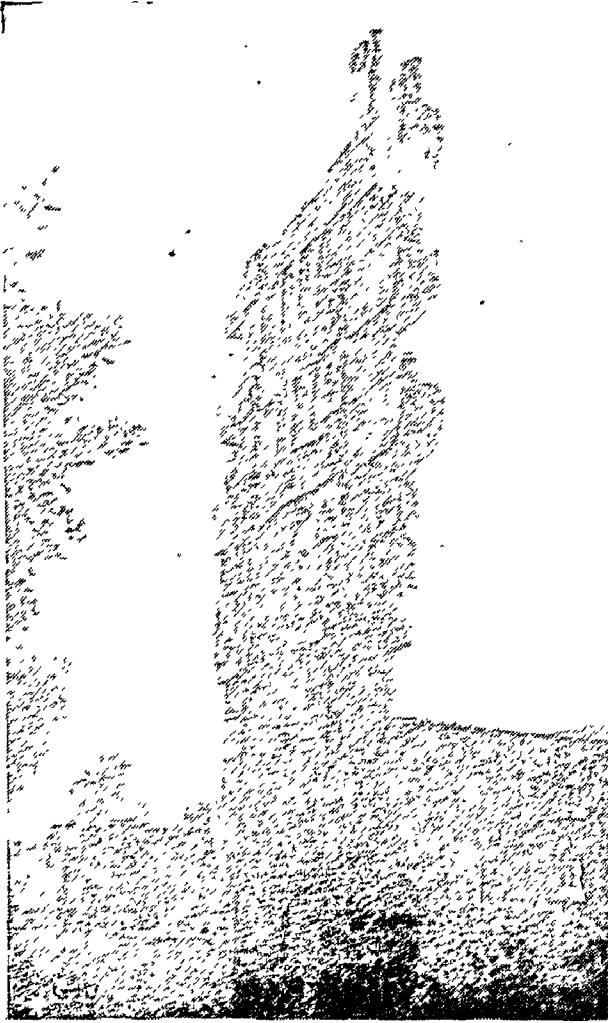
चित्र 2

सांची (रायसेन) महास्तूप-पूर्वी द्वार तोरण और गुप्तकालीन मंदिर (पृष्ठ भाग)

चित्र 3

टीला 1

सामान्य दृश्य, उत्खनन पूर्व–(पृष्ठ भाग), वेत्रवती (अग्र भाग)

चित्र 4

टीला 1

उत्खनन पूर्व त्रिवेनी मंदिर (पृष्ठ भाग), उत्खनन क्षेत्र (सम्मुख)

चित्र 5

(दिवंगत) श्री आर. सी. कार (बायें) लेखक (दायें)—उत्खनन के उद्घाटन के समय

चित्र 6

टीला 1

प्रासाद भित्ति और भीतरी पुश्ता
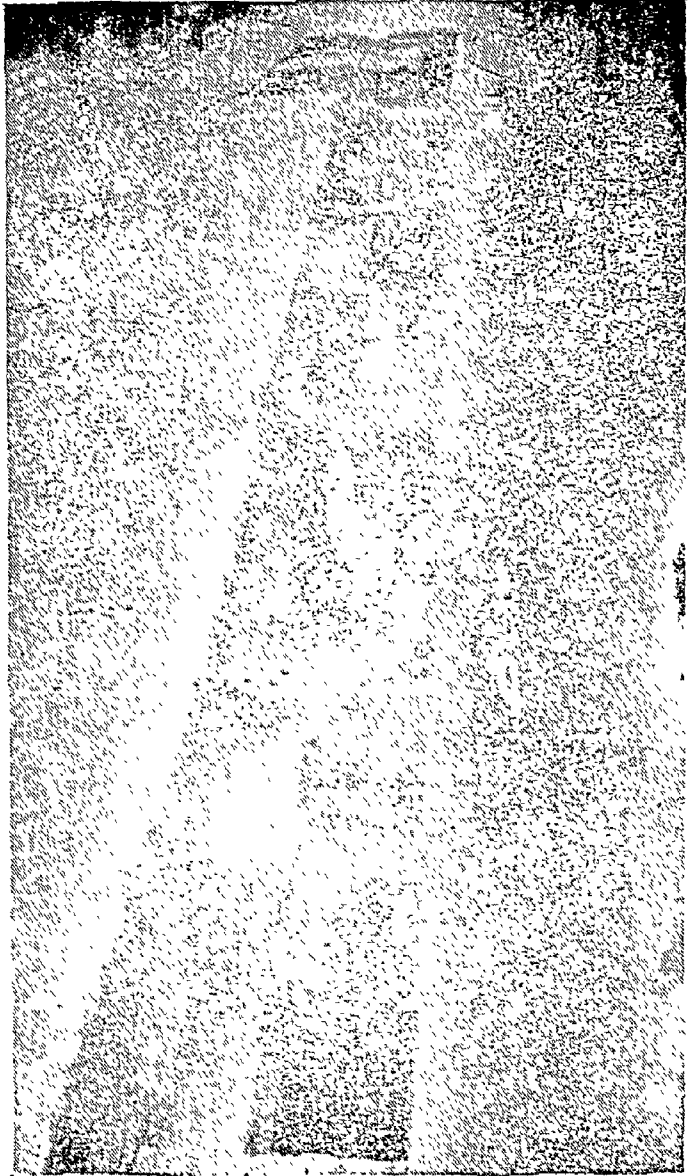
चित्र 7

टीला 1

सामान्य दृश्य—टीले के आर पार का सेक्शन, प्रासाद भित्ति, पुश्ता (पीछे), मौर्यकालीन नाली (मध्यस्थ), वलय कूप (अग्रभाग)

चित्र 8

टीला 1

प्रासाद भित्ति, भीतरी पुश्ता (पीछे बायें) और वलय कूप (अग्रभाग दायें)
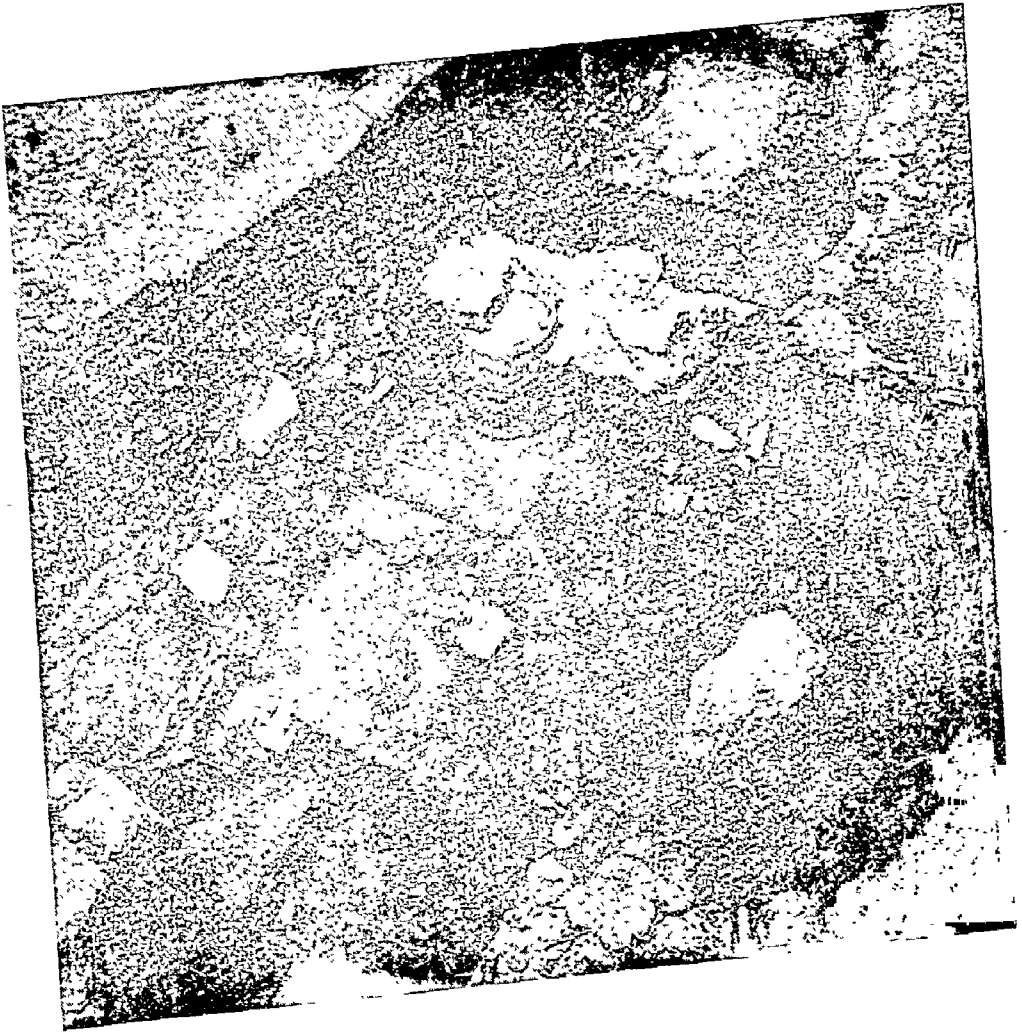
चित्र 9

टीला 1

(प्रासाद भित्ति के) सेक्शन में बाढ़ चिह्न, वलय कूप तथा पाकशाला का निकट दृश्य (अग्रभाग)

चित्र 10

टीला 1

प्रासाद/प्राकार-भित्ति-पत्थर के गोले (पीछे और दाहिनी ओर)

देव मंदिर कोष्ठ तथा भग्न मर्तबान (सामने)
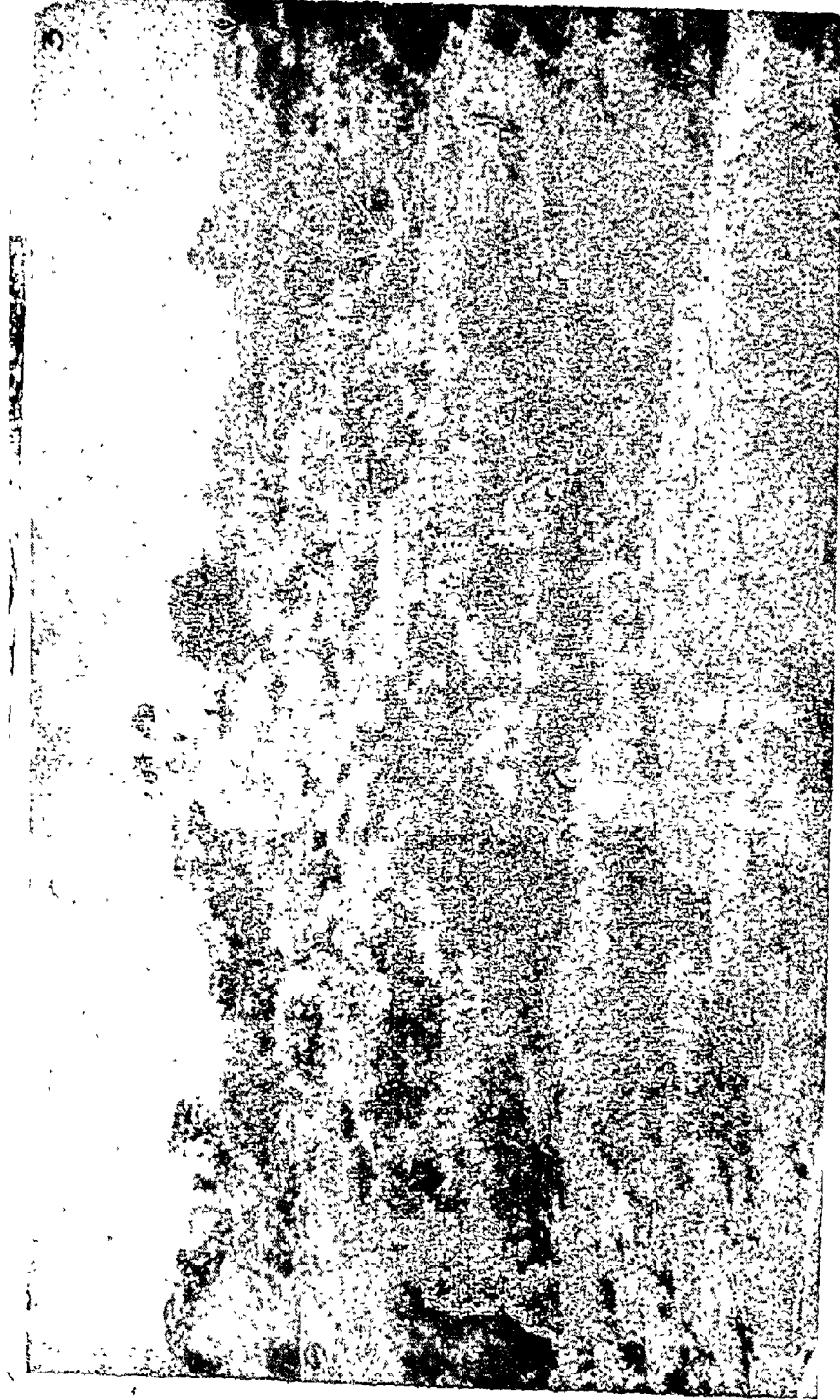
चित्र 11
टीला 2
सामान्य दृश्य (उत्खनन पूर्व) मौलिक अवस्था में
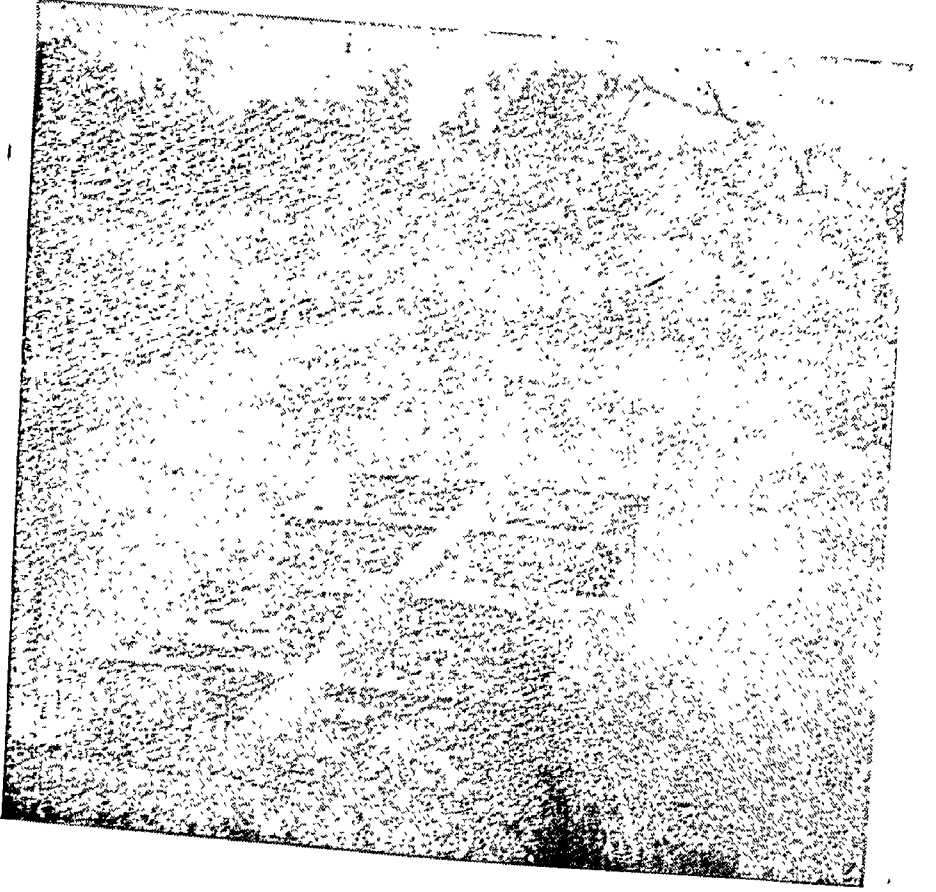
चित्र 12

टीला 2

सामान्य दृश्य (उत्खनन उपरान्त)

चित्र 13
टीला 2
पत्थर की गुप्तकालीन फर्श दीवार (दायें) और स्तम्भ गर्त

चित्र 14

टीला 4 (A' I)

अनावृत सुदृढ़ फर्श और उसके नीचे

चित्र 15

टीला 4 (A' 1)

उत्खनन उपरान्त—शुंगकालीन फर्श को तोड़ कर कोरी मिट्टी तक

चित्र 16
टीला 4 (F' I)
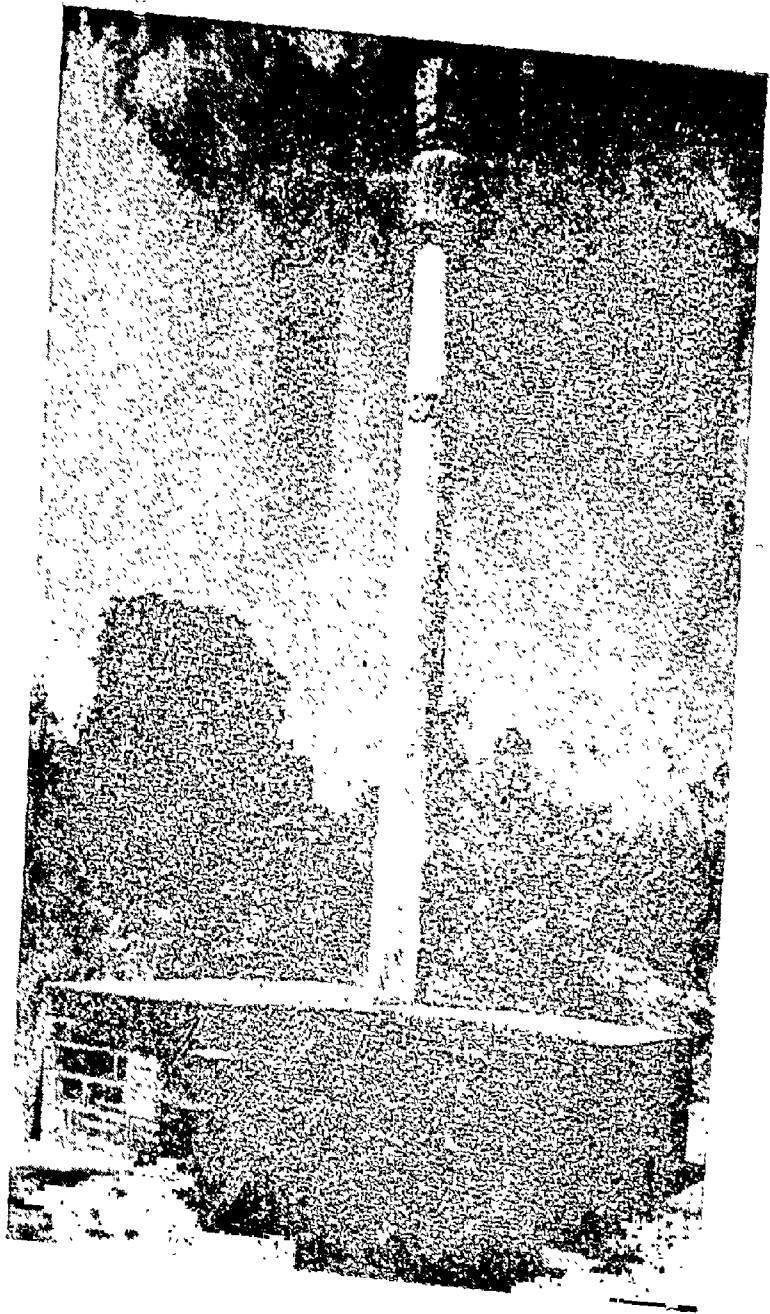
चित्र 17

टीला 3

होलियोदोरस स्तम्भ और टीले के अंशभाग (उत्खनन पूर्व)

चित्र 18
टीला 3

चित्र 19

टीला 3

उत्खनन-प्रगति पर, मंदिर के समक्ष हेलियोदोस स्तम्भ का निम्न-भाग (पीछे)
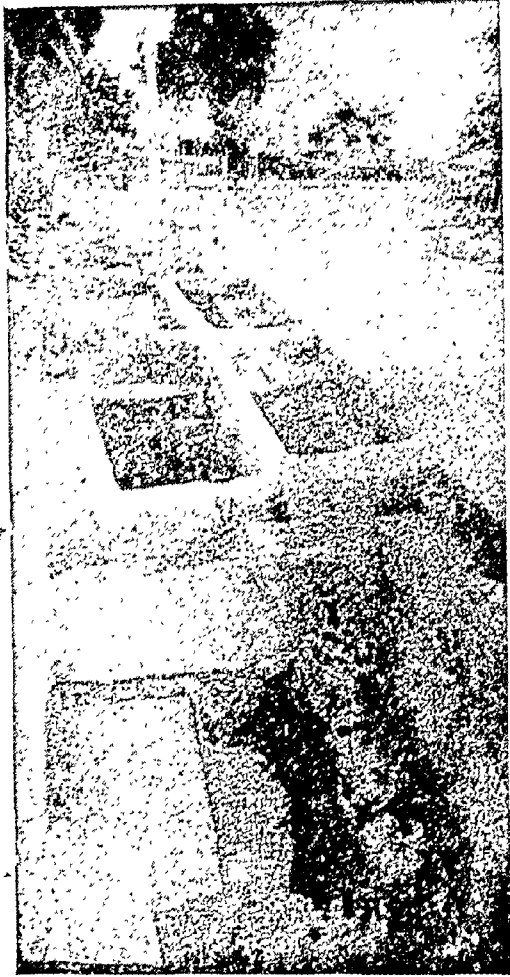
चित्र 20

टीला 3

मंदिर के समक्ष स्तम्भों के पंक्तिबद्ध शिलाधार,

पीछे हेलियोदोरस स्तम्भ (दक्षिण से उत्तर)

चित्र 21

टीला 3
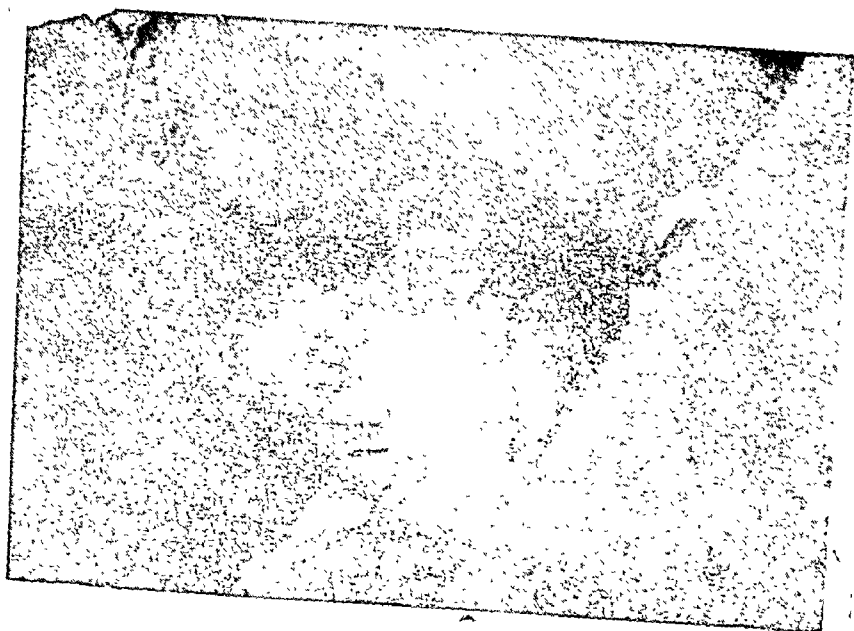
गड्ढा 8, शिलाधार और पच्चड़

चित्र 22

टीला 3

गड्ढा 2, परतें और शिलाधार
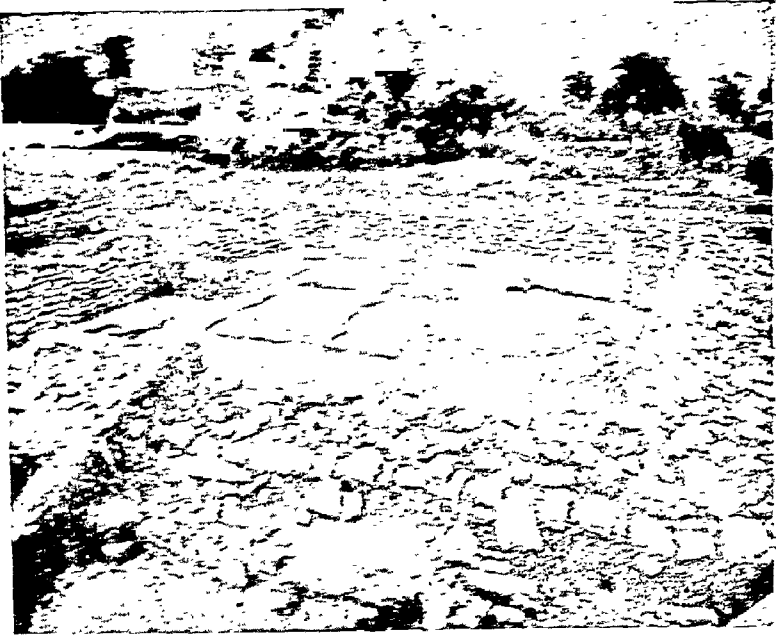
चित्र 23

टीला 3

विष्णु का वृत्ताकार मंदिर और बाहरी दीवारें (पूर्व दिशा से)

चित्र 24

टीला 3

विष्णु का वृत्ताकार मंदिर, बाहरी दीवारें और [illegible] (पश्चिम दिशा से)

चित्र 25
पुरापाषाण (ग्यारसपुर)
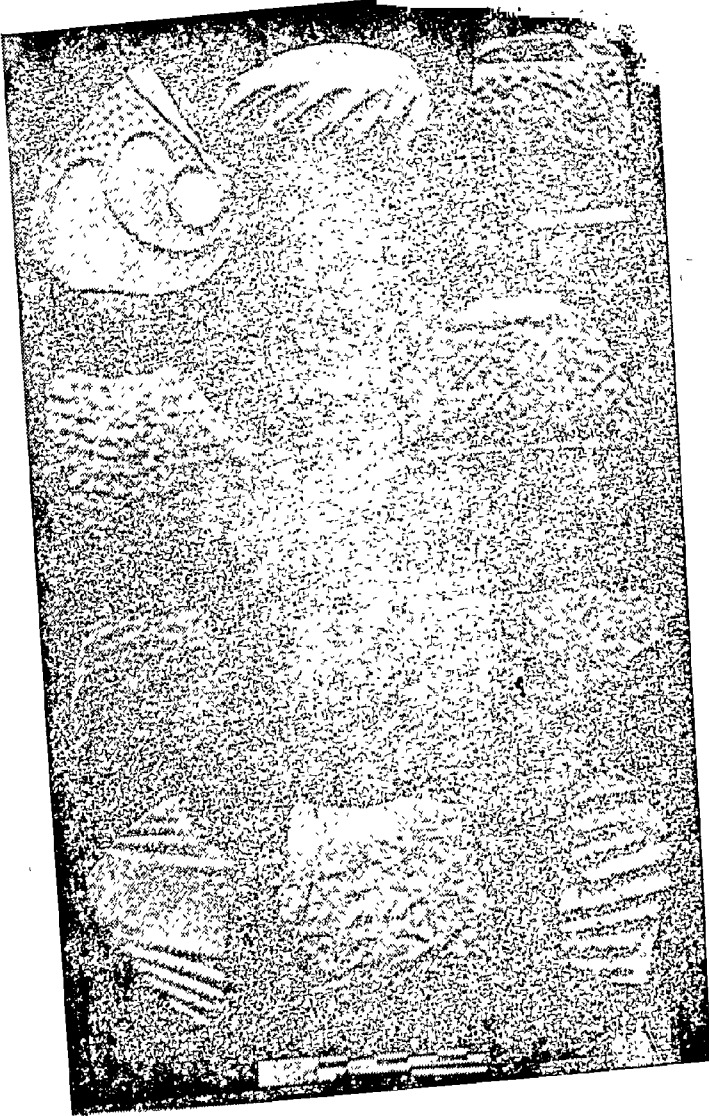
चित्र 26

अलंकृत ठीकरे
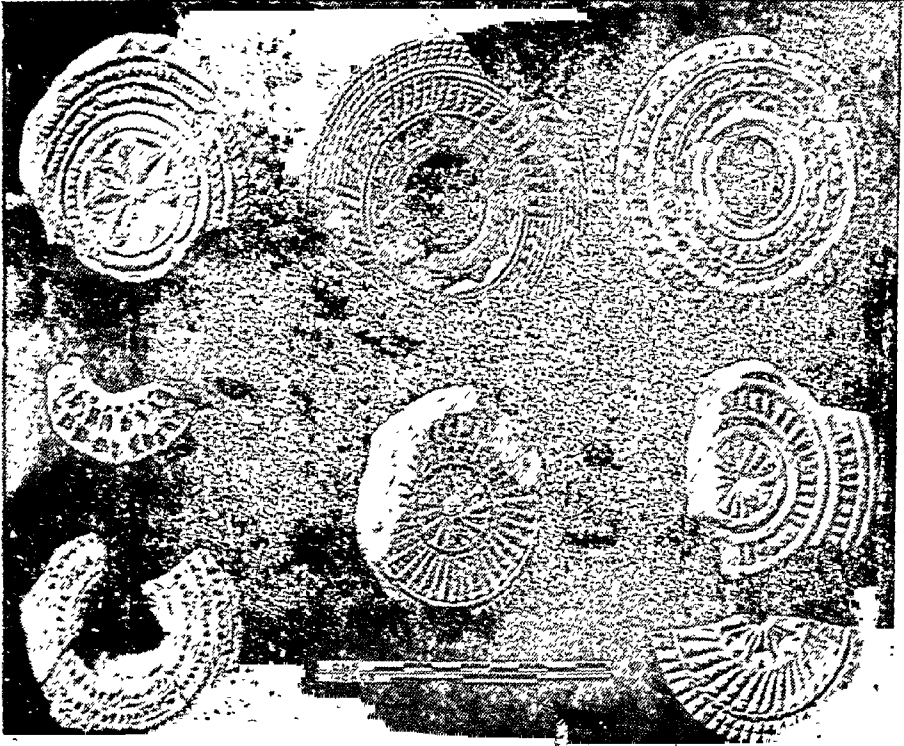
चित्र 27

पकी मिट्टी के ठप्पे
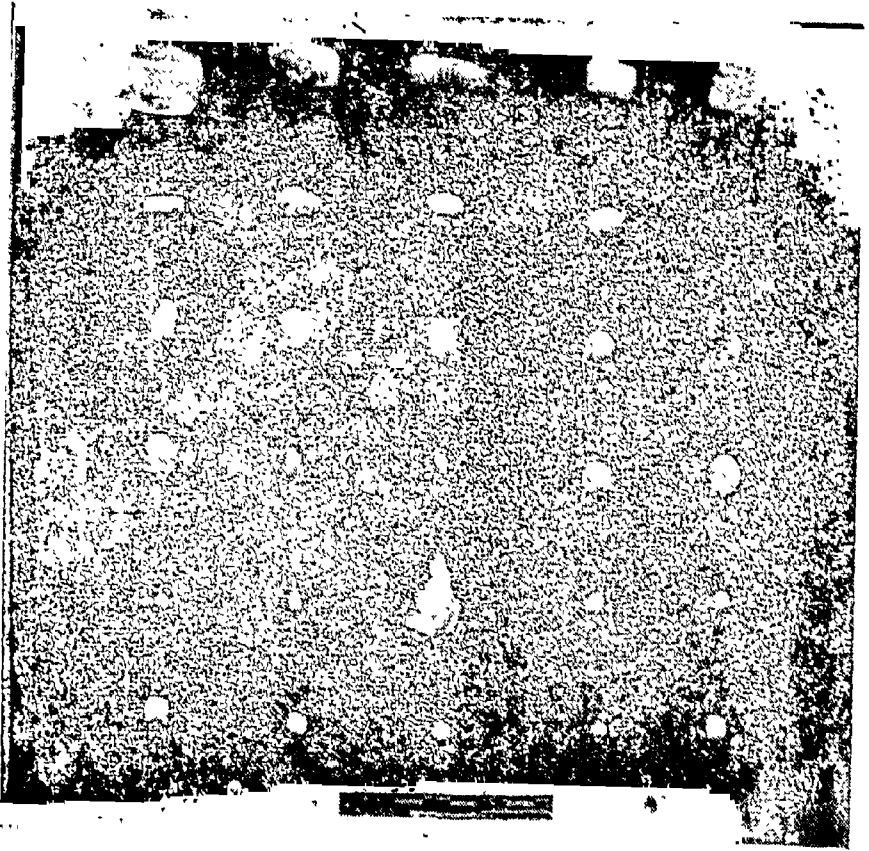
चित्र 28

मनके (उपरत्न)
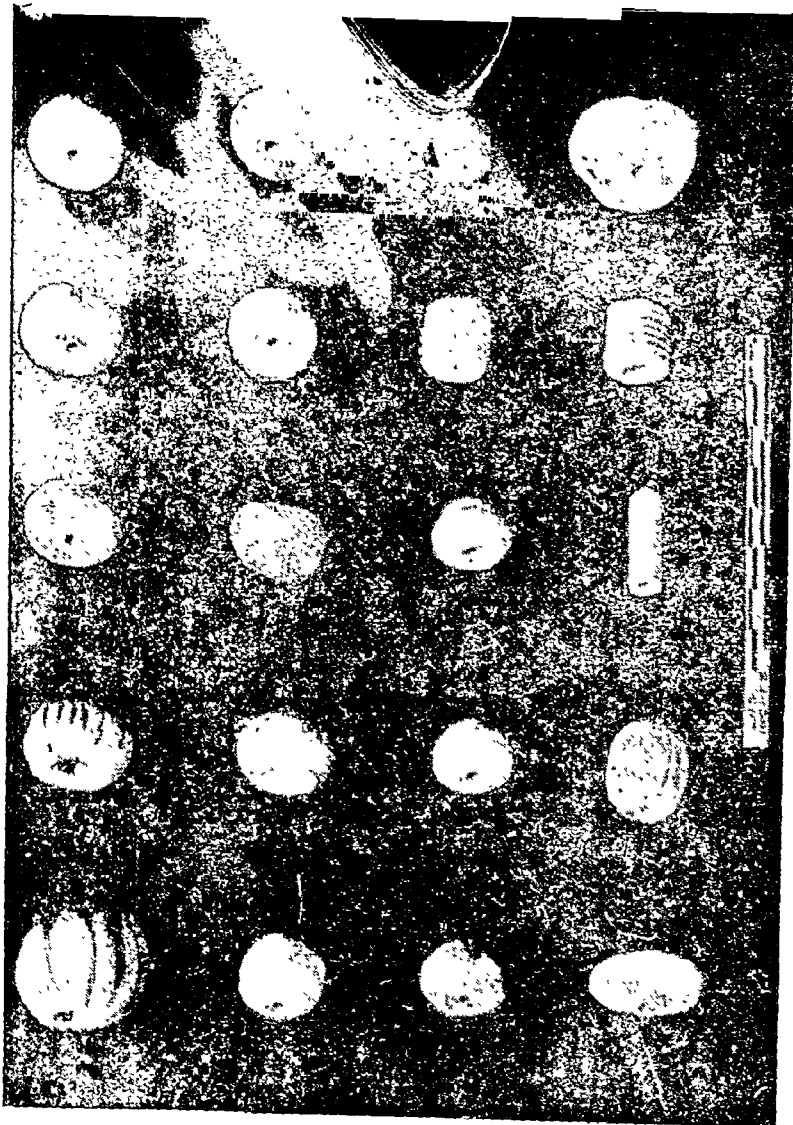
चित्र 29
मनके (मृण्मय)
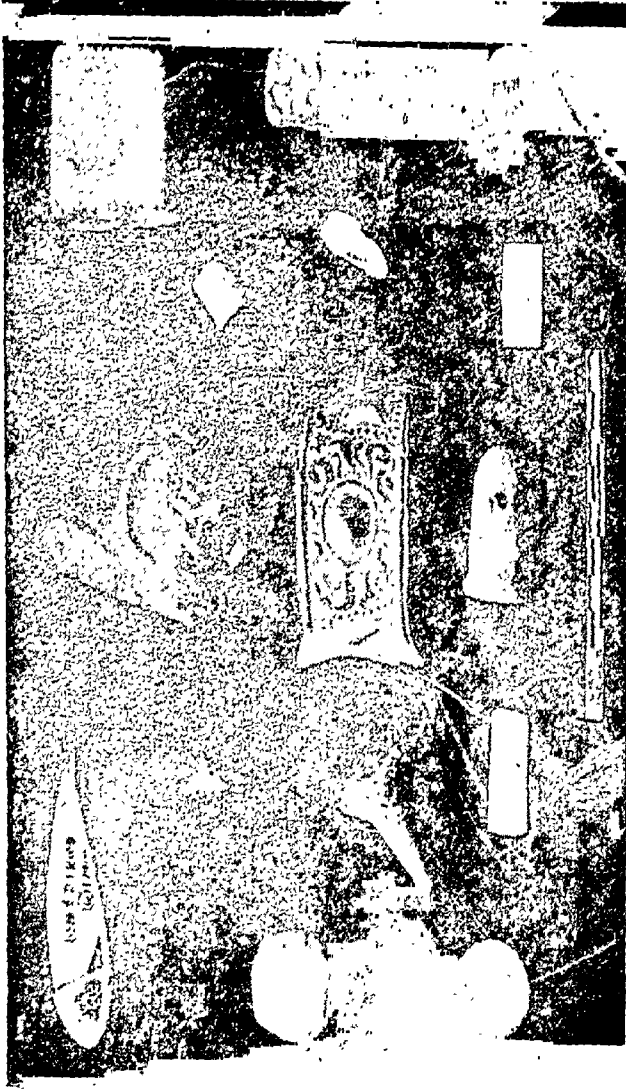
चित्र 30
वहुमुखी वस्तुयें
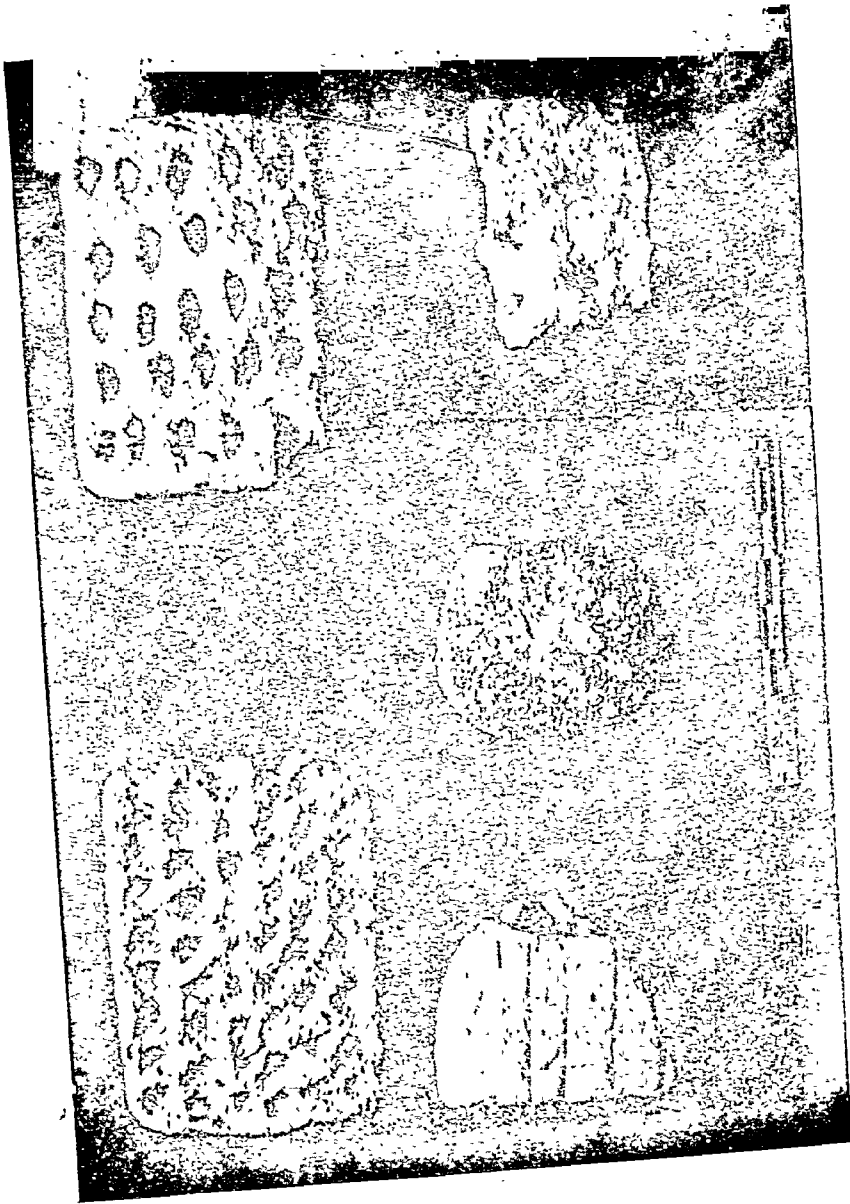
चित्र 31

झामक
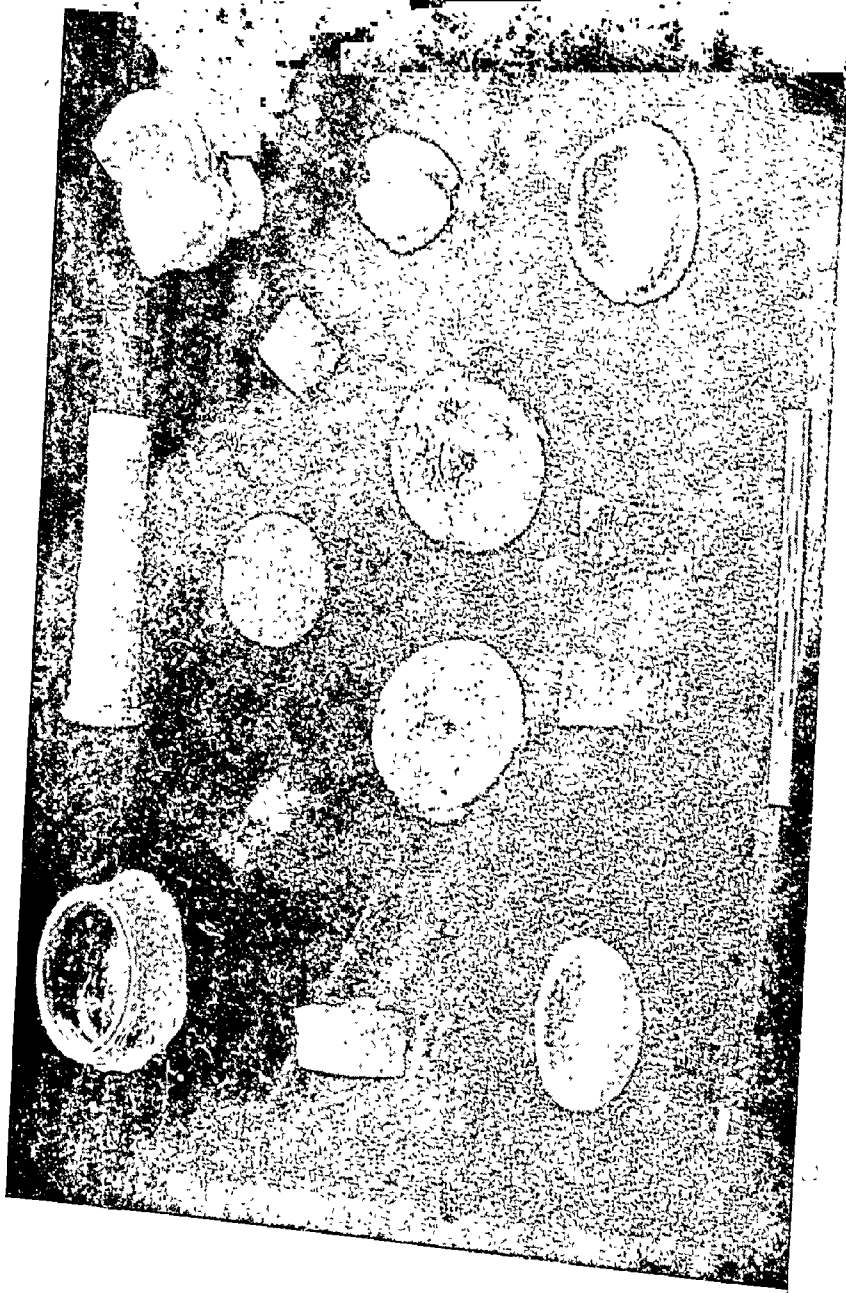
चित्र 32

शृंगार उपादान
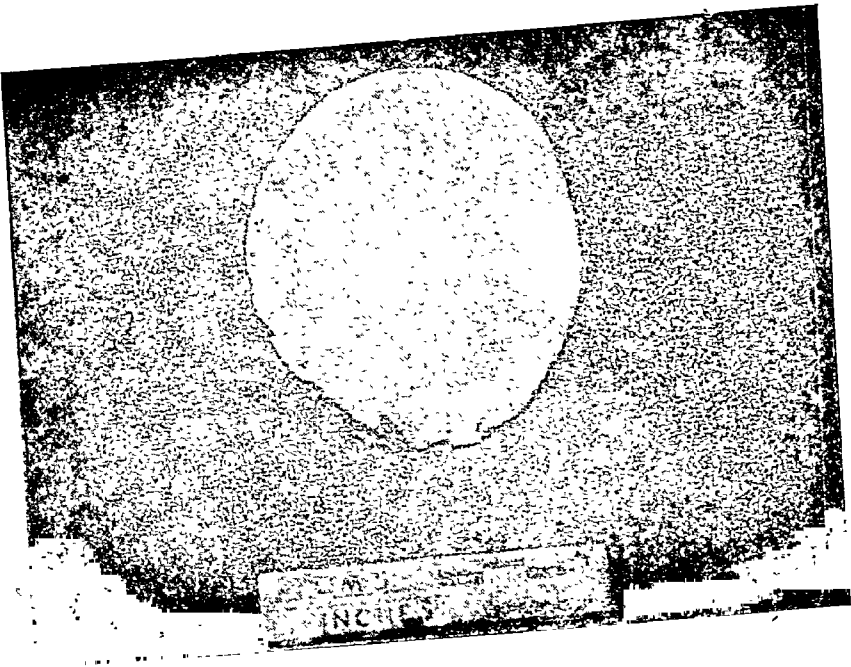
चित्र 33

मुहुर (उत्कीर्ण)
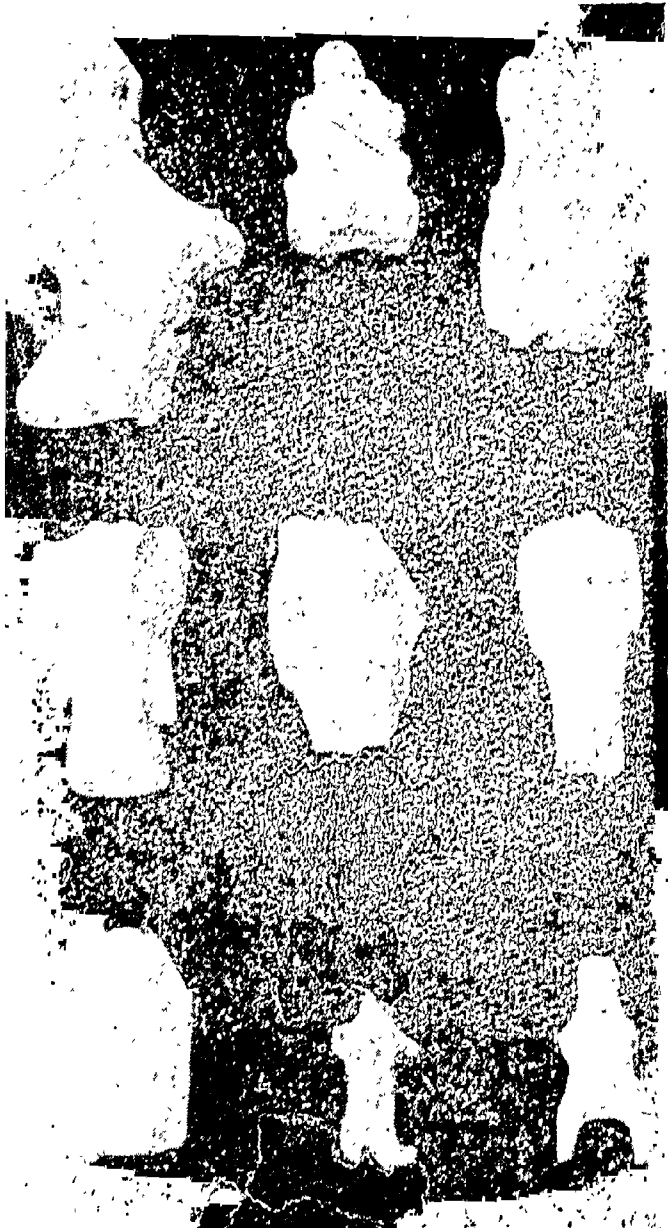
चित्र 34

विदिशा—मृण्मूर्तियां
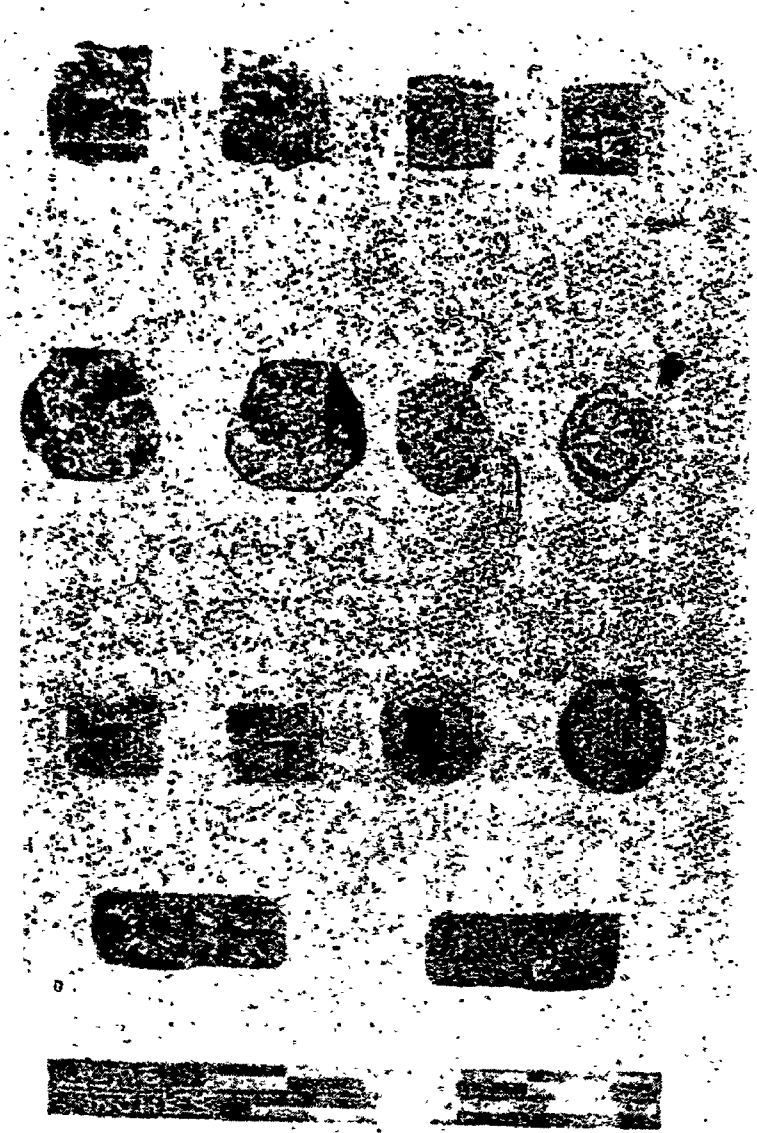
चित्र 35

आहत सिक्के (बार और कास्ट)
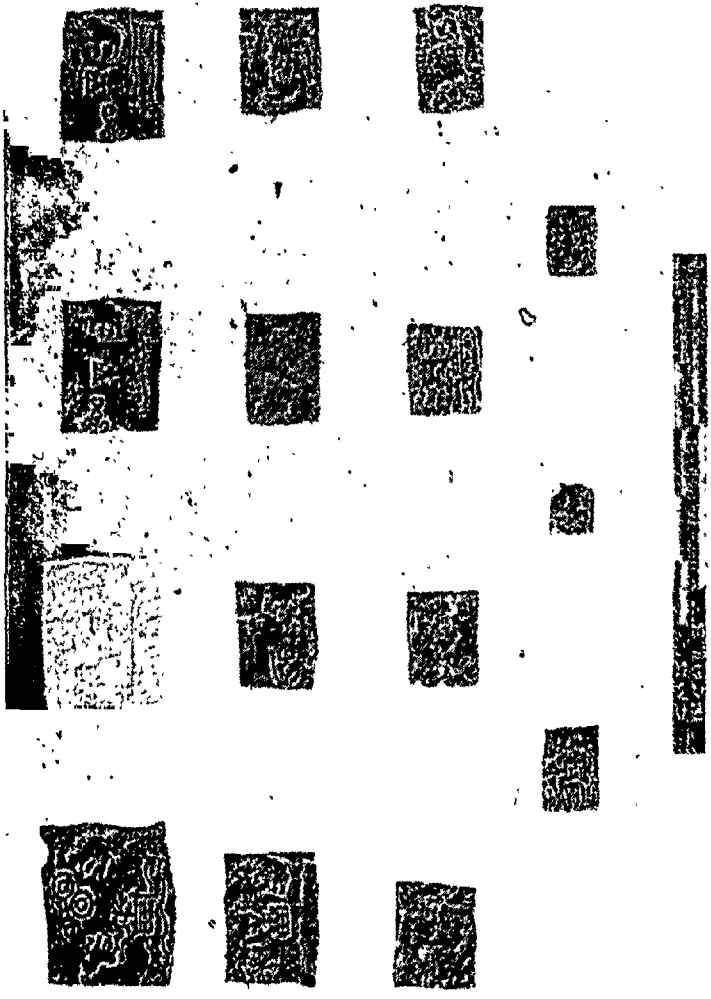
चित्र 36
आहत सिक्के
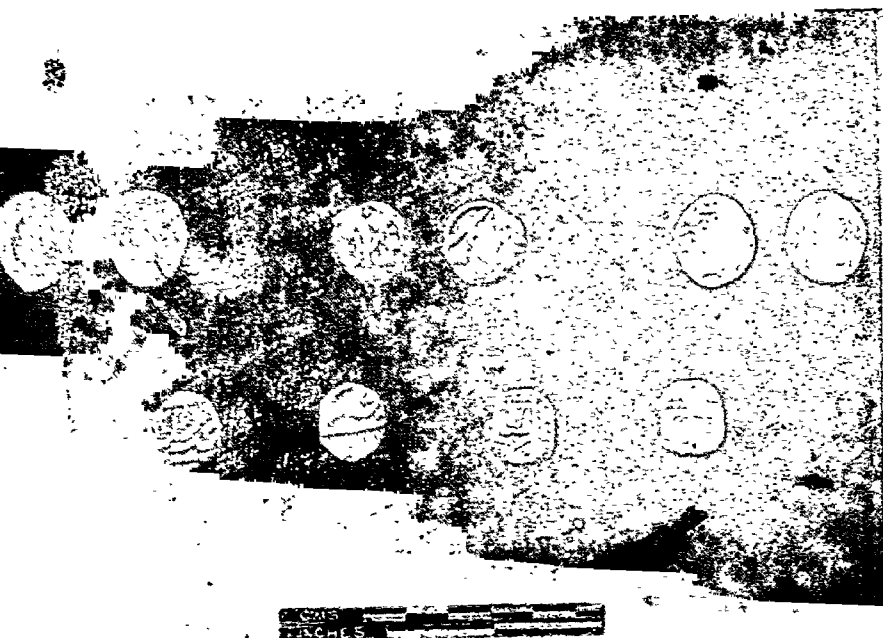
चित्र 37

सिक्के (पूर्व-मध्य और मध्यकालीन)

चित्र 38
विदिशा—लोहे की वस्तुयें
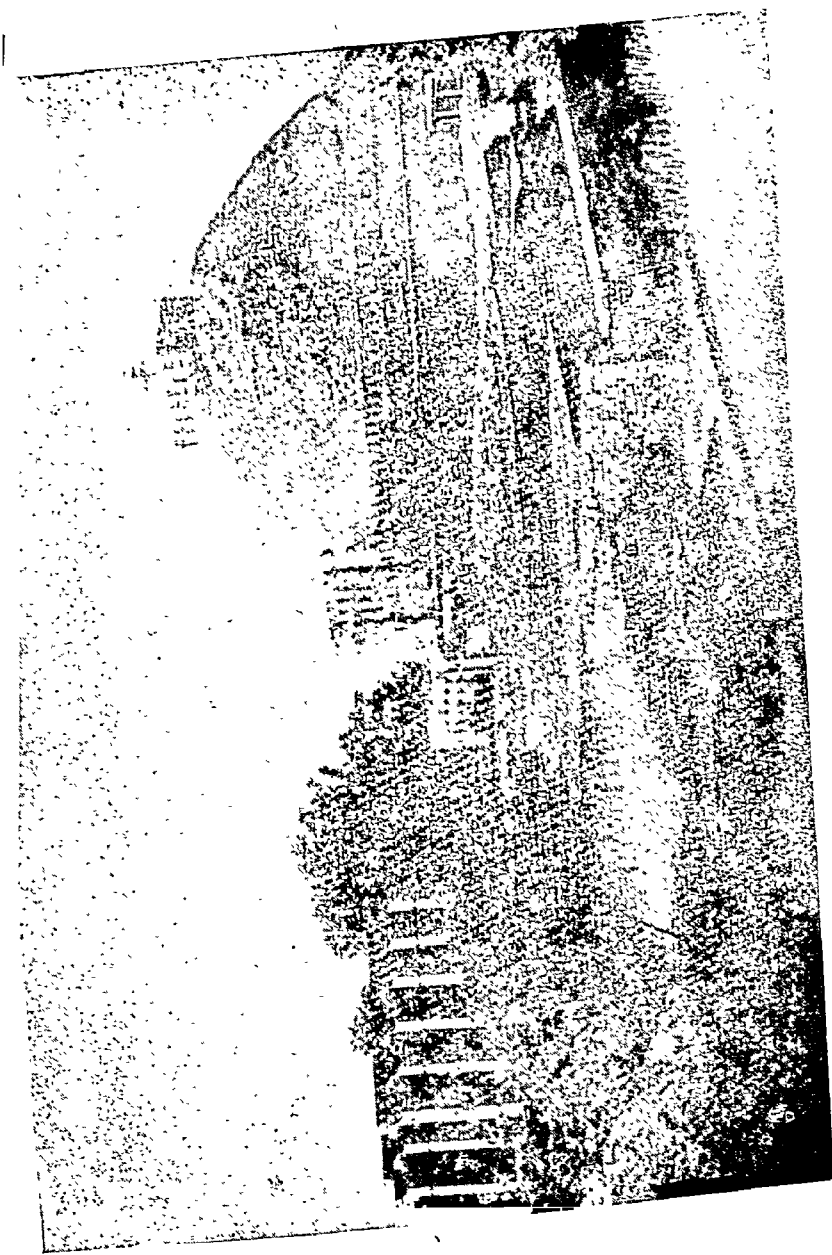
चित्र 39

साँची—सामान्य दृश्य (दक्षिण-पूर्व दिशा से), महास्तूप और मन्दिर 18 (बाईं ओर)
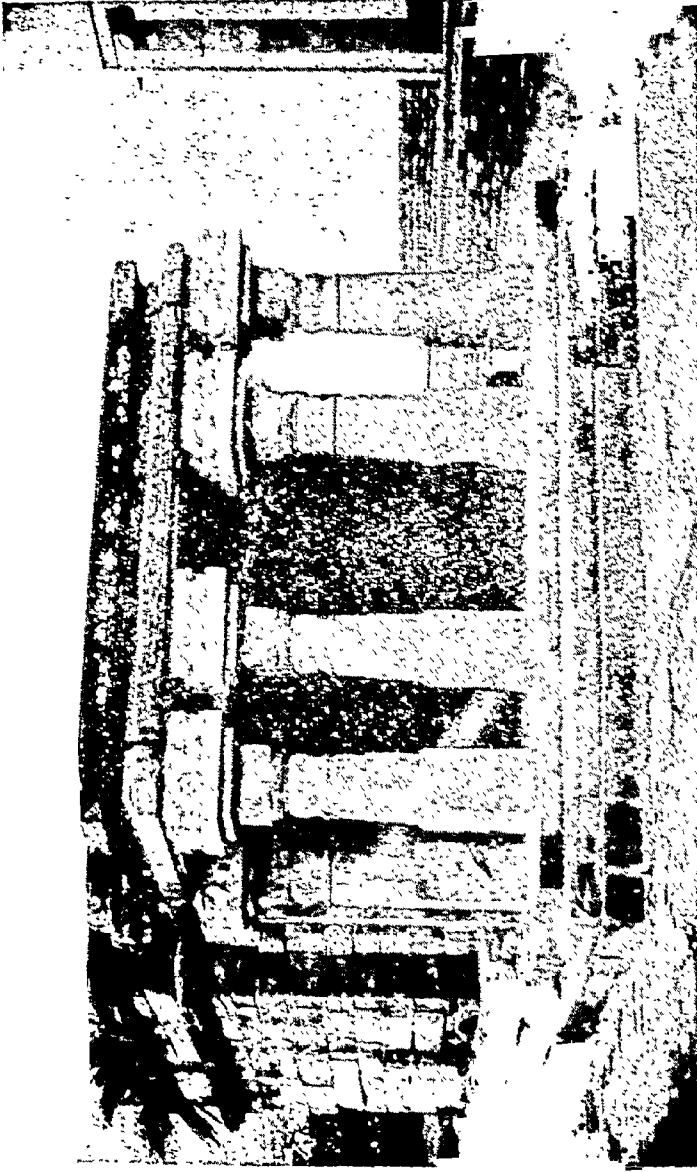
चित्र 40
साँची—मन्दिर 17 (गुप्तकालीन)
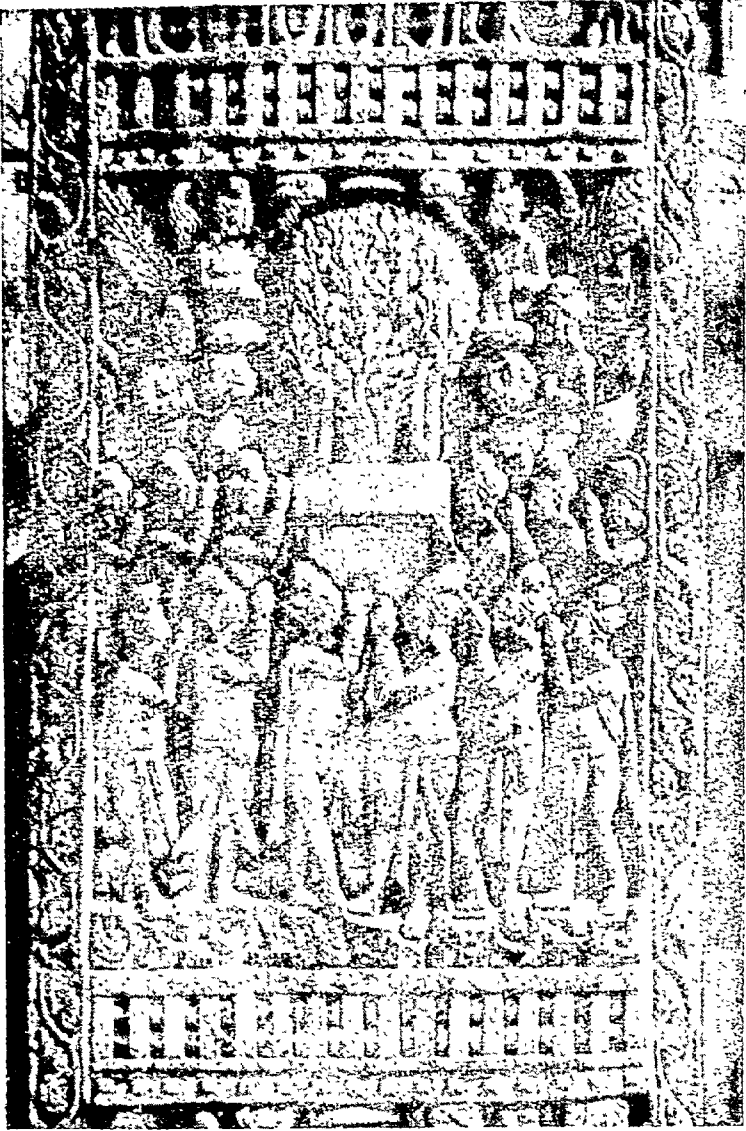
चित्र 41

सांची—महास्तूप बोधिवृक्ष-पूजा
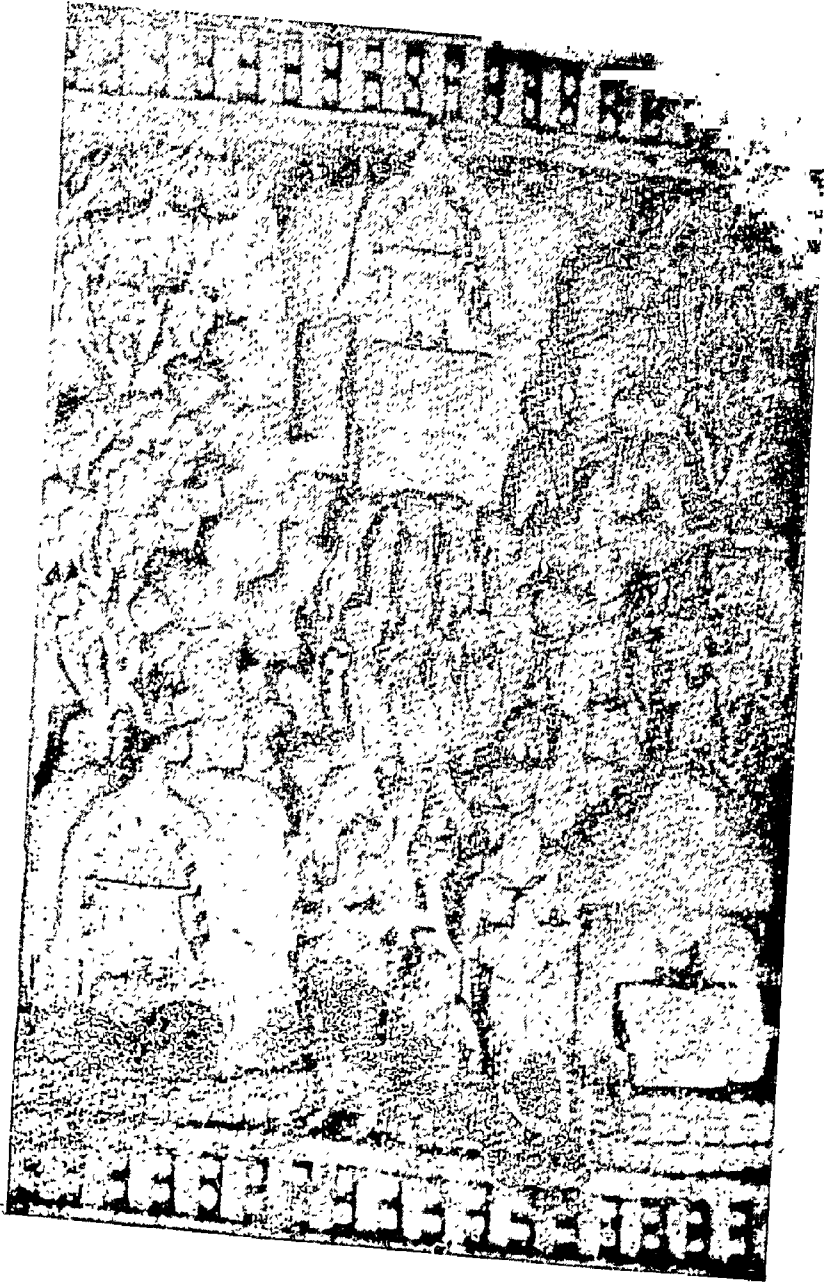
चित्र 42

साँची—महास्तूप प्रारम्भिक तीर्थ मन्दिर
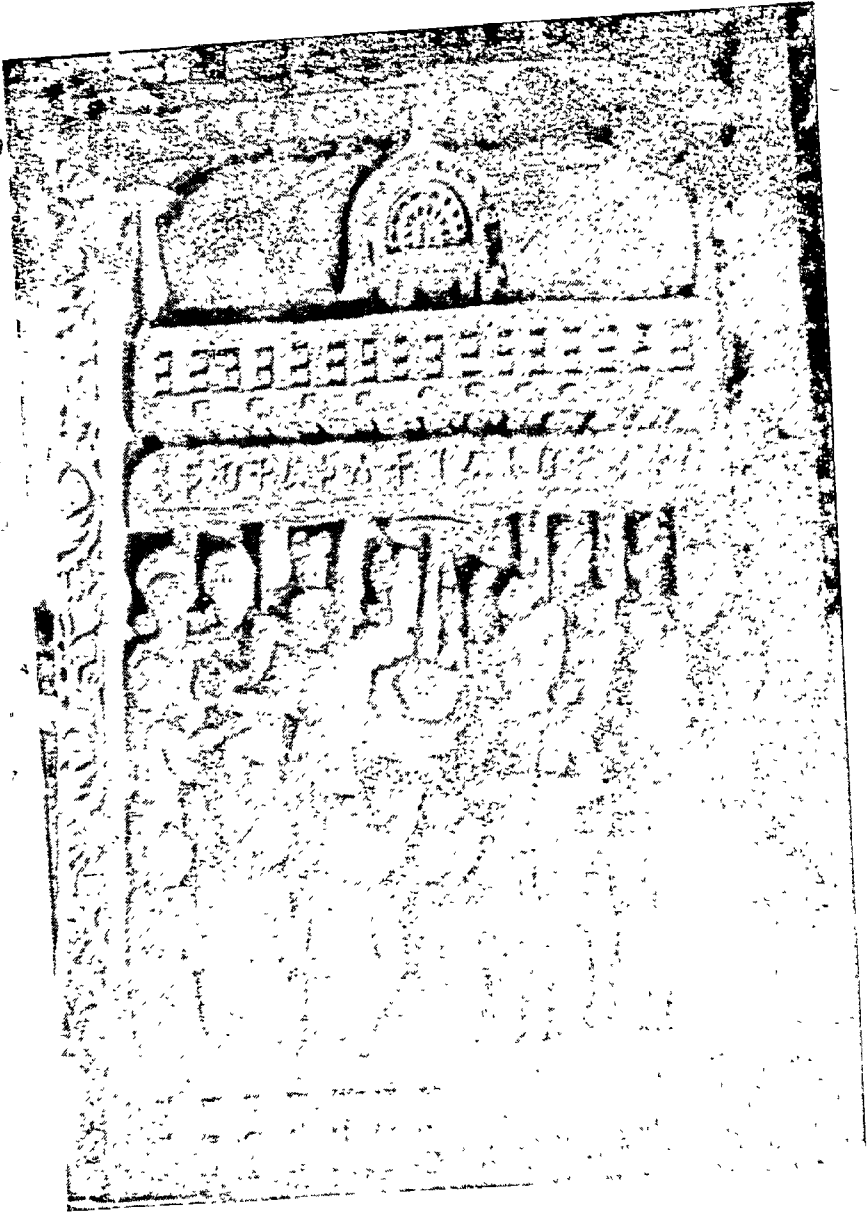
चित्र 43

साँची—महास्तूप गज पृष्ठाकार मन्दिर

विदिशा के हाथी दाँत के कारीगरो का लेख
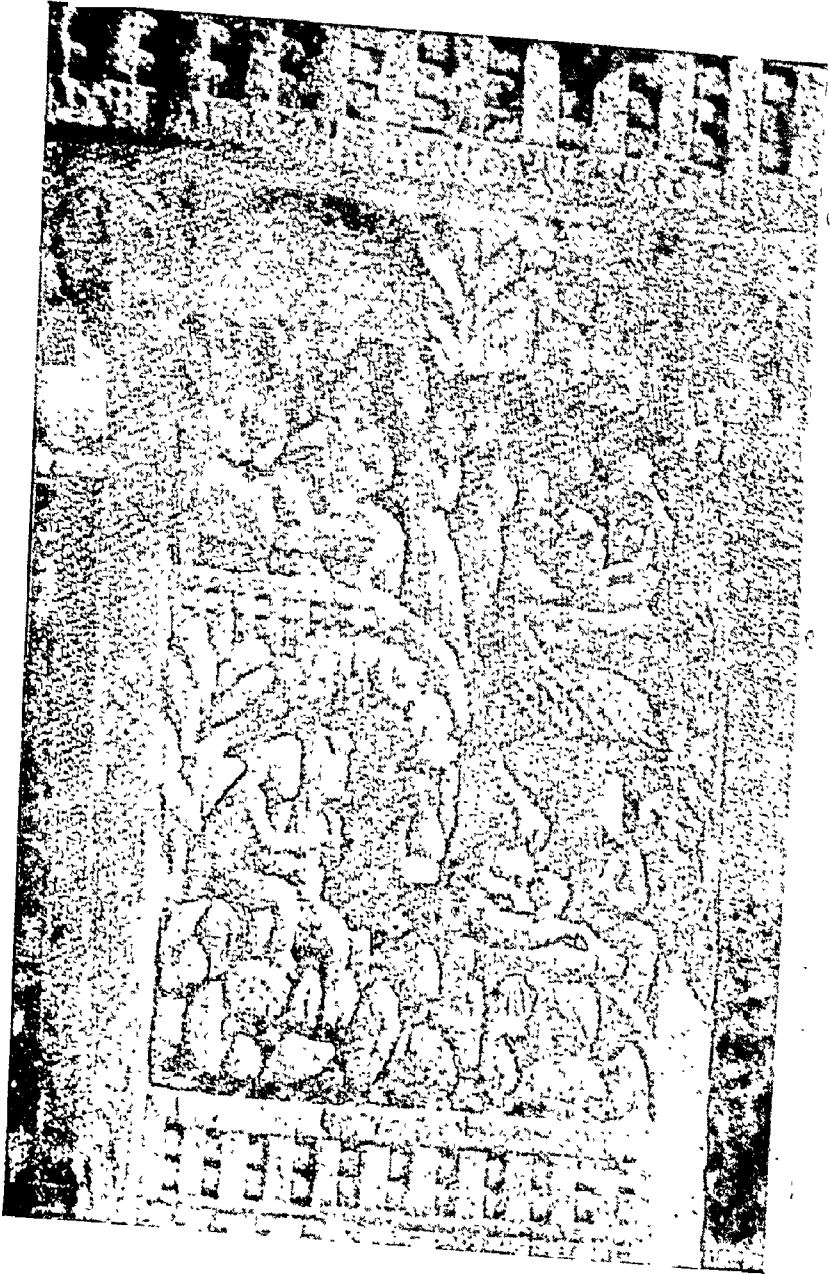
चित्र 44
सांची—महास्तूप मिथुन दम्पति

चित्र 45

साँची—महास्तूप-पूर्वीद्वारण पर शाल भन्जिका

चित्र 46

सोनारी स्तूप

चित्र 47

बिलपांक (रतलाम) के शिवमन्दिर में शुंगकालीन स्तम्भ (बायें)
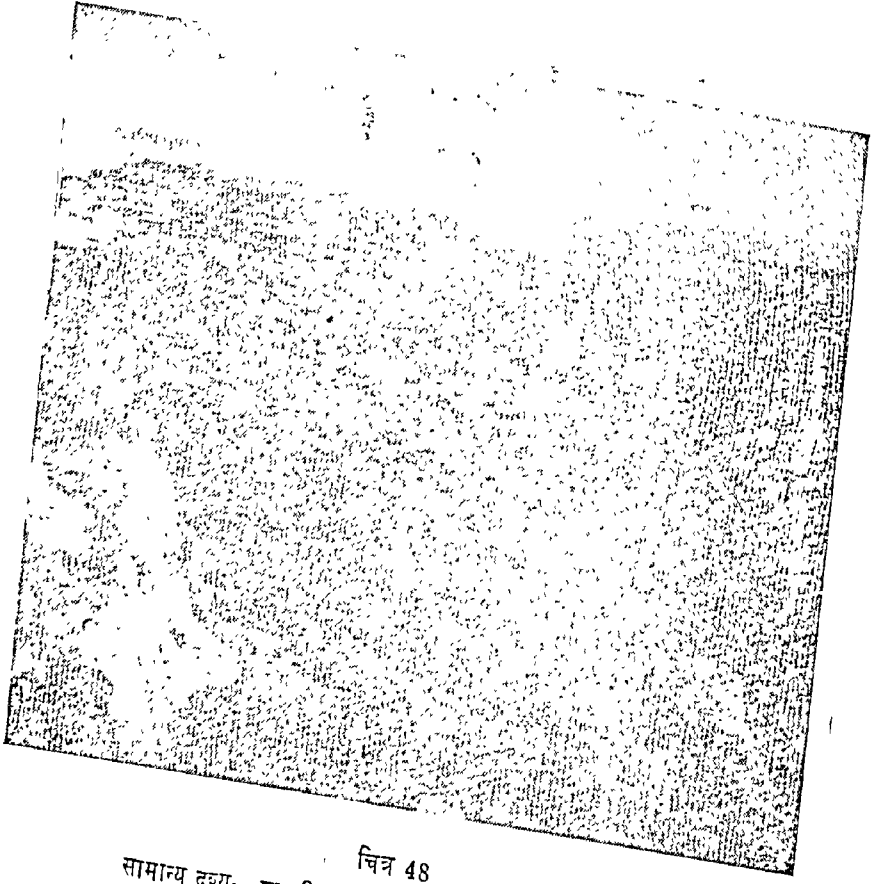
चित्र 48

सामान्य दृश्य—उदयगिरि पहाड़ी से उदयगिरि गुफा 1 (बायें) और सांची पहाड़ी (पृष्ठ भाग)
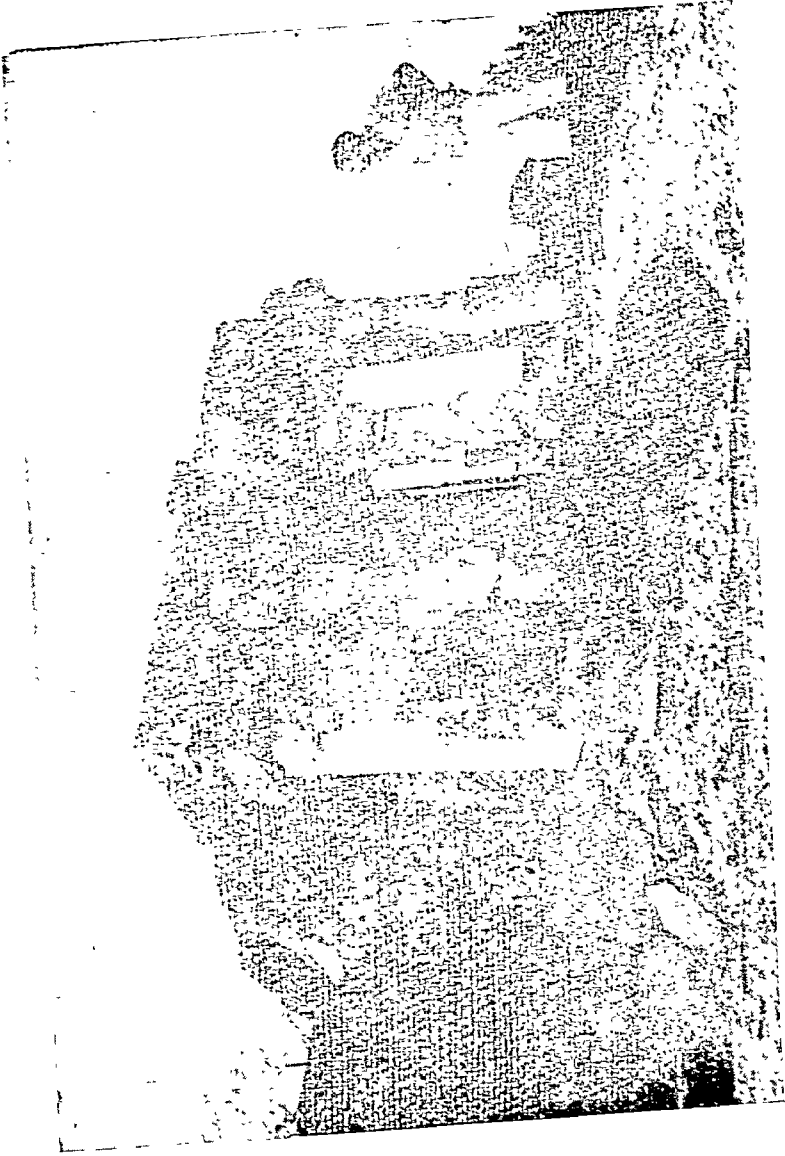
चित्र 49

उदयगिरि (विदिशा) गुफा 1, गुप्तकालीन मन्दिर
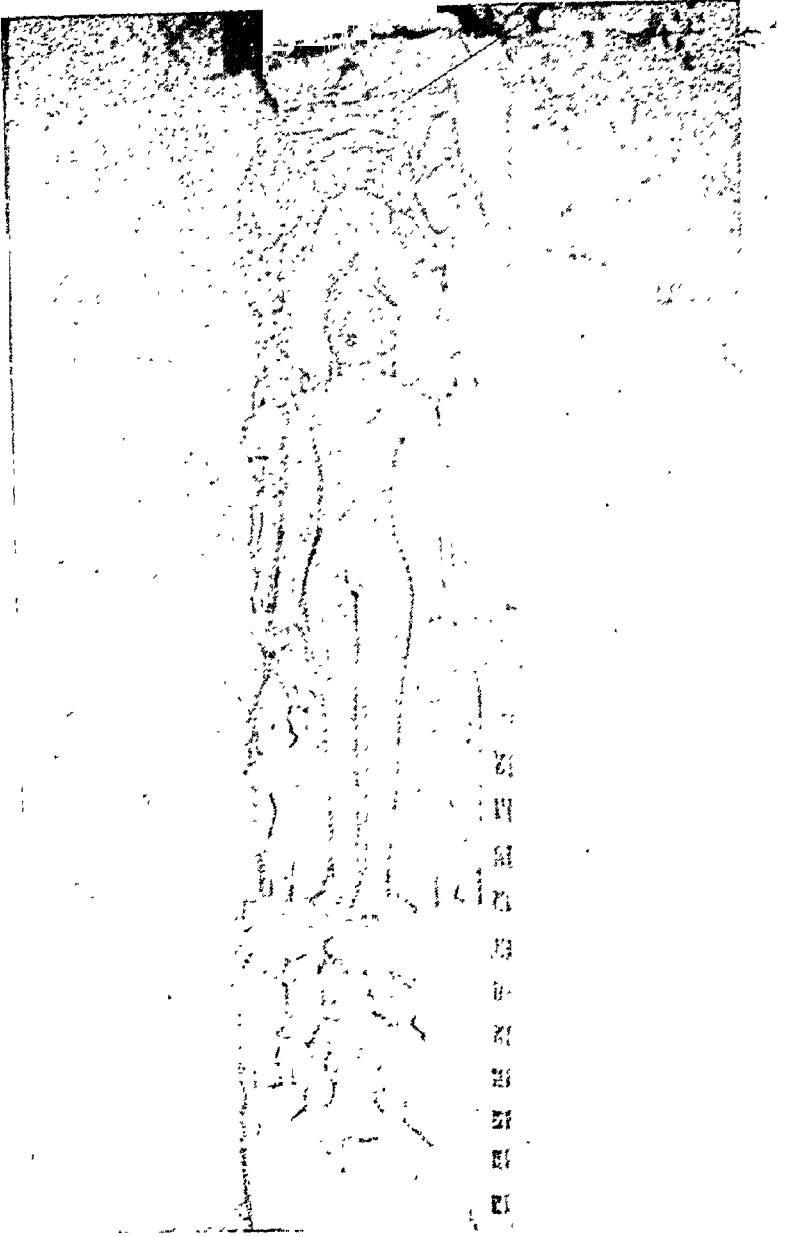
चित्र 50

उदयगिरि (विदिशा)

गुफा एक में प्रतिष्ठापित जैन प्रतिमा (मौलिक मूर्ति के स्थान पर)

चित्र 51

उदयगिरि (विदिशा)

गुफा क्र० 5—वाराह रूप में विष्णु

चित्र 52
उदयगिरि (विदिशा)
गुफा क्र० 5—चन्द्रगुप्त (?) की प्रतिमा का पृष्ठ भाग

चित्र 53

उदयगिरि (विदिशा)

गुफा क्र० 6—गणेश

चित्र 54

उदयगिरि गुफा 6 की वाह्य-भित्ती, गुप्तकालीन लेख (ऊपर)

बाँयें से दाँयें—द्वारपाल, विष्णु, महिषासुर मर्दिनी

चित्र 55

उदयगिरि (विदिशा)

गुफा क्र० 19—सामान्य दृश्य, मण्डप-स्तम्भ व गुफा द्वार

चित्र 56

उदयगिरि (विदिशा)

गुफा क्र० 19—गुफा द्वार

चित्र 57

उदयगिरि (विदिशा)

गुफा 20 में प्रतिष्ठापित जैन प्रतिमा (पार्श्वनाथ)

चित्र 58

उदयगिरि (विदिशा)

गुहा सं० 6 में खड़ी हुई सिंहवाहिनी की खण्डित, किन्तु मनोज्ञ प्रतिमा (उत्तर गुप्तकाल)

चित्र 59

उदयगिरि (विदिशा) गुफा क्र० 20 के निकटवर्ती भाग में चित्रित पशु (बायें) और मनुष्याकृति (दायें)—प्रागैतिहासिक

चित्र 60

उदयगिरि (विदिशा)

गुफा क्र० 20 के निकटवर्ती भाग में

चित्र 61
उदयगिरि के पीछे बेस नदी

चित्र 64

ग्यारसपुर (विदिशा), अप्सरा (ग्वालियर संग्रहालय में)
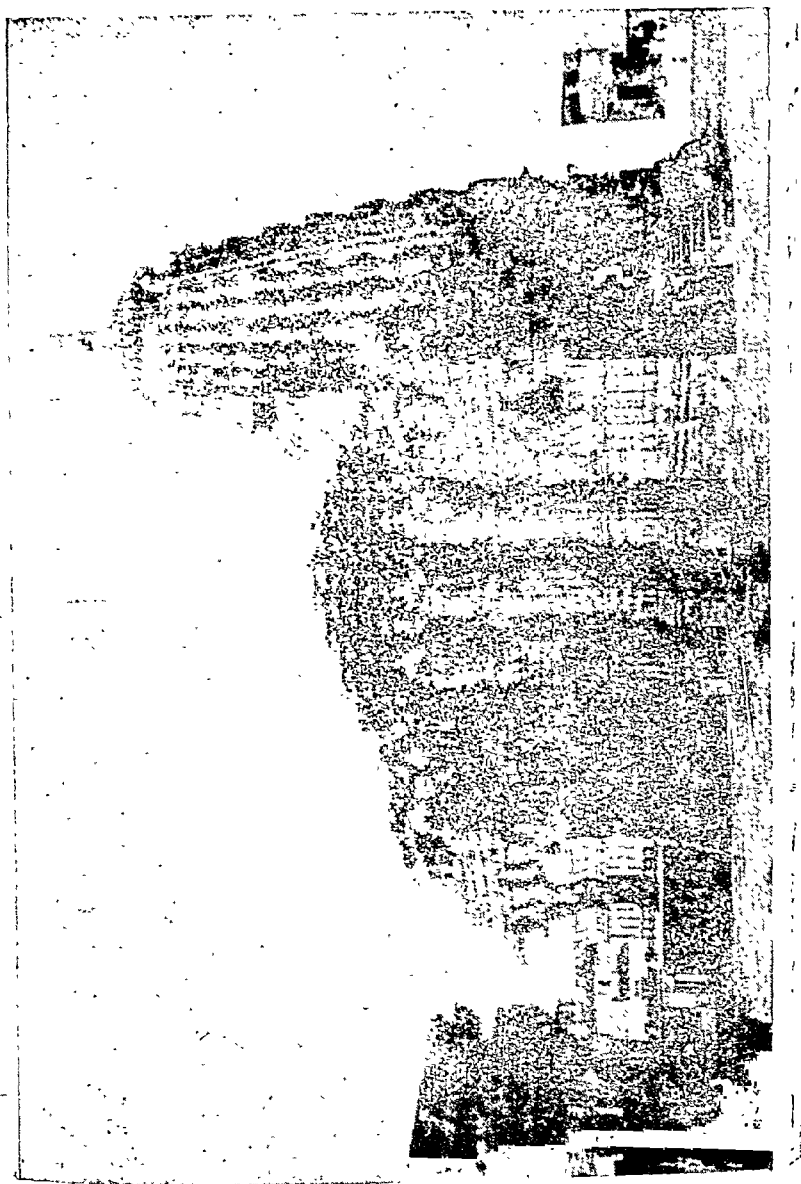
चित्र 65

उदयपुर (विदिशा) उदयेश्वर मन्दिर
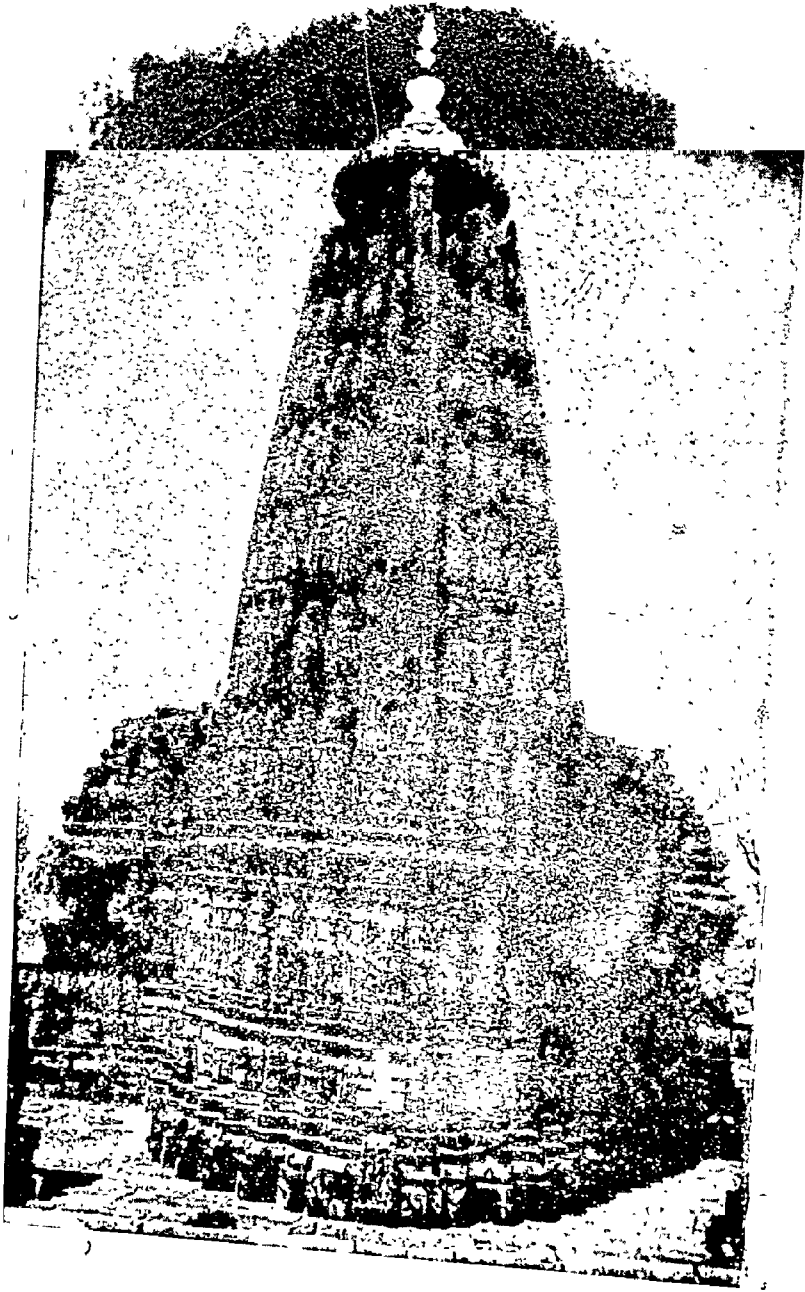
चित्र 66

उदयपुर (विदिशा) उदयेश्वर मन्दिर (पश्चिम दिशा से)
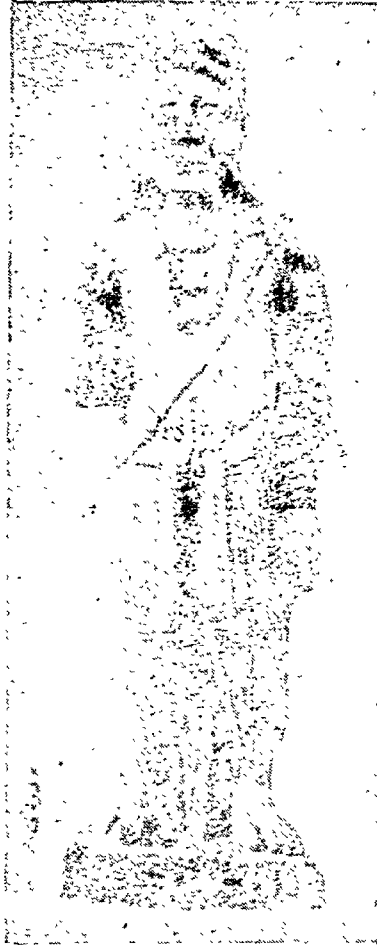
चित्र 67

बेसनगर-यक्ष (विदिशा संग्रहालय)
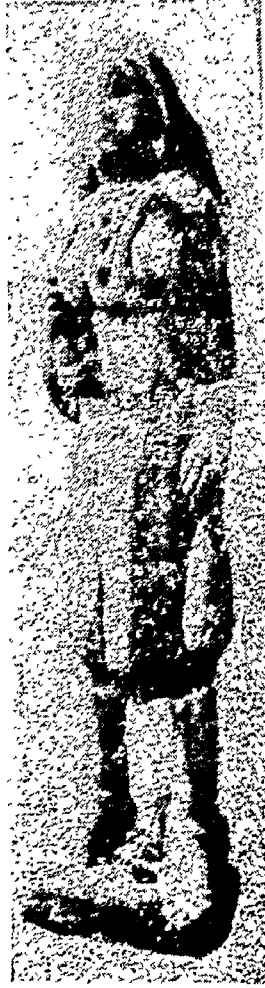
चित्र 68

बेसनगर यक्षी (विदिशा संग्रहालय)

चित्र 69

वेसनगर यक्ष (उत्खनन से)

चित्र 70

बेसनगर (विदिशा) यक्षिणी (ग्वालियर संग्रहालय)
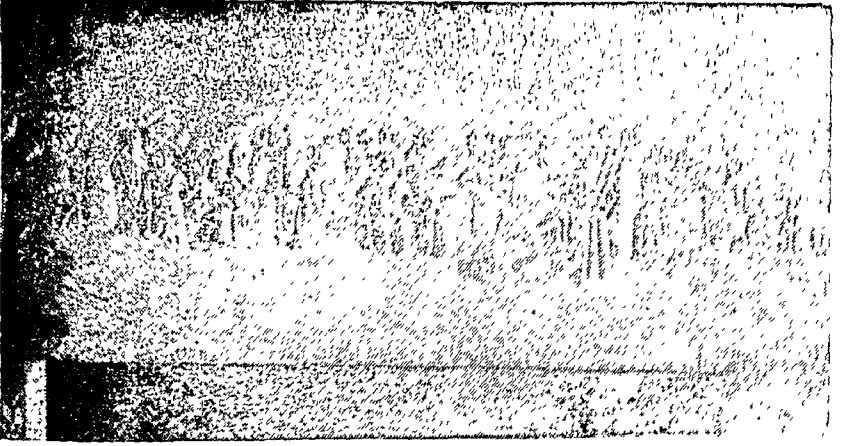
चित्र 71

वेसनगर (विदिशा), शुंगकालीन वेदिका—अंग

पूजा के लिये जाते हुये उपासक (ग्वालियर संग्रहालय)

चित्र 72

विष्णु—गुप्तकालीन (पुजारी के पास)

चित्र 73

विष्णु—सातवीं सदी ई० (विदिशा संग्रहालय)

चित्र 74

विष्णु—10–11वीं सदी ई० (विदिशा संग्रहालय)

चित्र 75

दीपवाहिनी—दसवीं शताब्दी (विदिशा संग्रहालय)

चित्र 76

टीला 2 सामान्य दृश्य—सेक्शन उत्खनन स्टेप प्रणाली से (उत्तर-पश्चिम से)